- 64216 -

आचार्य नन्ददूलारे वाजपेयी का समीक्षा वाङ्मय
CRITICAL WORKS OF ACHARYA NANDADULARE VAJPAI

Thesis submitted to
Cochin University of Science and Technology
For the degree of

Doctor of Philosophy

By

KRISHNAKUMARI B.

Supervising Teacher

Dr. N. RAMAN NAIR M. A. (Hindi, English, Malayalam) Ph.D.
Prof. & Head of the Department of Hindi

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN - 682 022

1989

CERTIFICATE

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by KRISHNA KUMARI, B. under my supervision for PH.D. (DOCTOR OF PHILOSOPHY) and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Dr. N. RAMAN NAIR
(Supervising Teacher)

Department of Hindi,
Cochin University of
Science & Technology
Cochin - 682022

Date : 24th May 1989

प्राक्कथन

प्राक्कथन

हिन्दी समीक्षा में एक नूतन आयाम का आयोजन करनेवाले आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी शुक्लोत्तर युग के एक प्रमुख विवेचक एवं चिंतक हैं । उन्होंने समीक्षा को कोरी उद्‌भावना की चीज़ अथवा एकांत उमंग का कार्य न मानकर साहित्यिक सौन्दर्य का अनिवार्य साधन मान लिया है । साहित्य में राष्ट्रीय जीवन का सांस्कृतिक बिंब खोजने का प्रयास आपके विवेचन में यत्र-तत्र दर्शित है । सामाजिक जीवन में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की संभावनाओं को उद्‌घाटित करने के प्रयास में वाजपेयी जी की प्रतिभा संलग्न हुई थी । वस्तुत: शुक्ल-संस्थान के आलोचकों में उनकी गणना की जा सकती है जिन्होंने शुक्लजी की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी उनसे टकराकर, उनकी त्रुटियों का उल्लेख करते हुए, अपने लिए नए मार्ग ढूँढकर, नूतन पद्धति का आविष्कार कर हिन्दी आलोचना को अधिक सुगमता से आगे बढ़ाया । शुक्लजी की सीमाओं का उद्‌घाटन करते हुए वाजपेयी जी ने स्थापित किया कि उनका दृष्टिकोण नयी छायावादी साहित्यिक संवेदना के उपयुक्त नहीं है । उनकी सभी रचनाओं में आधुनिकता एवं नवनिर्माण की आशा भली-भाँति प्रकट हुई है । सबके सब उनकी तेजस्विता,

प्रखरता एवं पैनी दृष्टि के परिचायक हैं जो उनकी समीक्षा-सरणि को गरिमामय बना देते हैं । वाजपेयी जी की इस सृजनात्मक प्रतिभा को प्रकाश में लाना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है ।

आचार्य वाजपेयी के व्यक्तित्व एवं साहित्य के सर्वांगीण समीक्षण का प्रयास बहुत कम ही हुआ है । कुछ रचनाएँ तो प्रकाशित हुई हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं, कुमारी प्रतिभा विल्यम्स का "आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : एक अध्ययन", डॉ॰ रामाधारशर्मा द्वारा संपादित "आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य" तथा प्रेमशंकर की रचना "नन्ददुलारे वाजपेयी" । इन रचनाओं का ज़रूर महत्व है, लेकिन वाजपेयी जी की प्रत्येक रचना की तह में पैठकर उसके अंतःसूत्र को आत्मसात् करने एवं उसे उजागर करने की ओर इनमें अधिक ध्यान नहीं दिया गया है । प्रस्तुत प्रबन्ध इसी अभाव की पूर्ति का एक विनम्र प्रयास है ।

छः अध्यायों में यह विभक्त है ।

पहले अध्याय में वाजपेयी जी की कृतियों का परिचय दिया गया है । उनकी रचनाओं के अनुशीलन और आकलन से अनुस्यूत मान्यताएँ संक्षिप्त रूप से इस अध्याय में प्रस्तुत की गयी हैं ।

दूसरा अध्याय साहित्य के विभिन्न तत्वों के विवेचन से संबद्ध है । विभिन्न साहित्यिक सिद्धांतों के संबन्ध में वाजपेयी जी की निजी मान्यताएँ हैं । अनुभूति, कल्पना, भाषा, शैली, अलंकार, छन्द, रस, राष्ट्रीयता आदि के विषय में वाजपेयी जी की स्थापनाएँ उद्घाटित करने के साथ ही उन तत्वों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं का भी प्रतिपादन इसमें हुआ है ।

साहित्य-तत्वों की भाँति साहित्य-रूपों की भी चर्चा वाजपेयी जी ने की है । तीसरे अध्याय में इसी पर विचार-विमर्श हुए हैं । काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि साहित्यिक विधाओं के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक स्वरूप उनकी आलोचनाओं में उपलब्ध है । इस अध्याय में उसी का मूल्यांकन हुआ है ।

छायावाद, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद प्रयोगवाद, नयी कविता, अनुकृतिवाद, अभिव्यंजनावाद आदि के प्रति वाजपेयी जी का जो दृष्टिकोण है वही चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य है ।

कलाकृति में नवीनता, मौलिकता एवं आकर्षण की सृष्टि कर दूसरों को प्रभावित करने के लिए विशेष प्रतिभा अपेक्षित है । प्रतिभा द्वारा नवीन रूपों की उद्भावना, उनका संशोधन और चयन करके उनकी व्यवस्था एवं विवेचना करने की रीति ही शैली है । रचना की उत्कृष्टता भाव की भाँति भाषा की भी गरिमा पर आधृत है । पाँचवें अध्याय में वाजपेयी जी की भाषा-शैली पर प्रकाश डाला गया है । व्यक्तित्व और शैली के घनिष्ठ संबन्ध के कारण वाजपेयी जी के व्यक्तित्व के विविध पहलुओं को उजागर करने का प्रयास भी इस अध्याय में हुआ है ।

छठा और अंतिम अध्याय है, "हिन्दी समीक्षा के विकास में आचार्य वाजपेयी का योगदान" । वाजपेयी जी साहित्यिक रसज्ञता के कुशल पारखी थे । तीन दशकों तक वे हिन्दी के समर्थ लेखक एवं संरक्षक रहे । संयम, निष्ठा एवं विश्वास उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग रहे । प्रतिकूल को भी अनुकूल बनाकर उनसे नई स्फूर्ति उमंग एवं चेतना ग्रहण कर, नवनिर्माण की क्षमता उन्होंने प्रकट की । आजीवन वे साहित्य-साधक, मानवता के पोषक तथा भाषा प्रेमियों के अनन्य सेवक रहे । छायावाद को राष्ट्रीय

स्वतंत्रता आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने में उनका महान योग रहा है । इसी आधार पर वाजपेयी जी की आलोचनात्मक उपलब्धियों का मूल्यांकन इस अध्याय में हुआ है ।

किसी कृति की आलोचना ही जब कठिन है तोयह कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचना की आलोचना कभी सरल कार्य नहीं है । आलोचक जज या अंतिम निर्णायक नहीं है । आत्मचेतना याने अनुभूति की बौद्धिक व्याख्या रसमय शैली में करने को ही वह बाध्य है जिसके लिए प्रतिभा, अभ्यास और अध्यवसाय अपेक्षित है । अपनी क्षमताओं एवं परिमितियों से अवगत रहते हुए भी, इस कार्य में संलग्न होने का साहस करना शायद मेरी महत्वाकांक्षा अथवा लोभ हो सकता है । जो भी हो, अपने प्रयत्न को फलवत् बनाने के लिए, उपलब्ध संपूर्ण सामग्री का उपयोग किया गया है । प्राप्त सामग्री से लाभान्वित होने के साथ ही नूतन तथ्यों के अन्वेषण और निरूपण द्वारा विषय को अभिनव परिवेश प्रदान करने की भरसक कोशिश की गई है ।

वाजपेयी जी के प्रिय शिष्य तथा हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अनन्य उपासक डॉ॰ एन॰ई॰ विश्वनाथ अय्यर जी ही प्रस्तुत विवेचनात्मक अध्ययन का प्रमुख प्रेरणास्रोत है । किसी शोध-छात्र द्वारा अपने संपूज्य गुरुवर के विषय में प्रबन्ध प्रस्तुत कराने का आग्रह डॉ॰ अय्यर जी में वर्षों से रहा था और उन्हीं के परामर्श से इस विषय पर मेरी रुचि हो गयी थी ।

कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर डॉ॰ एन्॰ रामन नायर जी के कुशल निर्देशन से यह प्रबन्ध तैयार किया गया है । परम आदरणीय, प्राचार्य डॉ॰ रामन्नायर जी के विद्वत्तापूर्ण उपदेश एवं सुझाव इसकी सफल परिसमाप्ति में मेरे पथप्रदर्शक रहे हैं जिनके प्रति आदर, स्नेह एवं कृतज्ञता की भावना मुझमें सदैव रहेगी । डॉ॰ रामचन्द्र देव जी, डॉ॰ विजयन जी, डॉ॰ ईश्वरी जी आदि के प्रति भी मेरा मन ममता एवं सम्मान से भरा हुआ है जिनके प्रौढ़ विचार एवं प्रोत्साहन मेरी चिंतना को पुष्ट करने में सहायक रहे हैं । विभाग के कार्यालय के कर्मचारी, पुस्तकालय के कार्यकर्ता तथा अन्य सभी मित्रों एवं शुभेच्छुओं के प्रति भी इस सन्दर्भ में अपना आभार प्रकट करती हूँ जिनकी सहायता मुझे समय-समय पर मिलती रही है ।

कृष्णकुमारी, बी॰

हिन्दी विभाग,
कोचिन विज्ञान एवं
प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोचिन, पिन 682022,
तिथि : 24 मई 1989

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ-संख्या

पहला अध्याय ... ... 1 - 82

आचार्य वाजपेयी के कृतित्व का परिचय

साहित्यिक जीवनी - वाजपेयी जी की रचनाएँ - जयशंकर प्रसाद - हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी आधुनिक साहित्य - महाकवि सूरदास - प्रेमचन्द; साहित्यिक विवेचन - नया साहित्य : नए प्रश्न - राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ - आधुनिक काव्य : रचना और विचार - राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध - प्रकीर्णिका - हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - नयी कविता - कवि निराला - कवि सुमित्रानन्दन पंत - रस सिद्धान्त : नए सन्दर्भ - हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय ... ... 83 - 170

साहित्य तत्व - सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष

अलंकार सिद्धान्त - रीति मत - रस सिद्धान्त - सूर काव्य का रस नियोजन - साहित्य का स्वरूप - साहित्य का उद्देश्य - साहित्य और जीवन - राष्ट्रीयता - साहित्यकार का दायित्व - काव्य और दर्शन - पंत-काव्य पर विभिन्न दर्शनों का प्रभाव

पृष्ठ-संख्या

निराला-काव्य पर दर्शन का प्रभाव - प्रसाद की
दार्शनिकता - साहित्य के तत्व - अनुभूति -
कल्पना - भाषा - शैली - छन्द - अलंकार -
निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय ... ... 171 - 225

साहित्य-रूप : सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलू

काव्य - महाकाव्य - साकेत - कामायनी - कुरुक्षेत्र
कुणाल - कृष्णायन - प्रगीतकाव्य - प्रसाद - पंत -
निराला के प्रगीत काव्य - सूर के पद - उपन्यास
और कहानी - प्रेमचंद के उपन्यास और कहानियाँ -
जैनेन्द्र के उपन्यास - शेखर एक जीवनी और अज्ञेय -
प्रेमचन्दोत्तर युग की औपन्यासिक कृतियाँ -
व्यक्तिवादी उपन्यास - नाटक - प्रसाद के नाटक -
समस्यामूलक नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र - निष्कर्ष ।

चौथा अध्याय ... ... 226 - 297

साहित्य संबंधी विविध वाद : वाजपेयी जी की दृष्टि में

काव्य और वाद - वाजपेयी जी और वाद - विविध वाद -
आदर्शवाद - यथार्थवाद - छायावाद - रहस्यवाद
स्वच्छन्दतावाद - प्रगतिवाद - प्रयोगवाद -

पृष्ठ-संख्या

नयी कविता - बुद्धिवाद - अनुभूतिवाद -
अभिव्यंजनावाद - निष्कर्ष ।

पाँचवाँ अध्याय ... ... 298 - 361

वाजपेयी जी की शैली

शैली : सामान्य परिचय - व्यक्तित्व और शैली -
व्यक्तित्व - आचार्य वाजपेयी का व्यक्तित्व -
राजनैतिक दृष्टिकोण - निर्भीक प्रेरणादायक
संपादक - आदर्श अध्यापक - कुशल शोध - निर्देशक -
कवि वाजपेयी - चारित्रिक विशेषताएँ - कुशल वक्ता -
युग - प्रबुद्ध दृष्टा - नेतृत्व पक्ष - आचार्यत्व -
विषय और शैली - लेखक का लक्ष्य और शैली -
साहित्यिक परंपराएँ - विचारात्मक शैली - प्रश्न
और प्रश्नोत्तर की शैली - तुलनात्मक पद्धति -
भावात्मक शैली - वर्णनात्मक शैली - विवरणात्मक
शैली - हास्य-व्यंग्यात्मक शैली - वाजपेयी जी की
भाषा शैली - वाक्य-योजना - मूल्यांकन - निष्कर्ष ।

छठा अध्याय ... ... 362 - 395

हिन्दी समीक्षा के विकास में आचार्य वाजपेयी का योगदान

हिन्दी समीक्षा का विकास : वाजपेयी जी तक -
भारतेन्दु युग - द्विवेदी युग - शुक्ल युग की समीक्षा

पृष्ठ-संख्या

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा - जयशंकर प्रसाद -
सुमित्रानन्दन पंत - महादेवी वर्मा - सूर्यकांत त्रिपाठी
निराला - वाजपेयी जी के समकालीन अन्य प्रमुख
समीक्षक - आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी -
डॉ॰ नगेन्द्र - शांतिप्रिय द्विवेदी - वाजपेयी जी
की समीक्षा का मूल्यांकन - स्वच्छन्दतावादी दृष्टि
हिन्दी के प्रमुख समीक्षकों में आचार्य वाजपेयी का
स्थान ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ... ... 396 - 416

पहला अध्याय

आचार्य बाजपेयी के कृतित्व का परिचय

आचार्य वाजपेयी के कृतित्व का परिचय

इतिहास के सहज विकास को ज्यों का त्यों ग्रहण करने की प्रवृत्ति भारतीय मानस में प्राचीन काल से ही परिलक्षित होती आ रही है । प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट कर निजी प्रयत्नों से विकास की गति को अधिक तीव्र बनाने या उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित करने की ओर से भारतीय चेतना एक प्रकार से अछूती ही रही । यहाँ क्रांतिकारी या प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का प्रचार और प्रसार आधुनिक युग में ही अधिक दृष्टिगत होता है । परिवर्तन, प्रगति, प्रतिक्रिया, क्रांति आदि से उद्भूत नूतन गतिविधियों से अवगत होने, जीवन एवं साहित्य के क्षेत्र में नवीन विषयों की परख-पड़ताल करने तथा सामयिक विघटनवादी परिस्थितियों के प्रति सजग रहकर विद्रोह का स्वर बुलन्द करने का प्रयास आधुनिक युग-दृष्टि का ही परिणाम है ।

संपूर्ण हिन्दी साहित्य के सम्यक अनुशीलन से विदित होता है कि आज वह विभिन्न साहित्यिक विधाओं के माध्यम से विकास की विविध मंजिलें पार करता हुआ, पर्याप्त प्रौढ़ बन चुका है तथा सृजनात्मक एवं समीक्षात्मक प्रतिभा से समन्वित विभिन्न साहित्यकारों के योगदान से अनेक प्रकार की सफलताएं अर्जित कर सका है । संयत, संतुलित एवं सुलझी हुई दृष्टि से कवि-कर्म की व्याख्या, विश्लेषण एवं मूल्यांकन कर उसे पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने एवं तद्वारा उनकी रुचि का परिष्कार कर साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने का प्रयास अथवा स्वस्थ मन से कला या साहित्य का अनुशीलन कर उसके सौंदर्य को परखने का प्रयास इस समय के दृष्टिकोण में बडी मात्रा में लक्षित होता है । जहाँ सभी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन मूल्यांकन एवं निर्णय केवल संस्कृत साहित्यशास्त्र की मान्यताओं और सिद्धांतों के सीमित दायरे में होता था वहाँ अब आधुनिक मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा सौंदर्यशास्त्र-विषयक सिद्धांतों के अन्वेषणों, स्थापनाओं और निष्पत्तियों में भी वास्तविकता के दर्शन करने लगे हैं । इस प्रकार प्राचीन उपलब्धियों का महत्व मानते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टि का भी पूरा उपयोग आज किया जाता है ।

सन् 1915-20 के वर्षों में नवीनता की मांग करते हुए जिन साहित्यिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, उनमें सामयिक परिस्थितियों के प्रति विद्रोह का स्वर स्पष्ट उभरता है । हिन्दी में छायावादी साहित्य इस प्रकार के प्रतिक्रियापूर्ण स्वरों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है । अत: उनकी सही परख-पहचान कर उन्हीं के आधार पर साहित्य की व्याख्या, विश्लेषण एवं मूल्यांकन के लिए उस युग के समीक्षक भी बाध्य हो गये । अत: इसमें आश्चर्य की आवश्यकता नहीं कि शुक्लोत्तर युग की समीक्षा भी पूर्ववर्ती युग की टकराहट एवं प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्फुटित हुई । शुक्लोत्तर युग की समालोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक

विकास को सौंदर्य-मूलक स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से संपुष्ट एवं समृद्ध बनानेवाले समालोचकों की श्रेणी में आचार्य वाजपेयी का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है ।

साहित्यिक जीवनी

वाजपेयी जी के कृतित्व पर दृष्टिपात करने के पहले, यह असंगत नहीं होगा कि उनकी साहित्यिक जीवनी एवं साहचर्य का भी थोडा उल्लेख किया जाये जिसके परिप्रेक्ष्य में उनका समीक्षक-रूप अधिक विकास ग्रहण कर सका । वस्तुत: पंडित जी का साहित्यिक जीवन तब से माना जा सकता है जब वे बी·ए· के विद्यार्थी के रूप में सन् 1925 में काशी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए । साहित्यिक अभिरुचिवाले विभिन्न स्तर के विद्वानों से परिचित होने का अवसर उन्हें यहाँ प्राप्त हुआ । सभ्यता और संस्कृति का आवास काशी के सुखद और स्वच्छन्द वातावरण में, वाजपेयी जी में सुषुप्त अवस्था में विद्यमान संस्कारों के विकास का पर्याप्त अवसर मिला । लघु निबन्ध, कविता तथा लेख लिखने की प्रवृत्ति विद्यार्थी-जीवन में ही उनमें लक्षित होने लगी थी । वास्तव में कविता से उनकी साहित्यिक जीवनी की शुरूआत मानी जा सकती है । तत्कालीन आदर्श-वादिता, राष्ट्रीय भावना, मौलिक स्वच्छन्द दृष्टि आदि तभी से लेकर उनमें परिलक्षित होती थी । उनकी 'कली', 'दासता-सिन्धु' आदि कविताएं इसके दृष्टान्त हैं । एम्·ए· तक आते-आते यद्यपि देश की राज-नैतिक समस्याओं और आन्दोलनों की ओर वे आकृष्ट हुए तो भी मुख्य रूप से उनका ध्यान नयी कविता की ओर रहा था जिसके विरोध में विद्वानों में विद्रोही स्वर ध्वनित हो रहे थे । एम्·ए· क्लास में पढ़ते समय उनकी बहुत-सी कविताएं और कहानियां उस समय की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में

प्रकाशित होती थीं । सामयिक साहित्यिक क्षितिज तथा निजी रुचि ने उनके व्यक्तित्व में विकास की समुचित परिस्थिति तैयार की जो उन्हें एक महान लेखक बनाने में सहायक हुई । "माधुरी" उस समय की सर्वाधिक जनप्रिय पत्रिका थी । उस पत्रिका के संपादक ने कभी न सोचा होगा कि वाजपेयी जी के एक निबन्ध को सर्वप्रथम अपने विशेषांक में स्थान देकर एक विशिष्ट साहित्य सेवक एवं सहृदय समीक्षक को वे प्रोत्साहन दे रहे हैं । इसी पत्रिका में 1929 में उनका प्रथम वैचारिक निबन्ध प्रकाशित हुआ । अपने प्रथम निबंध "सत्समालोचना" में समीक्षक के गुणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने तटस्थता, निर्भीकता एवं निरंतर साहित्यिक अध्ययन पर ज़ोर दिया । उनके निबन्धों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उपदेश के उद्देश्य से उनका प्रणयन नहीं हुआ, वरन् जिन तत्वों की ओर उन्होंने संकेत किया, उनको अपने जीवन में व्यावहारिक बनाने की ओर भी वे अधिक निष्ठा रखते थे । उस छोटी उम्र के लेख में समीक्षक के लिए जिन-जिन गुणों को उन्होंने प्रधानता दी थी उनका अनुसरण उनके समीक्षाकार्यों में भी बहुत कुछ दर्शनीय है । बिना किसी पूर्वाग्रह के, पूर्ण तटस्थता से साहित्य-साधना करनेवाले समीक्षक का रूप ही अन्य समीक्षकों की अपेक्षा आचार्य वाजपेयी को पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करता है । द्विवेदी-युगीन कविता एवं छायावादी कविता के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए "आधुनिक हिन्दी कविता" नामक एक अन्य निबन्ध भी कुछ दिन बाद इसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ । ये दोनों निबन्ध वाजपेयी जी के समीक्षक रूप को जन्म देने में बिलकुल समर्थ हुए । आरंभिक काल से ही संयम और विवेक उनकी लेखनी की विशेषताएं रहीं ।

1930 ई॰ में प्रमुख राजनैतिक साप्ताहिक "भारत" का संपादन करते हुए उन्होंने सचमुच साहित्यिक लेखों, राजनैतिक अग्रलेखों और आलोचनात्मक टिप्पणियों की एक सुदीर्घ परंपरा ही बाँध दी । राजनैतिक प्रवाहों

के साथ ही विशुद्ध साहित्यिक प्रगतिशीलता का आदर्श उपस्थित करते हुए पण्डितजी के संचालन में जिस प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी, वह साहित्य के बादरहित विकास में बहुत अधिक प्रेरणादायक रहा है । उन्हीं की निरंतर सिफारिश एवं अप्रतिहत प्रयत्न के फलस्वरूप अखिल भारतीय पैमाने पर हिन्दी की व्याप्ति के लिए केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में एक स्वतंत्र हिन्दी निदेशालय की स्थापना हुई थी । किंतु हिन्दी के विकास की मंदगति पर वे कभी संतुष्ट न हुए, अधिक गतिशील विकास के लिए वे कार्य करते रहे ।

पण्डित जी की बहुमुखी प्रतिभा के विकास में उनका साहित्यिक साहचर्य विशेष उपयोगी हुआ है । काशी विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हुए श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे गुरुजनों का संपर्क, प्रेरणा एवं प्रभाव उनके व्यक्तित्व को नया मोड़ देने में बहुत अधिक सहायक हुए । शुक्लजी के प्रति उनमें एक तरह के संकोच एवं संभ्रम का भाव रहता था जिससे उनसे वे अधिक निकटता प्राप्त न कर सके । श्री·अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध की सरल और आत्मीय प्रवृत्ति, लाला भगवान दीन के विनोदी स्वभाव और विवेक आदि से भी वे बहुत अधिक आकृष्ट हुए । इन सभी गुरुजनों से उनका हार्दिक संबंध रहा था, तो भी डॉ·श्यामसुन्दर दास से उनकी अधिक आत्मीयता थी । उनके खुले व्यवहार एवं वात्सल्य से वे काफी प्रभावित एवं लाभान्वित हुए । शैक्षणिक क्रियाशीलता में वाजपेयी जी का प्रथम साहचर्य इन्हीं महानुभावों से हुआ । उनका साहित्यिक साहचर्य सर्वप्रथम जयशंकर प्रसाद से हुआ । प्रसाद जी से मित्रता प्राप्त करने का सुपरिणाम यह हुआ कि उनके साहित्यिक मित्र राय कृष्ण-दास, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, रामनाथ सुमन, विनोदशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक आदि सज्जनों से पंडित जी का भी परिचय हो गया । शिवपूजन सहाय, शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रेमचन्द आदि से उनकी मुलाकात बहुत वर्ष बाद ही हुई ।

विश्वविद्यालय में वाजपेयी जी के मित्र छात्र राम अवध द्विवेदी, आनन्द मोहन वाजपेयी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, सोहनलाल द्विवेदी जैसे नवोदित साहित्य साधक थे । निराला जी से पहले ही उनकी घनिष्ठता हो चुकी थी । ये सभी मित्र कभी पंडित जी के कमरे में, कभी निराला जी के कमरे में मिलते थे तथा विभिन्न साहित्यिक कार्यकलापों की चर्चा करते थे । इस का परिणाम यह हुआ कि प्रसाद जी और निराला जी ने जब अपनी कविताएं सुनायीं तो वाजपेयी जी ने उसी क्षण "सत्समालोचना' और "आधुनिक हिन्दी कविता" पर दो निबन्ध भी लिखे । प्रसाद जी, निराला जी आदि से उनका संपर्क, मोहनलाल महतोवियोगी, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि की कृतियों का अध्ययन आदि से नई छायावादी कविता के प्रति एक विशेष आकर्षण उन्हें हो गया था । काशी विश्वविद्यालय में एक बार हरिऔध जी के सभापतित्व में प्राचीनता प्रेमियों को खुली चुनौती देते हुए भद्र और ओजस्विनी भाषा में निराला जी का जो गंभीर भाषण हुआ था वह वाजपेयी जी के साहित्यिक जीवन में एक नया अध्याय शुरू करने में बिलकुल समर्थ हुआ ।

इस प्रकार काशी विश्वविद्यालय के अध्ययन-अध्यापन काल में एक ओर शिक्षकों और आचार्यों के संपर्क से वे प्रभावान्वित हुए तो दूसरी ओर रचनात्मक साहित्यकारों के सहयोग से भी उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की । इनके साहचर्य से ही उनमें शास्त्रीय अभिज्ञप्ति एवं मौलिक स्वच्छन्दतावादी वृत्ति का संतुलित सामंजस्य उपलब्ध होता है । हिन्दी के प्राचीन और आधुनिक काव्यों के अध्ययन से साहित्यिक चेतना उनमें विकसित हुई तो विदेशी साहित्य के सम्यक् अनुशीलन से पाश्चात्य काव्यपरंपरा और समीक्षा पद्धतियों का भी प्रगल्भ ज्ञान हुआ । संस्कृत का ज्ञान तो पैतृक परंपरा से प्राप्त था । बंगला और अंग्रेज़ी की जानकारी उस समय के साहित्यकारों के लिए बिलकुल साधारण बात थी । इस प्रकार अपने

विद्वान मित्रों के बीच होनेवाली साहित्यिक चर्चाएं, सभा सम्मेलन, विभिन्न भाषाओं का अध्ययन, विभिन्न साहित्यिक धाराओं और समीक्षा-शैलियों का सम्यक् अध्ययन आदि उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण के प्रेरक तत्व थे ।

काशी में रहते हुए जैनेन्द्रकुमार जैसे नई शैली के लेखकों से वाजपेयी जी का परिचय हुआ था । लक्ष्मीनारायण मिश्र और वाजपेयी जी के बीच पश्चिमी समस्या नाटककारों के विषय में चर्चाएं हुआ करती थीं । प्रसाद जी के नाटक में लक्षित त्रुटियों से भी अवगत होने तथा उनका उद्घाटन करने का विचार मिश्रजी के संपर्क से ही उनमें आया था । प्रेमचंद जी से पंडित जी की प्रथम मुलाकात सन् 1930 के आसपास किसी साहित्यिक संगोष्ठी में हुई थी । सुमित्रानंदन पंत, मैथिलीशरणगुप्त, सियाराम शरण गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णकांत मालवीय, रामचन्द्र टण्डन, बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि से उनका परिचय प्रयाग में हुआ । "साकेत" विषयक आलोचना के पश्चात् गुप्तजी से उनका संबंध घनिष्ठ हो गया । नवीनजी से उनकी मैत्री का आधार पंडित जी का एक मार्मिक लेख था जो गणेशशंकर विद्यार्थी के निधन पर लिखा गया था । पंतजी से उनकी घनिष्ठता न हो सकी, तो भी उनके सौम्य, सरल व्यक्तित्व से वे ज़रूर अभिभूत हुए थे ।

सन् 1930-31 में वाजपेयी जी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से परिचित हुए । द्विवेदी जी और वाजपेयी जी के साहित्यिक दृष्टिकोण में काफी अंतर था । तो भी उनके अकृत्रिम स्नेह में वह कभी बाधक न रहा । 1933 में जब काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा द्विवेदी जी के अभिनंदन का आयोजन हुआ तो उस समारोह के अध्यक्ष महामना पंडित मदनमोहन

मालवीय से उनका परिचय हुआ । मालवीयजी में निहित सहृदयता एवं संवेदना के गुण वाजपेयी जी के व्यक्तित्व निर्माण में पर्याप्त योग दे सके । सन् 1947 में निराला जी के स्वर्णजयंती समारोह के अवसर पर आचार्य नरेन्द्रदेव से उनका परिचय हुआ जिससे समारोह का उद्घाटन हुआ था । नरेन्द्रदेव के पाण्डित्य एवं चरित्र ने उन्हें इस प्रकार आकृष्ट कर लिया कि यह परिचय उनके जीवन के अंतिम समय तक बना रहा ।

राहुल सांस्कृत्यायन, जयप्रकाश नारायण, रविशंकर शुक्ल, द्वारिकाप्रसाद मिश्र, वृंदावनलाल वर्मा आदि विद्वानों से पंडित जी का साहचर्य सागर विश्वविद्यालय में हुआ । विभिन्न संस्थाओं, समितियों और कला-संसदों का सदस्य या सभापति रहते हुए भारत के चारों दिशाओं के अनेक विश्वविद्यालयों के अध्यक्षों और अध्यापकों से भी पंडितजी का दृढ़ संबंध हो पाया था । इतना ही नहीं, हिन्दी प्रचारार्थ हुई महान् यात्राओं में वे देश के विभिन्न भागों में अनेक मित्रों और छात्रों का संचय कर सके हैं । यद्यपि साहित्यिक स्तर पर वे प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के समर्थक नहीं हैं तो भी अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती जैसे प्रगतिशील साहित्यकारों से उनका वैयक्तिक संबंध रहा है । इन कारणों से समूचे देश में पंडित जी के साहित्यिक मित्र और सहयोगी अच्छी संख्या में हैं । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का पाण्डित्य, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की स्वतंत्र चिंतना और विनोद-भावना, डॉ॰ भगीरथ मिश्र की सटीक और नपी-तुली विवेचना, मोहनवल्लभ पंत की स्पष्टभाषिता, डॉ॰ ओझा की व्यावहारिकता और क्रियाशीलता, डॉ॰देवराज के द्वन्द्वात्मक दार्शनिक वक्तव्य आदि के कारण उन विद्वानों से उनका वर्षों का परिचय रहा और उन सबसे बिलकुल घरेलूपन का भाव रहा । इनके अतिरिक्त और भी अनेक सहकारी मित्र हैं जिनसे उनकी घनिष्ठता रही । पंडित जी की इतनी बृहत् शिष्यमंडली एवं मित्रवृन्द उनकी लोकप्रियता और मिलनसार व्यक्तित्व के द्योतक हैं ।

समग्र जीवन का श्रेष्ठ कलात्मक मूल्यांकन, जीवन के मार्मिक प्रसंगों एवं उदात्त भावनाओं का चयन करके उनका सम्यक् उद्घाटन तथा नयी युगीन प्रेरणाओं से समन्वित रचनाएं ही चिरंतन महत्व के अधिकारी बन पाती हैं। आत्मा के सौंदर्य का जो आविष्कार काव्य में होता है उसी का उद्घाटन समीक्षा में होता है अथवा होना चाहिए। जो समीक्षक काव्य में निहित आत्मा के स्वरूप के विवेचन में जितना अधिक सफल निकलता है उसकी समीक्षा उतनी उच्च स्तर की मानी जाती है। साहित्यकार का भावोद्वेलित हृदय जब तर्कबुद्धि के बल पर निर्णय निकालता है तभी उसकी आलोचना सत्यता का दावा कर सकती है। तर्क और बुद्धि के अभाव में समीक्षा निर्जीव बन जाती है। वास्तव में समाज और देश की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही आलोचक को साहित्य का आकलन करना चाहिए। आलोचना-साहित्य को नयी उदात्त प्रेरणाओं, नयी कल्पनाओं और भावनाओं से अनुप्राणित करने के सफल प्रयास का परिणाम है आचार्य वाजपेयी जी की रचनाएं। उनकी कृतियां मुख्य रूप से रचनाक्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं -

जयशंकर प्रसाद, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आधुनिक साहित्य, महाकवि सूरदास, प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, नया साहित्य : नए प्रश्न, राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं, कवि निराला, राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध और प्रकीर्णिका। "हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" तथा "आधुनिक काव्य : रचना और विचार" नामक दो रचनाएं भी प्रकाशित हुई थीं, किंतु उनमें प्रस्तुत सभी निबन्ध पहले ही विभिन्न अवसरों पर प्रकाशित हो चुके थे। साहित्य का इतिहास भूमिका के तौर पर प्रस्तुत हुआ था। 1967 में आचार्य वाजपेयी का निधन हो गया। उनकी मृत्यु के उपरान्त भी कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए। वे हैं - नयी कविता (1976), कवि सुमित्रानन्दन पंत (1976), रस सिद्धान्त : नए सन्दर्भ (1977), आधुनिक साहित्य : सृजन और समीक्षा (197

रीति और शैली (1979), इनमें अधिकांश रचनाओं का संपादन डॉ॰ शिवकुमार मिश्र द्वारा हुआ है । इनमें कुछ अप्रकाशित सामग्री है और कुछ पहले ही प्रकाशित । जयशंकर प्रसाद, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, महाकवि सूरदास, प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, कवि निराला, नई कविता तथा कवि सुमित्रानन्दन पंत व्यावहारिक आलोचना से संबद्ध रचनाएँ हैं । उनके लेखन में निबन्धों की ही प्रधानता है और बाकी सभी रचनाएँ विभिन्न अवसरों पर लिखे गए कई निबन्धों का संकलन है । चूँकि वाजपेयी जी की समीक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पहलुओं पर अगले अध्यायों में प्रकाश डाला जाएगा, इसलिए इन रचनाओं के प्रतिपाद्य की ओर संक्षिप्त रूप से यहाँ संकेत किया जाएगा ।

जयशंकर प्रसाद

"जयशंकर प्रसाद" वाजपेयी जी की प्रारंभिक रचना है । इसका प्रकाशनकाल सन् 1939-40 है । प्रसाद जी के संबंध में लिखने का प्रयास वे उस समय कर रहे थे जब कि साहित्यिक क्षेत्र में छायावाद एवं उसके प्रवर्तकों के नाम पर गंभीर वाद-विवादों एवं विरोधी विचारधाराओं तक का प्रचलन हो रहा था । संघर्ष, संत्रास एवं अशांति से पूर्ण वातावरण में वस्तु-स्थिति का परिचय देने के लिए एक सफल मार्ग-दर्शक की आवश्यकता महसूस हो रही थी । वाजपेयी जी का कार्य इस दिशा में विशेष महत्व का है कि हिन्दी-पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर वे एक युग-निर्माण की व्यापक पृष्ठभूमि अदा कर सके । इस रचना में लेखक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि सांप्रतिक जीवन के उन्नायक प्रसाद का साहित्य नवीन जीवन से संबद्ध है तथा आधुनिक समस्याओं का स्पष्ट प्रतिबिंब उसमें लक्षित होता है ।

विभिन्न सन्दर्भों में लिखे गए पन्द्रह निबंध इसमें संकलित हैं । दो निबन्ध उनके व्यक्तित्व पर, 10 उनके कृतित्व पर, एक उनके साहित्य-दर्शन पर तथा दो नाट्यसिद्धांतों पर आधृत हैं । इनके द्वारा छायावादी युग के प्रतिनिधि कवि प्रसाद जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के मूल्यांकन का प्रयास हुआ है । प्रसाद जी के कृतित्व पर प्राचीनता प्रेमी विद्वानों द्वारा जो-जो आक्षेप लगाये जा रहे थे उन सब का युक्तियुक्त उत्तर देने की चेष्टा इस ग्रंथ में लेखक ने की है । प्रसाद जी वाजपेयी जी के प्रिय कवि रहे हैं । एक हद तक वे उनके आदर्श भी माने जा सकते हैं । क्योंकि प्रसाद जी में वाजपेयी जी के साहित्यिक प्रतिमानों के अधिक दर्शन होते हैं । प्रसाद जी को युग का प्रतिनिधि कवि प्रमाणित करते हुए वे लिखते हैं - "प्रसाद जी एक नये साहित्य युग के निर्माता ही नहीं, एक नई विचार-शैली और नव्य दर्शन के उद्भावक भी हैं । उनमें अपने युग की प्रगतिशीलता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है । यही नहीं, वे एक बडी हद तक भविष्यदृष्टा और आगम के विधायक भी है । सभी महान साहित्यकारों की भाँति उन्होंने अपने युग की प्रगतिशील शक्तियों को पहचाना और उन्हें अभिव्यक्ति दी ।"[1] विभिन्न तर्क एवं प्रमाण पेश करके वे स्थापित करते हैं कि प्रसाद जी अपने युग के सबसे बडे पौरुषवान कवि थे । इस स्थापना के लिए अन्य सामयिक प्रतिभाओं से उनकी तुलना करते हुए उनमें लक्षित विशिष्टताओं का भी उद्घाटन करते हैं । युग-निर्माता होने की पूरी क्षमता उनमें दर्शाते हुए वे लिखते हैं - "मैथिलीशरण गुप्त का काव्य करुणा के रंग से ओत-प्रोत है, शक्ति का संकल्पात्मक स्रोत उसमें उतना नहीं । "प्रियप्रवास" के हरिऔध जी के संगीत में पौरुष है, किंतु अपने समय की संकोचशील प्रवृत्तियों की छाया भी उसमें पड़ी हुई है । निराला जी का पौरुष नारी के स्नेह से नहीं,

---

1. जयशंकर प्रसाद - भूमिका, पृ.2

सम्मान से भी सम्बद्ध होने के कारण "रोमांटिक टाइप" का है । श्री· सुमित्रानन्दन पंत जी के काव्य में {मेरा मतलब उनके सर्वश्रेष्ठ पल्लव" काव्य से है} बाल्य-सुलभ स्निग्धता और निर्मलता है, किंतु प्रसाद जी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का अविरल प्रवाह है । उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं । इसीलिए मैं प्रसाद जी को हिन्दी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनंदवादी कवि मानता हूँ ।[1]"

वाजपेयी जी की दृष्टि में प्रसाद जी कभी अप्रगतिशील नहीं हैं । वे उन्हें विकासशील एवं उदार सामाजिक प्रवृत्तियों का निरूपण करनेवाले आशावादी कवि मानते हैं । वाजपेयी जी को उनके काव्य में निहित प्रगतिशील तत्वों के प्रोद्घाटन की आवश्यकता इसीलिए महसूस हुई थी कि प्रसाद-काव्य की वैयक्तिक अनुभूतियों और अंतर्मुखी प्रवृत्तियों को पलायन की प्रवृत्ति माननेवाले आलोचकों को सचेत करना उन्होंने अपना दायित्व मान लिया था । उनके काव्य-विकास की प्रमुख दशाओं की परीक्षा करते हुए वाजपेयी जी ने उन मूल आधारों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है जिन से कवि की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है । "चित्राधार" में चित्रित प्रकृति-प्रेम पर विचार करने के उपरांत "प्रेम-पथिक" की ओर वे उन्मुख हो जाते हैं जिसमें कवि के प्रेम का स्वरूप प्रकृति के व्यापक परिवेश से असे और भी व्यापक होकर मानव-प्रेम का असीम धरातल ग्रहण करता है । यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि "प्रेम-पथिक" के माध्यम से प्रेम के उज्ज्वल आदर्श की प्रतिष्ठा प्रसादजी ने उस समय की थी जब कि द्विवेदी-युग के नैतिक एवं आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण से अलग रहकर प्रेम-चर्चा करने का साहस

1· जयशंकर प्रसाद - पृ·18

किसी में नहीं था । "आँसू" के प्रकाशन को भी वे हिन्दी-काव्य की एक महत्वपूर्ण घटना मानते हैं । कृति के बाह्य उपकरणों से बढ़कर उसकी आत्मा की सुन्दरता पर वे अधिक ध्यान देते हैं । अत: उसमें निहित वैयक्तिक अनुभूतियों की उदात्तता तथा मानवीय प्रेम-सौंदर्य की व्यापकता का उद्घाटन करने के साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आत्मस्वीकृति पर आधृत अनुभूतियाँ उत्कृष्ट काव्य के लिए, उच्चतर मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा केलिए कितनी उपयोगी हैं । "आँसू" में चित्रित प्रेम एवं सौंदर्य का स्वच्छ एवं स्वस्थ रूप, सहृदय तभी आत्मसात् कर सके जब वाजपेयी जी की संवेदनमयी, तलस्पर्शी दृष्टि उस ओर उन्मुख हुई । "कामायनी" का विवेचन जिस मनोवैज्ञानिक आधार पर वाजपेयी जी ने किया है वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बिलकुल उपयुक्त है । वे लिखते हैं "मानस का ऐसा विश्लेषण और काव्यात्मक निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है[1]।" वाजपेयी जी ने यह सप्रमाण स्थापित किया है कि कामायनी मात्र शैव-दर्शन का काव्य नहीं । वे स्पष्ट प्रतिपादित करते हैं कि प्रसाद जी की दार्शनिक उपपत्तियाँ जीवनानुभूतियों से अनुप्रेरित हैं । उसमें एक दार्शनिक अंतर्धारा मिलती है परंतु वह काव्य की स्वाभाविक भावव्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है[2]।" इसके शिल्प में लक्षित विलक्षणता की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं - इसका वस्तु-निर्माण पाश्चात्य ट्रेजिडी और पूर्वी आनन्द कल्पना के योग से समन्वित होने के कारण समीक्षकों के सामने थोडी-सी कठिनाई उपस्थित करता है[3]।"

प्रसाद जी के नाटकों पर भी इस पुस्तक में काफी विचार-विमर्श हुआ है । पूर्व और पश्चिम की नाट्यकला पर विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि प्रसाद में स्वतंत्र नाट्यकला का आभास मिलता है ।

---

1. जयशंकर प्रसाद, पृ.77-78
2. वही, पृ.100
3. वही पृ.95

भारतीय नाटकों की भूमिका, उनकी रूपरेखा आदि प्रस्तुत करने के बाद प्रसादजी के नाटकों की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है । उनके नाटकों में सांस्कृतिक वातावरण प्रस्तुत करते हुए जिस काव्यात्मक शिल्प का सहज प्रयोग हुआ है उसकी वाजपेयी जी प्रशंसा करते हैं । उनके नाटकों की उपयोगिता-अनुपयोगिता, उनके महत्वपूर्ण नाटकों की विशेषताएं, उनकी सीमाएं, और त्रुटियां आदि पर भी वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि पड़ी है ।

वाजपेयी जी के प्रसाद-विषयक मूल्यांकन का ऐतिहासिक महत्व होने के साथ ही, उसका साहित्यिक महत्व भी अवश्य है क्यों कि उसमें एक महान कलाकार की उपलब्धियों की गहराइयों में पैठकर उनके मूलस्त्रोत तक पहुंचने तथा उसके माध्यम से एक युग-विशेष का संपूर्ण व्यक्तित्व उभार कर सहृदयों के सम्मुख प्रस्तुत करने में वे अतिशय सफलता प्राप्त कर सके हैं ।

हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी

हिन्दी आलोचना जगत् में वाजपेयी जी को प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने में "हिन्दी साहित्य:बीसवीं शताब्दी" का उल्लेखनीय स्थान है । सन् 1942 में इसका प्रकाशन हुआ । स्वयं वाजपेयी जी ने इस कृति को

ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी एक प्रतिनिधि रचना बताया है । उसकी विवेचना, विचार और भाषा-शैली सब कुछ उनकी अन्य पुस्तकों से बहुत कुछ स्वतंत्र है तथा परवर्ती पुस्तकों की अपेक्षा स्पष्टभाषिता भी इसमें अधिक लक्षित होती है । बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चालीस वर्षों की चार साहित्यिक पीढ़ियों के प्रतिनिधि साहित्यकारों को इसमें स्थान दिया गया है । परंपरावाद के प्रतिनिधि कवि रत्नाकर, आदर्शवादी महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण, रामचन्द्रशुक्ल और प्रेमचन्द, स्वच्छन्दतावादी प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी तथा यथार्थवादी धारा के प्रतिनिधि अंचल ये हैं चार पीढ़ियाँ । यद्यपि इन साहित्यकारों के व्यक्तित्व से पाठकों को परिचित कराने का श्रम इसमें हुआ है तो भी प्रमुख रूप से लेखक ने छायावादी कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी को अपने विवेचन का केन्द्र बनाकर अन्य साहित्यकारों को इसी केन्द्र की सीमा में आबद्ध किया है । इस कारण प्रेमचन्द जी जैसे उपन्यासकार और शुक्ल जी जैसे आलोचक को भी वे स्वतंत्र पार्श्वभूमि नहीं दे सके हैं ।

समकालीन साहित्य का समीक्षाकार्य किसी समर्थ समीक्षक केलिए भी कठिन है । अपनी लेखनी आरंभ करते हुए उसे बहुत कुछ अवरोधों और अंतर्विरोधों का सामना करना पड़ता है । पहली कठिनाई यह है कि विवेच्य विषय पर पूर्वलिखित सामग्री उसे बहुत कम ही उपलब्ध हो सकती है । इसलिए अपने चिंतन मनन पर, अपनी बुद्धि और ज्ञान के आधार पर, अपने संस्कार और दृष्टिकोण के बल पर उसे नया विचार, नया निर्णय तथा नया मूल्य बिलकुल नवीन ढंग से निश्चित करना पड़ता है । दूसरी बात यह है कि विवेच्य रचना मे उसका बहुत सीमित काल का सम्बन्ध रहता है । इसलिए अपने समय के निकटतम व्यक्तियों के विचारों का प्रभाव बड़ी मात्रा में उस पर रहता है । तीसरी कठिनाई काफी गंभीर है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी एक प्रतिनिधि रचना बताया है । उसकी विवेचना, विचार और भाषा-शैली सब कुछ उनकी अन्य पुस्तकों से बहुत कुछ स्वतंत्र है तथा परवर्ती पुस्तकों की अपेक्षा स्पष्टवादिता भी इसमें अधिक लक्षित होती है । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चालीस वर्षों की चार साहित्यिक पीढ़ियों के प्रतिनिधि साहित्यकारों को इसमें स्थान दिया गया है । परंपरावाद के प्रतिनिधि कवि रत्नाकर, आदर्शवादी महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण, रामचन्द्रशुक्ल और प्रेमचन्द, स्वच्छन्दतावादी प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी तथा यथार्थवादी धारा के प्रतिनिधि अंचल ये हैं चार पीढ़ियाँ । यद्यपि इन साहित्यकारों के व्यक्तित्व से पाठकों को परिचित कराने का श्रम इसमें हुआ है तो भी प्रमुख रूप से लेखक ने छायावादी कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी को अपने विवेचन का केन्द्र बनाकर अन्य साहित्यकारों को इसी केन्द्र की सीमा में आबद्ध किया है । इस कारण प्रेमचन्द जी जैसे उपन्यासकार और शुक्ल जी जैसे आलोचक को भी वे स्वतंत्र पार्श्वभूमि नहीं दे सके हैं ।

समकालीन साहित्य का समीक्षाकार्य किसी समर्थ समीक्षक के लिए भी कठिन है । अपनी लेखनी आरंभ करते हुए उसे बहुत कुछ अवरोधों और अंतर्विरोधों का सामना करना पड़ता है । पहली कठिनाई यह है कि विवेच्य विषय पर पूर्वलिखित सामग्री उसे बहुत कम ही उपलब्ध हो सकती है । इसलिए अपने चिंतन मनन पर, अपनी बुद्धि और ज्ञान के आधार पर, अपने संस्कार और दृष्टिकोण के बल पर उसे नया विचार, नया निर्णय तथा नया मूल्य बिलकुल नवीन ढंग से निश्चित करना पड़ता है । दूसरी बात यह है कि विवेच्य रचना से उसका बहुत सीमित काल का सम्बन्ध रहता है । इसलिए अपने समय के निकटतम व्यक्तियों के विचारों का प्रभाव बड़ी मात्रा में उस पर रहता है । तीसरी कठिनाई काफी गंभीर है ।

क रचना के गुण-दोषों का विवेचन करता है । किसी लेखक के गुणों की ा करना तो आसान कार्य है । किंतु उसके दोषों को ढूँढ निकालकर ुत करने का साहस सभी आलोचकों में नहीं होता । खासकर, समकालीन : अपने सहगामी साहित्यकारों के दोषों को आलोचना करना अधिक ् का काम है । आचार्य वाजपेयी ने सामयिक साहित्यकारों के समीक्षक ्य में पदार्पण किया । उन्हें इसलिए उपर्युक्त कठिनाइयों का सामना ा पडा, यह तो स्वाभाविक है । ऐसी संघर्षपूर्ण परिस्थितियों को लते हुए, उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा और असाधारण क्षमता का जो चय दिया, उसके महत्व का निषेध नहीं किया जा सकता ।

"हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी" लिखते समय एक निस्वार्थ हित्य-सेवक एवं सहृदय समीक्षक के तौर पर वाजपेयी जी का दायित्व कम त्व का नहीं था । अपने पूर्व वर्ती कार्यों के समुचित मूल्यांकन के साथ साथ सामयिक विकासोन्मुख विभूतियों के सही दिशा-निर्देशन का भारी ियत्व भी उन पर था । मूल साहित्यकार की प्रतिभा को अधिक चमत्कृत परिष्कृत कर, उन्हें अधिक प्रेरणा एवं उत्साह प्रदान करने के उद्देश्य से हें व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में बहुत कुछ करना पड़ा जिनका प्रमाण ी प्रथम समीक्षा कृति में प्राप्त होता है ।

समकालीन लेखकों का विवेचन होने के कारण "बीसवीं शताब्दी" ाहित्यकारों का संपूर्ण या समग्र विवरण नहीं मिलता । किंतु जो कुछ उनका ा है वह उनकी मौलिक प्रतिभा, स्वस्थ दृष्टि एवं स्वतंत्र चिंतन की ान के लिए पर्याप्त है । एक प्रारंभिक समीक्षक की वजह से इसके लेखक ्य प्रशंसा के अधिकारी हैं । उनके दृढ आत्मविश्वास, असीम साहस, टभाषिता एवं महत्वाकांक्षा का यह उत्तम निदर्शन है ।

"हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी" हिन्दी साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में नूतन क्रांति का सूचक है । जिन साहित्यिक व्यक्तित्वों को उन्होंने महत्व दिया उनके महत्व की स्थापना और जो उनकी दृष्टि में नगण्य रहे उनका उल्लेख भूमिका में असन्दिग्ध और निस्संकोच भाव से करके वाजपेयी जी ने समकालीन साहित्यकारों को चुनौती दी है । उदाहरण के लिए बच्चन के संबंध में वे लिखते हैं - "बच्चन जी की ख्याति और उनकी अनास्थामयी काव्य संगिनी के बीच इतनी गहरी खाई है कि सहसा कोई सम्मति देने का साहस नहीं होता । बच्चन की आरंभिक रचनाएँ हमारे देखते-देखते काल कवलित हो चली हैं या ये कवि सम्मेलनों के श्रोताओं के मनोविनोद के लिए ही रह गई है । किंतु उनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी साहित्य में स्थायित्व ग्रहण करने की सूचना भी देती हैं । अभी बच्चन ठहर नहीं गए हैं, न उनकी रचनाओं पर हिन्दी जगत की प्रतिक्रिया ही पूरी हुई है ।"[1]

वाजपेयी जी का समय ऐसा था जब आलोचक का एक वर्ग महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द जैसे आदर्शवादियों के यशोगान में अपने को निर्लिप्त करते जा रहे थे और दूसरे वर्ग द्वारा प्रसाद पंत निराला जैसे स्वच्छन्दतावादियों के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट किया जा रहा था । एक की अति प्रशंसा और दूसरे की कटु निंदा की प्रवृत्ति प्रमुख थी । ऐसी विलक्षण स्थिति में वाजपेयी जी जैसे समर्थ आलोचक ही युगीन आलोचना को एक व्यवस्थित गति प्रदान कर सकते थे । उन्होंने इस प्रशंसा और निंदा को एक परिसीमा प्रदान की । द्विवेदी जी को ही सब कुछ मानकर जब अधिकांश साहित्यकार उनकी उपासना में तल्लीन रहे तब वाजपेयी जी ने दृढतापूर्वक प्रश्न किया - "साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी में उनकी कौन-सी कृतियाँ रखी जाएंगी ?

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.12

क्या उनके अनुवाद ? ..... तो क्या आचार्य की शिष्य मंडली ही उक्त प्रदर्शन में सजा दी जाय ?" किंतु ऐसा कहकर वाजपेयी जी ने कभी द्विवेदी जी की महत्वपूर्ण उपलब्धियों का पूर्णत: निषेध नहीं किया । उनके युग-प्रवर्तक उद्योगों का उल्लेख करते हुए उन्हें उचित मान्यता भी दी गयी । द्विवेदी जी को संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थारक, प्राचीन भारत के गौरव का संरक्षक, वर्तमान प्रगति का दिशा-निर्देशक तथा खड़ीबोली-साहित्य के उन्नायक के रूप में चित्रित कर उन्हें प्रतिनिधि गद्य लेखक घोषित करते हुए उन्होंने लिखा जो कुछ कार्य द्विवेदी जी ने किया, वह अनुवाद का हो, काव्य-रचना का हो, आलोचना का हो अथवा भाषा-संस्कार का हो, या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो - वह स्थायी महत्व का हो या अस्थायी - हिन्दी में युग-विशेष के प्रवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है । उसका प्रतिहासिक महत्व है[2] ।" एक निष्पक्ष आलोचक की निर्णयात्मक क्षमता, निरंकुश विवेचना प्रवृत्ति यहां दर्शित है । लोगों की प्रतिक्रिया के विषय में विशेष परेशानी या चिंता इस लेखक को नहीं सताती । द्विवेदी जी का समर्थन करते हुए भी वे उनमें भावना की गहन तन्मयता तथा कल्पना की गगनगामिनी गति का अभाव दर्शाते हैं । इतना तो मानते हैं कि द्विवेदी जी का साहित्यिक आदर्श समय और समाज के अंधकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करता है ।

कविवर रत्नाकर की उक्ति-कुशलता, अलंकार, भाषा की कारीगरी, छन्दों की सुघरता एवं पांडित्य की प्रशंसा करते हुए लेखक ने उन्हें तुलसी और सूर के अनुगामी क्लासिक कवियों में स्थान दिया है । यद्यपि वे रत्नाकर को आधुनिक रहकर प्राचीन पथ से अग्रसर होने में सफल मानते हैं

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.38-39
2. वही, पृ.39

तोभी अपने काव्यों में प्राचीन कथा और भाषा का पल्ला पकडे रहने की प्रकृति लेखक की दृष्टि में उनकी कमज़ोरी है । रत्नाकर को वे मैथ्यू आर्नल्ड की भाँति हिन्दी के अंतिम क्लासिक कवि मानते हैं । उनको व्यक्तिवादी अथवा भावीयुग के क्रांतिकारी कवि बतलाना वे नहीं चाहते । भाषा-सौंदर्य, संगीत और छन्द-संघटन में - कविता के कलापक्ष की सुधरता में इस कवि की तुलना अंग्रेज़ कवि टेनिसन से वे करते हैं । द्विवेदी कालीन साहित्यिक भवन की नवीनता के पूरे दर्शन वे रत्नाकर के साहित्य में करते हैं । वाजपेयी जी इस बात का निषेध करते हैं कि द्विवेदी जी के सभी कार्य विदेशी नकल पर हुए हैं ।

द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि साहित्यकार मैथिली शरण गुप्त, रामचन्द्रशुक्ल एवं प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व का विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है । ये तीनों आदर्शवादी हैं और बुद्धिवाद के समर्थक हैं । उस समय गुप्तजी राष्ट्रकवि के पद पर प्रतिष्ठित होनेवाला था और शुक्लजी एवं प्रेमचंद के भी विरुद्ध बोलने का साहस किसी में नहीं था । वाजपेयी जी ने भी उनका महत्व स्वीकार किया, किन्तु "भारत-भारती" की आलोचना करते हुए अपना विरोध उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया कि "वास्तविक बात यह है कि "भारत-भारती" की रचना पूर्ण आर्यसमाजी प्रभाव के अन्दर हुई है । ..... भारत-भारती में राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है जितनी साम्प्रदायिक भावना ।" इस कथन की सत्यता और सार्थकता पर निर्णय लेने का अधिकार पाठक को है, किंतु उल्लेखनीय बात यह है कि साहित्यिक प्रासाद के सर्वोत्तम स्थान पर जब गुप्तजी की उपासना होती रही थी, तब एक आलोचक द्वारा इस प्रकार की प्रखर आलोचना निश्चय ही दृढ़ आत्मविश्वास एवं साहस की द्योतक है ।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.7।

गुप्तजी की विवेचना करते हुए वाजपेयी जी ने पाठकों का यह भ्रम दूर करने की चेष्टा की है कि उच्च आदर्शों के प्रति आस्था दिखाना, उच्च साहित्य की सृष्टि का कोई लक्षण नहीं है । वे बताते हैं कि भारतीय भक्तपरंपरा के प्रभाव के कारण गुप्तजी में भावुकता और आराधनात्मक प्रवृत्ति का आधिक्य है । महाकवि रवीन्द्रनाथ से गुप्तजी की तुलना करनेवाले लेखक अपनी साधना से उन्नत एवं अपने गौरव से दीप्तिमान दिग्विजयी कवि रवि बाबू के उन्मुक्त और दिगदिगंतव्याप्त भावना प्रवाह के सम्मुख गुप्तजी की काव्य-साधना को बिलकुल निम्न श्रेणी की मानते हैं । वे लिखते हैं "बेचारे मैथिलीशरण इतनी स्पर्धा नहीं कर सकते । उनकी साधना, वैसी नहीं । वे दीन, दरिद्र भारत के विनीत, विनयी और नतशिर कवि हैं । कल्पना की ऊँची उडान भरने की उनमें शक्ति नहीं, किंतु राष्ट्र की और युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति के स्मृतिचिह्न हमें हिन्दी में सर्वप्रथम गुप्तजी के काव्य में ही मिलते हैं । वे रविबाबू की भाँति विश्व की अनंत सत्ता को कविता की ऐश्वर्यमयी साधना का अंग नहीं बना सके । वे महापुरुष की भाँति आज्ञा देकर नहीं, भिक्षार्थी की भाँति अंचल पसार कर तृप्ति चाहते हैं । उनकी करुण काव्यमूर्ति आधुनिक विपन्न और तृष्णित भारत को बडी ही शांतिदायिनी सिद्ध हुई है ।"[1] जिस कवि की बड़ी प्रशंसा और लोकप्रियता उस समय हो रही थी, उन्हीं के विषय में एक तरुण समीक्षक के ऐसे विचार साहित्यिक क्षेत्र में क्रांति उपस्थित कर सके तो उसमें आश्चर्य नहीं । गुणों की प्रशंसा के के समान ही दोषों की ओर भी संकेत करने की ऐसी तटस्थ दृष्टि ही सच्चे समीक्षक का लक्षण है ।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.77

आलोचक प्र वर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में वाजपेयी जी ने समीक्षक के लिए अनिवार्यरूप से आवश्यक गुण, समीक्षा के विकास में शुक्लजी की देन, शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति में परिलक्षित त्रुटियाँ, उन त्रुटियों के कारण लोकधर्म और दर्शन के प्रति शुक्लजी का व्यापक दृष्टिकोण आदि विचारात्मक विषयों की व्याख्या की है । भारतेंदु-युग के पूर्व के हिन्दी के लक्षण ग्रंथों में दर्शित न्यूनताओं की ओर भी आपने ध्यान दिया है । शुक्लजी के काव्य-संबंधी सिद्धांतों पर प्रकाश डालते हुए वाजपेयीजी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि यद्यपि शुक्लजी अपने युग के प्रामाणिक विवेचक माने जाते हैं फिर भी प्रबन्ध कथानक एवं जीवन-सौंदर्य के व्यक्तरूपों के आग्रह के कारण उनका काव्य-विवेचन सर्वांगीण और तटस्थ नहीं हो पाया है । नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बढ़नेवाली काव्यधारा का आकलन वे शुक्लजी में नहीं पाते ।

उपन्यासकार प्रेमचन्द, नाटककार प्रसाद और स्वच्छन्दतावादी कवि निराला के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने अलग-अलग ग्रंथ लिखे हैं । इस पुस्तक में उनके विषय में प्रस्तुत विचार संक्षिप्त है साथ ही उन कलाकारों की मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के समस्त अंगों से अछूता रह गया है । पंत जी पर लिखा हुआ ग्रंथ उनके मरणोपरांत प्रकाशित हुआ है । महादेवी वर्मा की आलोचना में छायावाद की व्याख्या, रहस्यवाद का स्वरूप, महादेवी के काव्य में रहस्यवाद, उनके काव्य की कठिनाइयाँ, महादेवी और मीरा की तुलना आदि विषयों पर ध्यान दिया गया है । इसके अतिरिक्त भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानियों की कलात्मक विशेषताएँ, जैनेंद्रकुमार की उपन्यास कला तथा रामेश्वरशुक्ल अंचल के काव्य के संक्षिप्त अनुशीलन के साथ वाजपेयी की यह रचना समाप्त होती है ।

इस समीक्षा-कृति में लेखक ने "विज्ञप्ति" में अपने समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी किया है । साहित्य-समीक्षा केलिए अपेक्षित जिन बातों पर उन्होंने बल दिया है उनसे उनकी सुलझी हुई मौलिक दृष्ट, स्वतंत्र निर्णय क्षमता एवं स्वच्छन्द विचारों का परिचय मिलता है ।

आधुनिक साहित्य

"आधुनिक साहित्य" 1950 में प्रकाशित हुआ । वाजपेयी जी के विविध तलस्पर्शी दृष्टिकोण का परिचय इस ग्रंथ से मिलता है । साहित्य की विभिन्न विधाओं के अनुशीलन को ध्यान में रखते हुए सात खण्डों के अंतर्गत इसके निबन्धों का समावेश किया गया है । पहला, काव्यखण्ड है जिसके अंतर्गत "नयी कविता", "प्रयोगवादी रचनाएं", "साकेत" "कामायनी", "कुरुक्षेत्र", "कुणाल" औरर "कृष्णायन" पर अपनी मान्यताएं प्रस्तुत की गई है । दूसरा खण्ड उपन्यास एवं कहानी से संबद्ध है । इसमें पश्चिमी उपन्यास, प्रेमचन्द के पूर्व, प्रेमचंद, गोदान, जैनेन्द्रकुमार, त्यागपत्र, शेखर एक जीवनी तथा नई कहानी आदि विषयों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है । तृतीय खण्ड में नाटक की उत्पत्ति, पूर्व और पश्चिमी नाट्यतत्व, भारतीय नाटक, प्रसाद के नाटक इन पांच विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए गए हैं । चौथे खण्ड में केवल दो निबंध आते हैं, एक निबन्ध पुस्तक (सुंदरलाल त्रिपाठी की दैनंदिनी) तथा एक प्रतिनिधि गद्य-रचना (शुक्ल जी का हिन्दी साहित्य का इतिहास) । समीक्षा नाम्क पांचवें खण्ड के अंतर्गत नई समीक्षा, छायावादी काव्यसृष्टि, नवीन समीक्षा की प्रगति तथा नई समीक्षा-प्रणाली पर प्रकाश डाला गया है । छठा खण्ड है "साहित्यधाराएं" जिसके अंतर्गत आधुनिक काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों - छायावाद, प्रगतिशील साहित्य, छायावाद-प्रगतिवाद (एक तुलना), आदि का अध्ययन विस्तार से हुआ है । सातवां और अंतिम खण्ड है मत और सिद्धांत जिसमें पश्चात्य और पौर्वात्य दोनों

काव्य-सिद्धांतों के प्रतिपादन का प्रयत्न हुआ है । भारतीय काव्यमत, ध्वनि और रस, पश्चिमी काव्यमत (अनुकृतिवाद) अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दता और परंपरा, आदर्श और यथार्थ, साहित्य और जीवन, साहित्य और सामाजिक प्रगति, साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति - ये नौ निबन्ध इसके प्रतिपाद्य हैं । इनमें से कुछ निबन्ध "हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी" में भी आये हैं जिनका कुछ परिष्कृत रूप ही आधुनिक साहित्य में प्रस्तुत किया गया है । इसकी भूमिका के रूप में जो विस्तृत और गंभीर निबन्ध लिखा गया है उससे वास्तव में हिन्दी-साहित्य की पूरी अर्धशताब्दी की वैचारिक और समीक्षात्मक सामग्री उपलब्ध होती है । वह आज भी समस्त साहित्यिक आकलन का एक उल्लेखनीय एवं स्मरणीय निबंध है । 1930 से लेकर 1941 तक के हिन्दी साहित्य की कुछ प्रतिनिधि रचनाओं का विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है । लेकिन स्वयं वाजपेयी ने यह बात मान ली है कि "इस रचना में न तो इन वर्षों के सभी प्रमुख साहित्यिकों और उनकी कृतियों का क्रमबद्ध उल्लेख है, न इस समय के साहित्य के संपूर्ण विकास-क्रम और उसकी सारी प्रवृत्तियों का परिदर्शन किया गया है । रचनाकारों का धारावाहिक, संतुलित और समग्र विवेचन और मूल्यांकन भी उसमें नहीं है । किसी एक व्यक्ति, कृति या प्रवृत्ति को लेकर लिखे गये ये निबन्ध प्राय: एक दूसरे से स्वतंत्र हैं । विवेचना का आधार भी सामान्य और एकरस नहीं है, दृष्टि कभी एक तथ्य पर और कभी दूसरे तथ्य पर जा पहुंची है ।[1]" आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को हिन्दी के प्रथम और युग-प्रवर्तक आचार्य माना गया है । द्विवेदीयुगीन काव्यप्रवृत्तियों में नई चेतना की आरंभिक स्थिति मानते हुए उसे एक प्रकार का संक्रांतिकाल बताया है । प्रेमचन्द को एक आस्थावान एवं प्रगतिशील लेखक माना गया है । समीक्षा के क्षेत्र में साहित्य की गंभीर विवेचना का मार्ग दिखा देने का श्रेय वे भी आचार्य शुक्लजी को ही देते हैं । नव्यतर प्रगति, नवीन प्रगति, प्रगति

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ.9

रचनाएँ आदि के विवेचन से होते हुए ही उन्होंने काव्य-जगत् में निराला, पंत आदि के प्रवेश की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है । नव्यतर प्रगति का आरंभ वे 1920 के आसपास से मानते हैं तथा प्रगीत रूपों की चर्चा में छायावादी काव्य के व्यापक स्वरूप की ओर संकेत करने के साथ ही उसकी उन विशिष्टताओं का भी उल्लेख किया है जो उसे परवर्ती काव्यधारा से पृथक् अस्तित्व प्रदान करती हैं । पंत-प्रसाद-निराला को निस्संकोच वे नई चेतना के कवि घोषित करते हैं । उनकी राय में "पंत और निराला ने नये प्रगीत का नितांत नई कल्पना से अभिषेक किया, भाषा की नई वेष-भूषा दी, अभिव्यंजना की नूतन मुद्राएँ और भंगिमाएँ भेंट कीं । कविता-कामिनी अब नये स्वरूप में सजकर प्रस्तुत हो गयी । इसे नया रूप और नयी कांति, नया कलेवर और नयी लय-गति इन दोनों कवियों ने प्रदान की । प्रगीत नए युग का काव्यप्रतीक बना ।"[1]
इन तीनों कवियों के काव्य-विकास की चर्चा भी भूमिका में हुई है । मुक्तछन्द के प्रयोक्ता निराला में स्वच्छन्दता का निर्बाध एवं निस्सम प्रयोग वे देख लेते हैं तथा उनकी भाषा में लक्षित स्वच्छता, प्रवाह और गांभीर्य की वे सराहना करते हैं । पंत की "वीणा", "ग्रंथि", "उच्छ्वास", "पल्लव", "परिवर्तन" आदि प्रारंभकालीन उपलब्धियों में वे हिन्दी-प्रगीत की उच्चतम परिणति की परिकल्पना करते हैं, किंतु बाद की कविताओं में वह विद्रोहात्मक, ओजस्विनी वाणी उन्हें नहीं सुनाई देती जो उस सन्दर्भ में आवश्यक थी । सांस्कृतिक ऊँचाइयों तक ले जाने वाले राष्ट्रीय गीत एक प्रगतिशील समाज केलिए वे आवश्यक मानते हैं जिनका अभाव उन्हें निराश एवं दु:खी बना देता है । इसीलिए पंतजी का काव्यक्षेत्र जब नया मार्ग पकड़ता है तो उन्हें कहना पड़ा कि 1932 या उसके आसपास पंतजी कवि के बदले कलाकार अधिक हो गये और काव्य-रचना के स्थान पर कुछ ऐसी कृतियाँ करने लगे, जो ललित की अपेक्षा उपयोगी अधिक थी

---

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ.25

अथवा जो सीधे ही क्यों न कहें, काव्य की अपेक्षा काव्याभास अधिक थीं । ~~साहित्य और कविता की शैलियाँ बदलती हैं, पैमाने बदलते हैं, पर इतना नहीं कि कविता और साहित्य वे पहचान हो जाय ।~~[1] सन् 1935 से लेकर हिन्दी-प्रगीतों को जो नया रूप प्राप्त होता है उसका भी उल्लेख वाजपेयी जी ने किया है । अंतर्मुखी प्रवृत्ति से संयुत महादेवी की रचनाएं वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रता प्रकाशित करनेवाली बच्चन की रचनाएँ आदि का मूल्यांकन यद्यपि अधिक कठिन लगता है फिर भी वे बताते हैं कि उन गीतों का भी ज़रूर अपना महत्व है । बच्चन की परवर्ती रचनाओं में कला की एक स्वस्थतर उद्भावना तथा भावना की अनोखी एकाग्रता उन्हें दर्शित होती है । लेकिन महादेवी और बच्चन की वैयक्तिक भावना से युक्त एकांतिक रचनाओं से होकर आगे बढ़ी हुई नये कवियों की वाणी को वे समाज के प्रति पूरी तरह अनुत्तरदायी मान लेते हैं । प्रगति-भावना की स्वच्छन्दता के नाम पर सभ्यता को ताक पर रखनेवाली, कोरे बुद्धिवाद को प्रश्रय देनेवाली अतियथार्थवादी रचनाओं को किसी भी स्थिति में श्रेष्ठ मानने को वे तैयार नहीं है ।

आख्यानक काव्य, नाट्यसाहित्य, उपन्यास और कहानी, पश्चिमी यथार्थवाद और पश्चिमी समीक्षा आदि पर भी आधुनिक साहित्य की भूमिका में विचार किया गया है । साहित्य की नव्यतम प्रगति में कई तरह की बाधाएँ वे देखते हैं । साहित्य पर विज्ञान अथवा बुद्धिवाद का दबाव या पश्चिमी यथार्थवाद एवं समीक्षा का गहरा दबाव वे हितकर नहीं मानते । यथार्थ के नाम पर कुछ चुने हुए वैज्ञानिक क्षेत्रों से सामग्री लेकर वास्तविक मानव-चरित्र और उसके सामाजिक विकास क्रम का पूरा परिदर्शन वे असंभव मानते हैं । उनके विचार में ऐसा करने से जीवन के निजी अनुभवों,

---

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ.33

समाज की गतिविधियों तथा साहित्यिक मूल्यों के लिए साहित्य में स्थान न रह जाएगा । विज्ञान का पल्ला पकड़कर साहित्य के नाम पर हीन और रुग्ण भावों के चित्रण को वे प्रश्रय नहीं देते । नये प्रयोगों और प्रणालियो के चक्कर में पड़कर निजी व्यक्तित्व-शताब्दियों से चली आती हुई सांस्कृतिक गरिमा को खो देने की बात भी उन्हें खटकती है । इसलिए हमारी राष्ट्रीय चेतना एवं संस्कृति की संवर्द्धक एवं सुरक्षा की अवश्यकता की ओर बार-बार वे ध्यान दिलाते हैं । हर एक मान्यता में उनका राष्ट्रवादी रूप उभर आता है । साहित्य के देशज स्वरूप को किसी बाहरी प्रभाव से क्षति पहुँचाना वे कभी नहीं चाहते । वे कहते हैं "किसी स्वस्थ और विकासोन्मुख समाज के लिए बुद्धि का इतना विराट परिचालन न तो संभव है, न आवश्यक या उपयोगी हो । इसलिए पश्चिम के अस्ताचलगामी सूर्य से प्रकाश लेने की साधना हमें छोड ही देनी चाहिए ।"[1] इस कथन का मतलब कदापि यह नहीं है कि वाजपेयी जी पश्चिमी विचारधाराओं का विरोध करनेवाले हैं । साहित्यिक मूल्यों को सुरक्षित रखने में सहायक रहनेवाले सभी तत्व उन्हें सदैव स्वीकार्य है । लेकिन ऐसे उपादानों से निश्चय ही वे दूर रहने के इच्छुक हैं जिनसे साहित्य का निजी स्वरूप खतरे में पड़ता है, जिनसे उसकी साहित्यिकता नष्ट हो जाती है । मतवादों का समर्थन इसीलिए वे कर नहीं पाते । जहाँ भी हो, साहित्य को स्वतंत्र रूप से फलने-फूलने का अवसर मिलना है यही उनकी राय है ।

पश्चिमी साहित्य-विवेचन में कला-विज्ञान का जो दार्शनिक मत है उसका वाजपेयी जी भी समर्थन करते हैं । उनके विचार में काव्य-वस्तु और उसकी समस्त निर्माणात्मक प्रक्रियाओं का सुंदर और प्रशस्त विवेचन पश्चिमी कला-विज्ञानियों ने (Aestheticians) किया है । काव्य और कलाओं की मूल प्रेरणा और उसके स्वरूपगत तत्वों का इतना परिपूर्ण विवेचन

---

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ.5।

कहीं अन्यत्र वे नहीं देखते । इस प्रकार के स्वतंत्र विकास को ही वे महत्वपूर्ण मानते हैं । लेकिन पश्चिमी दृष्टि के महत्व को मानते हुए भी भारतीय तत्वों को किसी भी स्थिति में खो देना वे नहीं चाहते । भारतीय समीक्षाशास्त्र और समीक्षा-विधियों का नया अनुशीलन और अन्वेषण वे आज की परिस्थिति में अत्यंत आवश्यक समझते हैं । भारतीय काव्यशास्त्र पश्चिमी काव्यमत दोनों के ज्ञाता वाजपेयी जी यही आग्रह प्रकट करते हैं कि भारतीय तत्वों का अपनापन खोये बिना पश्चिम के प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण करना ही हमारे साहित्य एवं जीवन के विकास के लिए आवश्यक है ।

महाकवि सूरदास

महाकवि सूरदास वाजपेयी जी की व्यावहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट निदर्शन है । यद्यपि सूरदास के व्यक्तित्व और कवित्व की विशद विवेचनाएँ अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी है तो भी वाजपेयी जी की समीक्षा का अपना महत्व है । सूरदास के जीवन और कृतित्व का यह विश्लेषणात्मक अध्ययन सूर-साहित्य के अध्येताओं के लिए महान पृष्ठभूमि अदा करता है । वाजपेयी के दृष्टिकोण की यह विशेषता रही है कि प्रशंसा और निंदा दोनों की अति से वे सदैव दूर रहे हैं । व्यक्ति या विषय उनके लिए चाहे जितना ही प्रियंकर क्यों न हो, आवश्यकता पड़ने पर उसके विरुद्ध अपना मत प्रकट करने में भी वे कभी नहीं चूकते । सूर के अध्ययन से संबंधित विविध सामग्रियों का उपयोग करते हुए भी उन प्रसंगों का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है जहां-जहां अन्य विद्वानों की मान्यताओं से सहमत होने में कठिनाई महसूस हुई है ।

"महाकवि सूरदास" का प्रकाशन सन् 1953 में हुआ । यह कृति आठ अध्यायों में विभक्त है जिनके द्वारा सूर-काव्य के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन हुआ है । सूरदास भक्तिकाल के कवि है । अत: पहले और दूसरे अध्याय में क्रमश: भक्ति का विकास और भक्ति संबंधी दार्शनिक संप्रदायों का प्रतिपादन हुआ है । भक्ति के विकास को स्पष्ट करते हुए भक्ति-विषयक समस्त भारतीय साहित्य का लेखक ने उल्लेख किया है उनके विचार में "सामान्य अनुराग, समादर और श्रद्धा से आगे बढ़कर क्रमश: जीवन में जो अपार निष्ठा सन्निविष्ट होती है, वही भक्ति का नाम ग्रहण करके एक महती जीवन साधना बन जाती है ।" वेदों और उपनिषदों में भक्ति का जो स्वरूप रहा है, ब्राह्मण काल, सूत्रकाल, महाकाव्य एवं गीता-काल तथा पौराणिक युग में उपासना की जो-जो प्रणालियाँ रही हैं उन सबका अध्ययन वाजपेयी ने किया है । जीवन के विभिन्न पक्षों में पूर्णता लाने में भक्ति का जो अपूर्व योगदान है उस साधना-मार्ग के अत्यंत गहन एवं एकांतिक होते हुए भी उसका लोकपक्ष कितना प्रशस्त, उदात्त एवं व्यापक है यह स्पष्ट करने का प्रयास इन अध्यायों में हुआ है । अत्यंत गवेषणात्मक ढंग से भक्ति के विकास का विवेचन किया है । जीवन-दर्शन के विकास-क्रम में ही भक्ति का विकास भी देखा गया है । भारतीय धर्म की एक विशेष साधना के रूप में उसे प्रस्तुत किया गया है । भक्ति के विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के विवरण में शुद्धाद्वैतवाद के पुष्टिमार्ग का स्पष्टीकरण अधिक विस्तार से हुआ है । स्वतंत्रतापूर्वक उद्धरणों का उपयोग करने से इन दो अध्यायों में समीक्षात्मक अंश कम हो गया है । तीसरे अध्याय का प्रतिपाद्य सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व है । अन्य विद्वानों की भाँति यद्यपि वाजपेयी जी ने भी लब्ध प्रतिष्ठित अनेक विद्वानों की मान्यताओं का आधार ग्रहण किया है तो भी सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व के विषय में कुछ नवीन तथ्य प्रकाश में लाने में वे समर्थ न हुए हैं । जिन बातों का उल्लेख उन्होंने किया है वे तो अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के प्रमाणों पर आश्रित हैं ।

"आत्मपरक भावभूमि" इसका चतुर्थ अध्याय है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है । रीतिकालीन श्रृंगारी कृष्णकाव्य और भक्त कवियों के कृष्णकाव्य का अंतर इसमें स्पष्ट किया गया है । श्रृंगारी कवियों के लिए जहाँ कृष्ण नायिकाओं के आमोद-प्रमोद के वासनामयी विलासमयी चेष्टाओं के प्रेरक रहे वहाँ सूर ने उनका पवित्र रूप प्रस्तुत किया है । वे लिखते हैं, दिव्य जन्म-कर्मवाले कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उपरांत जो कृष्ण का नख-शिख सौंदर्य-वर्णन है उसके द्वारा कलाओं का श्रृंगार पवित्र हो उठा ।[1]" वे देखते हैं कि भक्तिकालीन कवियों ने मानव की समस्त भावनाओं का विस्तार कर उन्हें रामकृष्णमय बना दिया । भक्ति एवं दर्शन का, भक्ति एवं काव्य का समन्वय उनके काव्य में हुआ है । वाजपेयी जी ने यह देखने की चेष्टा की है कि सूर-काव्य इस कसौटी पर कहाँ तक खरी उतरता है । सूर के काव्य की भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक पीठिका तैयार करते हुए उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की है कि सूर की परम निगूढ भक्ति की साधना जब कविता में अपनी सिद्धि पाती है - जब हिमालय के हिमखंड द्रवित हो कर जल-धारा बनते हैं - जो जलधारा गंगा-जमुना आदि के रूप में देश का शुष्क हृदय सींचती, असंख्य कंठों की तृषा शीत करती है - तब उसका क्या स्वरूप होता है[2]।" उनकी कविता की गेयात्मकता, छोटे-छोटे भावचित्र, शब्द-साधना और लय-साधना, शुद्ध भावनामयी लयकारी शब्द, तन्मयकारी संगीत आदि पर प्रकाश डालते हुए वे उसे श्रेष्ठगीतकाव्य की कोटि में स्थान देते हैं । महाकाव्य के लिए अपेक्षित तत्वों के भी वे इसमें दर्शन करते हैं । बालकृष्ण में अलौकिक शक्तियों का समावेश करके जो अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन सूर ने किया है, उस गुणगान का जो महान उद्देश्य कवि का रहा है वही उनकी दृष्टि में एक महाकाव्य के लिए पर्याप्त है ।

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.84
2. वही, पृ.85

मनोविज्ञान के पंडितों को सूर के काव्य में जो कुछ असंगति अनुभव होती है उसकी भी स्पष्ट विवेचना वाजपेयी जी ने की है । साहित्यिक मनोविज्ञान के विद्यार्थी को सूर का यह चमत्कार बहुत अधिक रुचेगा कि उन्होंने अकथ, अनादि, अनंत, अनूप, गुणमय भगवान को कृष्णरूप में अवतरित किया है । इस अवतार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह पड़ता है कि कृष्ण अतिशय आकर्षण-संपन्न और तेजस्वी बनकर हमारे सम्मुख आते हैं । चाइल्ड हेराल्ड की विशाल सृष्टि करनेवाले प्रेमी कवि बाइरन तथा जॉन क्रिस्टोफर की विशाल सृष्टि करनेवाले रोम्या रोलाँ से कहीं अधिक चमत्कार और शक्तिपूर्ण अनुभव सूर के कृष्ण के अवतरण में वाजपेयी जी को होता है ।

वाजपेयी जी सूर के कृष्ण-चित्रण को सभी दृष्टियों से सार्थक मानते हैं । वे कहते हैं कि सूर के विचार में कृष्णावतार से जगत की सत्ता और महिमा बहुत बढ़ गई, कृष्ण द्वारा मनुष्य-शरीर धारण करने से मनुष्य शरीर अधिक महिमामय बन गया तथा कृष्ण की प्रत्येक लीला को उनका वास्तविक कृत्य मानकर मनुष्यों को उनमें एक विशेष प्रकार की रुचि उत्पन्न हो गई । सूर-काव्य में चित्रित प्रेम की मार्मिक व्यथा, अनुराग-विराग की वृत्तियाँ, सद्-असद्वृत्तियाँ आदि में वे संत कवियों की धारणाओं का आभास पाते हैं । "दार्शनिक पीठिका" नामक पाँचवें अध्याय में सूर-सागर के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । इसमें लेखक स्थापित करते हैं कि सूर की भक्ति ठोस दार्शनिक भूमि पर स्थित है । "सूरसागर" के कृष्ण की प्रमुख विशेषता वे यह देखते हैं कि इसमें कृष्ण "बहुनायक" कहे गये हैं । यहाँ कृष्ण व्यापक प्रकृति में प्रसार करते हैं, माता को पुत्र रूप से, मित्रों को सखा रूप से, प्रेमिकाओं को प्रियतम रूप से आह्लादित करते हैं । यह अत्यंत मनोरम किंतु रहस्यपूर्ण कथा "सूरसागर" की निजी विशेषता है । सारा व्रजमण्डल श्रीकृष्ण के संबंध से सुखी होता, उनके वियोग से दुःख में डूबता और प्रत्येक प्रकार से उनका ही अनुवर्ती बनता है ।

रासलीला भी उनकी दृष्टि में इस बात का सांकेतिक निदर्शन है. कि सब ओर से सर्वस्व समर्पण होने के पश्चात् श्रीकृष्ण की अखण्ड सत्ता ही दृष्टिगत होती है और यहाँ आकर सूरसागर का आध्यात्मिक लक्ष्य पूर्ण होता है । "सूरसागर" के सांस्कृति-नैतिक पक्ष के विवेचन में वाजपेयी जी ने वेदांत का स्वरूप, ईश्वर की सत्ता आध्यात्मिक शब्द के अर्थ की व्यापकता, हिन्दू-धर्म की व्यापकता आदि की ओर पाठकों का ध्यान खींचा है । ऊँची से ऊँची और सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों को जीवन का अभिन्न अंग बना लेना ही उनकी दृष्टि में आध्यात्मिकता है । वेदों और पुराणों में वर्णित कई बातें आज के आलोचकों को संदेहास्पद और प्रश्नपूर्ण हो गयी है । उन्हें उचित समाधान देते हुए वे बताते हैं कि इन प्रश्नों का सम्यक् और प्रामाणिक उत्तर प्राप्त करने केलिए हमें प्रमुख, दार्शनिक साहित्यिक तथा धार्मिक ग्रंथों का यथातथ्य अनुशीलन करना चाहिए और शैली-संबंधी भेद को दूर करके उनमें अंतर्निहित एकता के सूत्र को पकडना चाहिए ।

कृष्ण-गोपी लीला के प्रसंग को सूर ने जिस खूबी से चित्रित किया है उसकी स्वाभाविकता एवं तन्मयता पर वाजपेयी जी मुग्ध हो जाते हैं । उपदेशात्मकता या कृत्रिमता का नाम तक न होने देकर, अंध और पाशव वासना को अत्यधिक संस्कृत रूप देकर उसे मानवोपयोगी एवं समाजोपयोगी बनाने की सूर की कुशलता को वे बिलकुल सराहनीय मानते हैं । चीर-हरण के प्रसंग को वे एक नवीन व्याख्या देते हैं । उनके विचार में चीर-हरण कोई असंभव या असत्य कृत्य नहीं । सामाजिकता या कर्म की तुला पर देखने पर मालूम होता है कि जो गोप-कुमारियाँ अनन्य भाव से कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करना चाहती हैं वे कृष्ण से किसी बात का दुराव नहीं कर सकतीं । उन्हें सच्चे अर्थ में असंकुची होना चाहिए यह धर्म की व्यवस्था है । एतदर्थ चीर-हरण की योजना उनके प्रेम की परीक्षा है

यही, वाजपेयी जी की राय है । वे इसे किसी भी दृष्टि में अश्लील नहीं मानते । वे बताते हैं कि यदि कृष्ण ने अन्य पुरुषों के समक्ष गोपियों को नग्न वेश में देखने की इच्छा प्रकट की हो तो तो उसमें अश्लीलता का आरोप किया जा सकता था । धार्मिक दृष्टि से यह मायापति कृष्ण की एक अलौकिक लीला है जो हमारे अनुकरण की वस्तु न है, न हो सकती है[1] । सूर की वियोग-सृष्टि को भी वे अनुपमा मानते हैं । और इस दृष्टि से उसका महत्व और भी बढ़ गया है कि "गोपियों की अश्रुधारा से अपना सागर भरने के पूर्व इस महाकवि ने अनुराग के विशद आकर्षण का आलोक आकाश रूप में ऊपर फैला दिया[2] ।" वाजपेयी जी साहित्य और कला के पारखी है । अत: इस विशद नैसर्गिकता का मूल्य और महत्व समझने की क्षमता उनमें निहित है । रवीन्द्र नाथ की उर्वशी से सूरसागर की तुलना करते हुए वे कहते हैं कि गोपी- चीर-हरण वर्णन "उर्वशी" में चित्रित अप्सरा के अनावृत नारी रूप के भव्यतम वर्णन से कम महत्वपूर्ण कभी नहीं । चीर-हरण लीला के प्रसंग में अंतर्निहित महान तत्व का स्पष्टीकरण करते हुए वाजपेयी जी ने जो बातें व्यक्त की हैं वह विशेष ध्यान देने योग्य है । सोलह सहस्र गोपकुमारियों का एक ही कृष्ण द्वारा चीर-हरण किये जाने के विषय में उनका कहना है कि साहित्यिक दृष्टि से यह कोई समस्या नहीं, केवल कला की एक योजना है । कवि का आशय किसी विशेष गोपी का किसी विशेष पुरुष के द्वारा चीर-हरण कराकर उसे लज्जित करने का नहीं है । वह एक सामूहिक भाव या तथ्य को, प्रकृति और पुरुष के आत्यंतिक एकत्व को प्रकट करना चाहता है । यह कवि की व्यक्तिगत पवित्र भावना का एक मनोवैज्ञानिक प्रमाण है । ····· वास्तविक आशय पति-पत्नी के सत्य-सम्मिलन के अतिरिक्त और कुछ नहीं[3] ।"

1· महाकवि सूरदास, पृ·120

2· वही, पृ·121

3· वही (भूमिका), पृ·14

छठे अध्याय में नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सूरदास के विषय में उठी हुई शंकाओं के स्पष्टीकरण की ओर ध्यान दिया गया है । लेखक बताते हैं कि गीता और भागवत में चित्रित तटस्थ, भावना प्रधान, लीलारत, निस्संग और निर्लेप कृष्ण को सामने रखकर ही कृष्णचरित के सांस्कृतिक एवं नैतिक पक्ष का उद्घाटन हो सकता है । इसमें यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि सूर का काव्य युग की सांस्कृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति करता है तथा एक नए सांस्कृतिक धरातल का निर्माण भी करता है जिसकी सीमा में उनकी रचनाएँ उच्चतम जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति कर सकी हैं । सूरकाव्य के अंतर्गत जहाँ कहीं कुछ अतिशय शृंगार के स्थल आ गए हैं और जो आधुनिक मानों के अनुकूल नहीं पड़ते उनके प्रति वाजपेयी जी ने बड़ी ही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखी है । बिलकुल समन्वयात्मक दृष्टि से संपूर्ण काव्य को प्रकृत भूमि पर ग्रहण करके उनकी मनोवैज्ञानिक प्रौढ़ता को स्पष्ट किया है ।

सातवाँ अध्याय "प्रतीक-योजना" में सूरकाव्य विषयक कुछ साहित्यिक शंकाओं का समाधान किया गया है । सूरदास के कृष्ण का स्वरूप, उनका बाल वर्णन, रासलीला मुरलीमाधुरी, चीरहरण लीला, भ्रमरगीत आदि से संबंधित प्रसंगों में वाजपेयी जी को अलौकिकता का आभास होता है कवि-प्रतिभा के साथ उसमें भक्ति की पराकाष्ठा भी वे दर्शाते है । काव्य सहज सरसता के साथ ही दार्शनिक तथ्यों का भी वे साक्षात्कार करते हैं । सूर की कविता में प्राप्त मनोवैज्ञानिक चमत्कार तथा लयकारी प्रवाह को वे अतिशय महत्वपूर्ण मानते हैं । उनकी दृष्टि में "सूर की लाक्षणिक शैली ऐसी उच्च कोटि की है कि कविता और दर्शन की धाराएँ "सूरसागर" में समानांतर होकर बहती हैं, कोई विशेष नहीं पड़ता । जैसे अंत:सलिला सरस्वती, गंगा और यमुना के बीच में हो, ऐसा ही सूर की कविता-सरिता के उभय उपकूलों के बीच उनका लाक्षणिक अर्थ है ।" रासलीला,

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.125

चोलीबंद तोड़ने की कला दोनों सूर की कविता के उच्च स्तर को, काव्य प्रवाह को बनाये रखने के लिए आवश्यक था, यही उनकी राय है । कृष्ण के निर्लिप्त रूप की झलक सभी प्रसंगों में उन्हें होती है । वेणु-गीत के प्रसंगों को लेकर भी अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं । जो बाँस की बाँसुरी कृष्ण को अपने वश में कर कृष्ण की प्राणस्वरूप गोपिकाओं की भी अवहेलना करने में समर्थ है उसे वे बिलकुल असाधारण बाँसुरी मानते हैं । नाम-महिमा के वर्णन में तन्मयता की सृष्टि में तुलसी ही सर्वाधिक सफल मानी जाते हैं किंतु वाजपेयी जी सूर के इस कार्य को अधिक महत्व देते हैं कि सूर ने कृष्ण की बंशी को नाम का प्रतीक मानकर काव्य जगत् में एक नई दुनियाँ की सृष्टि की है । उनके मत में तुलसी के नाम की महिमा बुद्धिग्राह्य है किंतु सूर की बंशी की महिमा प्रत्यक्ष है । उनके विचार में तुलसी का नाम-माहात्म्य भक्तों के लिए मान्य है, परंतु सूर की बंशीध्वनि अधिक व्यापक क्षेत्र में अधिक सरस रीति से अधिक स्पष्ट प्रभाव दिखाती है[1]। उनका विश्वास है कि भक्त जनों के लिए तो तुलसी की नाम-महिमा और सूर की मुरलीमाधुरी दोनों समान रूप से मूल्यवान होते हुए भी काव्य के विचार से सूर के पदों के प्रति ही लोकरुचि अधिक रहेगी । कारण भी वे यह बताते हैं - तुलसी के नाम-गुणगान में निश्छल उद्गारों का एक स्वच्छ प्रवाह है और विश्वास की ऐसी लयकारी तरंग है जो बिना सूचना दिए ही अपनी ओर खींच लेती है, किंतु सूर की बंशी-ध्वनि में वह मोहिनी लय है जिसमें स्वेच्छा से ही जीव लीन होते, स्वेच्छा से ही तन्मय हो जाते हैं[2]। उनकी दृष्टि में रासलीला निश्चय ही पवित्र कार्य है क्योंकि वह गोपिकाओं के जन्म भर के आचारनिष्ठ एवं धर्मनिष्ठ जीवन का अंतिम परिणाम है भ्रमरगीत के प्रसंग में भी लेखक कृष्ण के चरित्र की दिव्य आभा के दर्शन करते हैं । उनकी राय में भ्रमरगीत की योजना द्वारा कवि कृष्ण की अलौकिक लोग-लीला के साथ-साथ, गोपों का, गोपियों का, भक्तों का

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.130
2. वही पृ.131

स्वयं अपना तादात्म्य स्थापित कर सके हैं[1]। गोपियों और उद्धव के बीच के निर्गुण-सगुण विषयक तर्क में भी कृष्ण के प्रति गोपियों के उत्कट अनुराग की व्यंजना को वे अधिक महत्व देते हैं। निस्संदेह वे स्थापित करते हैं कि सूर के काव्य का एकमात्र आशय अनन्य भाव से भगवान की अलौकिक लीलाओं का सौंदर्य-चित्रण करना है। उनकी दृष्टि में कवि के कृष्ण की भावना स्वयं कवि की अपनी भावना है।

काव्य सौंदर्य नामक अंतिम अध्याय में सूरकाव्य के वास्तविक सौंदर्य का उद्घाटन हुआ है। इसमें सर्वप्रथम सूर के वर्णन की कुछ असफलताओं को उल्लेख है। बाद में इसमें लक्षित भाव सौंदर्य एवं कलात्मक विशेषताओं की ओर संकेत किया है। उसकी कलाजन्य विशेषताओं और काव्योत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिए वाजपेयी जी ने काव्य के द्वारा उत्पन्न किए गए चारित्रिक महत्व, कवि की रचना-चातुरी और मनोभावना तथा उसके प्रभावों की सम्यक् परीक्षा की है। सूरदास का उद्देश्य कृष्ण का चरित्रांकन था। इसलिए कृष्णचरित्र से संबंधित दशमस्कंध पर सूर का ध्यान अधिक रहा है। शेष स्कंधों की कथा को वाजपेयीजी परंपरा-पालन अथवा भूमिका मात्र मानते हैं क्यों कि दशमस्कंध की कला में ही कवि की काव्य कला का सर्वाधिक विकास हुआ है। सूर के काव्य में श्रीकृष्ण के जीवन की झांकी, अत्यंत मनोरम रूप और भावसृष्टि इन तीनों विशेषताओं के दर्शन करते हैं। मनोगतियों और रूप-वर्णनों के भीतर कथा के विकास के सम्मिश्रण में वे सूरदास को सर्वाधिक सफल सिद्ध करते हैं। कृष्ण के बालचरित पर मुग्ध होने के कारण वे सूर को मुक्तक गीतों के अंतर्गत सारे कथासूत्र की रक्षा करने में समर्थ मानते हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व कुछ अपने सहज सौंदर्य से, कुछ माता के स्नेहातिरेक के कारण तथा शेष कुछ पिता के ग्रामाधिपति होने के कारण

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.236

प्रमुख रूप से सामने आता है और अंत तक निसर्गत: प्रमुख ही रहता है । आध्यात्मिक काव्य के लिए आवश्यक सभी विशेषताएं कृष्णचरित में वाजपेयी जी को परिलक्षित होती हैं । उनके मत में धार्मिक या आध्यात्मिक काव्य की सफलता वहाँ होती है जहाँ रहस्यात्मक पुट के साथ मनोवैज्ञानिक विश्व-सनीयता का भी सामंजस्य हो । "सूरसागर" में कृष्णजन्म, अन्न प्राशन संस्कार, बालक्रीडाएँ सभी प्रसंगों में वे इस असाधारणता तथा रहस्यात्मकता का बहुत ही नैसर्गिक रूप से प्रस्फुटन देखते हैं । उनके मत में पाप-पुण्य निर्लिप्त शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से ही इस काव्य में मानवीय लीला, चीर-हरणलीला आदि के प्रसंग प्रस्तुत किए गए हैं । चोरी करते हुए भी कृष्ण गोपियों के मोद के हेतु तथा उपास्क बन जाते हैं । अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है । यह रहस्य प्रकृत काव्य-वर्णना का अंग बनकर आया है, यही सूरदास की विशेषता है । भक्तिकाव्य के इस कौशल की वाजपेयी जी प्रशंसा करते हैं । लेकिन कोरी और स्थूल शृंगारिकता के कारण कुछ स्थलों पर उनका रहस्यात्मक पक्ष नीचे दब गया है । लेखक की दृष्टि में यह कवि की असफलता है ।

काव्य-चरित्रों में शील-शक्ति-सौंदर्य की पराकाष्ठा को अनिवार्य मानने की शुक्लजी की जो धारणा है उसे वाजपेयी जी भ्रामक मानते हैं । उनकी दृष्टि में यह भ्रांति कला की विवेचना में बाधक हुई है । काव्य-चरित्र में किसी गुण की पराकाष्ठा नियोजित करने के साथ उसकी प्रतीति की पराकाष्ठा भी नियोजित करने की ज़रूरत वे मानते हैं । ऐसे अनेक दृष्टांतों की ओर वाजपेयी जी संकेत करते हैं जहाँ कथा को कला का स्वरूप देने की चेष्टा नहीं हुई है । ऐसे प्रसंगों में मनोवैज्ञानिक आधार का अभाव वे दर्शाते हैं । जिस उद्देश्य को लेकर सोलह हज़ार एक सौ गोपियों से कृष्ण का संबंध जोडा गया है उसकी पूर्ति में वे सूरदास को असफल सिद्ध करते हैं । इस प्रश्न का समाधान उन्हें यह लगता है कि "इस प्रसंग को यहा

रखने का उद्देश्य केवल कृष्ण की प्रतिज्ञा की पूर्ति करना है कि कोई उन्हें जिस भाव से भजता है उसको वे उसी भाव से मिलते हैं[1]। फिर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उस युग की बहु-पत्नी प्रथा के कुपरिणाम से सूरदास का काव्य भी बचा न रह सका। आज काव्य में जिस नग्न श्रृंगार का चित्रण निस्संकोच भाव से होता आ रहा है उसके समक्ष सूरदास का यह प्रसंग तो केवल बुरा ही नहीं है, बल्कि एक अंश तक उपयोगी भी है। किंतु उनका यही निर्देश है कि "शिष्टाचार के विचार से ऐसे प्रसंगों को मर्यादा की सीमा रखना था[2]।" चीर-हरण-लीला के प्रसंग में प्रयुक्त शैली को भी वे दोषपूर्ण मानते हैं। लेकिन इन त्रुटियों के रहते हुए भी दृढतापूर्वक वे स्थापित करते हैं कि जिस कौशल के साथ राधा और कृष्ण के एकनिष्ठ, व्यक्तिगत, प्रगाढ प्रेम संबंध को सामूहिक स्वरूप सूरदासजी ने दिया है, कृष्ण की प्रेममूर्ति को जिस चातुरी के साथ समाज-व्यापी आराधना का पात्र बना दिया है धार्मिक काव्य के इतिहास में उसके जोड़ की कोई वस्तु शायद ही मिले[3]।" वाजपेयी जी के समीक्षात्मक दृष्टिकोण का सही रूप इस तरह के विवेचनों से प्राप्त होता है। जिस सावधानी एवं सर्तकता से वे काव्य की कलात्मक कमज़ोरियों को कटु आलोचना करते हैं उसी सूंबी से, शायद उससे भी अधिक लगन एवं निष्ठा से उनकी सृजनात्मक उपलब्धियों की उद्घोषणा करते हैं। इसी समन्वयात्मक दृष्टि के कारण एक ओर जहाँ वे सूर के श्रृंगार - वर्णन का सही मूल्यांकन का उपस्थित करते हैं वहाँ दूसरी ओर उसमें लक्षित त्रुटियों की ओर भी संकेत कर सके हैं।

सूर के सौंदर्य-दर्शन को वाजपेयी जी ने रहस्यमय माना है। राधाकृष्ण के प्रेमी-प्रेमिका संबंध का जब समाजीकरण होता है तब भक्ति का आगमन होता है। प्रेमी कृष्ण द्वारा हो आराध्य कृष्ण की स्थापना को

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.149
2. वही, पृ.149
3.

वे काव्य-जगत् में एकदम अनोखा मान लेते हैं । रास की वर्णना में वे सूरदास के काव्य को परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर स्थित देखते हैं । इस प्रसंगको वे निश्चय ही कवि की कला-कुशलता और गहन अंतर्दृष्टि का द्योतक समझते हैं । किंतु मान के वर्णन में राधा की भ्रांति के स्थान पर कृष्ण के अपराधी रूप का उभर आना उनकी दृष्टि में कवि की भावना के अनुरूप सृष्टि नहीं है । उनके मधुरागमन के प्रसंग को वे बहुत ही मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी मानते हैं । वंशी को लक्ष्य कर दिये जानेवाले गोपियों के प्रेमपूर्ण उपालंब, नेत्रों पर किये गये अनेकानेक आरोप आदि जिन-जिन प्रसंगों को आलोचकगण मानसिक विजृंभण कहकर टाल देते हैं उन्हीं वर्णनाओं को वाजपेयी जी कवि की उत्कृष्ट तल्लीनता और सूक्ष्म मानसिक पहुँच तथा अधिकार के द्योतक समझते हैं । व्यक्तसौंदर्य की अव्यक्त और निगूढ अंतर्गतियों द्वारा कृष्ण को रहस्यमयी परम सत्ता का स्वरूप प्र दान कर कवि ने उपास्य कृष्ण की जो प्रतिष्ठा की है । अनिर्वचनीय, रहस्यमय, सामूहिक प्रेम (भक्ति) की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्तिगत प्रेम-प्रसंग एवं बाह्यघटनाओं की जो आयोजना की है वही वाजपेयी जी की दृष्टि में सूरदास की काव्यसाधना है ।

सूर ने अपनी रचना में तीन रसों को अपनाया है - शांत, वात्सल्य और श्रृंगार । किंतु शांत रस के अंतर्गत आनेवाले विनय के पदों एवं वात्सल्य के अंतर्गत आनेवाले बाल-लीला के पदों की अपेक्षा श्रृंगार रस ही वाजपेयी जी का विवेच्य विषय बना है । इस ओर स्वयं वाजपेयी जी ने संकेत किया है कि दार्शनिक पक्ष एवं प्र तीक योजना पर अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता उन्हें न महसूस हुई । अधिक विवाद का विषय सूर का श्रृंगार वर्णन है, वाजपेयी जी के लिए रुचिकर विषय भी वही रहा । यद्यपि इस विषय में उनके विचार अत्यंत मौलिक एवं स्वतंत्र हैं तो भी उनका दृष्टिकोण बहुत सीमित रहा है । किन्तु उसे कभी उनका दोष नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रौढ विचारों को संक्षिप्त शब्दों में अभिव्यक्त करना

उनकी शैली की विशेषता है । विषय की चर्चा करते-करते उससे सहज ही दूर जाने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है ।

इस प्रकार हम देखते हैं, वाजपेयी जी ने सूर-काव्य की समीक्षा के लिए प्रचलित मान्यताओं का उपयोग करने के साथ ही एक नयी अंतर्दृष्टि से काम लिया है । अनुभूति की तीव्रता, तन्मयता एवं उदात्तता वे श्रेष्ठ कला के लिए अपेक्षित मानते हैं और इस आधार पर वे सिद्ध करते हैं कि विषय की व्यापकता के न होते हुए भी सूर-साहित्य किसी भी दृष्टि से तुलसी-साहित्य से निम्न कोटि का नहीं है । उन्होंने सूर की काव्य कला के उदात्त पक्ष एवं मानसिक धरातल को भी अपनी विवेचना का विषय बनाया है । जिस वियोग-वर्णन को शुक्लजी ने बनावटी अथवा अस्वाभाविक बताया है उसके सही विश्लेषण के लिए आवश्यक तथ्य भी वाजपेयी जी ने सूर के सौंदर्य-चित्रण में ढूँढ निकाले हैं । निश्चय ही वाजपेयी जी की स्थापनाएँ सूर-साहित्य को व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हैं । अपने विवेचन द्वारा जहाँ उन्होंने एक ओर युगीन सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना की हैं वहाँ दूसरी ओर एक नयी सांस्कृतिक पीठिका की आवश्यकता की ओर भी संकेत किया है । यहाँ सूर-साहित्य की भूमिका ही अधिकांशतः उनका विवेच्य विषय रहा है जिसके लिए एक मनोवैज्ञानिक धरातल के निर्माण का भी निर्देश किया गया है । यह रचना पुस्तकाकार में भले ही छोटी सही - इसमें प्रस्तुत विचार गंभीर हैं, मूल्यवान हैं । सूरदास के विषय में प्रकाशित रचनाओं में वाजपेयीजी की रचना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होगा, इसमें संदेह नहीं ।

प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन

इस समीक्षा-कृति का प्रकाशन सन् 1954 में हुआ । प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य एवं कथा-साहित्य का विवेचन इसमें हुआ है । इसके प्रारंभ में हिन्दी-उपन्यास के प्रारंभिक स्वरूप में अस्पष्टता के कारण, उपन्यास के स्वरूप-निर्माण में विदेशी उपन्यास कला का स्थान, हिन्दी उपन्यास-परंपरा में प्रेमचंद की स्थिति आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है । आदर्शवाद और यथार्थवाद विषयक प्रेमचंद की धारणाओं पर भी ध्यान दिया गया है ।

प्रेमचंद के प्रति पहले वाजपेयी जी बहुत ही अनुदार रहे । "हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी" में प्रकाशित निबन्ध इस का दृष्टान्त है । इसमें प्रेमचन्द साहित्य के दुर्बल पक्षों के उद्‌घाटन पर ही लेखक की दृष्टि रही थी, उनके साहित्यिक महत्व पर कुछ आशंकाएँ प्रकट की गयी थीं । इस निबंध में उनका विवेचन एकांगी रह गया था । "उन दिनों वे सामान्य के स्थान पर विशिष्ट और व्यक्ति के स्थान पर नवागत के गहण के प्रश्न में लगे हुए थे । प्रेमचंद को यह प्रखर आलोचक वाजपेयीजी द्वारा उस समय हुई थी जब साहित्य संसार में उनकी बडी प्रशंसा हो रही थी और उनके उपन्यास बडे चाव से पढ़े जा रहे थे । वाजपेयीजी ने प्रेमचंद पर कई बातों को शिकायत की थी । एक तो यह थी कि प्रेमचन्द के उपन्यास वर्णन-बहुलता से अधिक जटिल अव्यवस्थित और बोझीले हो गये हैं । दूसरी शिकायत यह थी कि उनके उपन्यासों में न तो गहराई का चरित्र-चित्रण मिलता है न कोई असाधारण विचार संपत्ति । कडे शब्दों में यहाँ तक कहने का साहस किया कि यह क्षेत्र आपका नहीं है ।

यह तो ठीक है कि प्रेमचंद के उपन्यासों में सामाजिक जीवन के सतह पर पात्रों और प्रश्नों को प्रस्तुत करते हैं, प्रश्नों की गहराई में प्रवेश कर सूक्ष्मदृष्टि से, आंतरिक संघर्षों एवं उलझनों पर दृष्टि रखकर समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं परिलक्षित होती । ऐसा लगता है कि उपन्यास की बौद्धिक भूमिका को सशक्त बनाने में वे पूर्णत: समर्थ नहीं हो पाते । प्रेमचंद की इसी कमज़ोरी पर लेखक की दृष्टि गयी थी । उपन्यास के सबल पहलुओं पर उस सन्दर्भ में उनका ध्यान नहीं गया । बिलकुल व्यंग्य पूर्ण शब्दावली में वाजपेयी जी ने कहा - "उनके प्रशंसक समीक्षकों ने उपन्यास सम्राट का खिताब देकर उनका उपकार करना चाहा और प्रेमचन्द जी भी फिलहाल उनके कृतज्ञतापाश में बन्धे हुए हैं ।[1]" उनके परिहास की पराकाष्ठा इस कथन में मिलती है कि "प्रेमचंद के साहित्य को उनके व्यक्तित्व को पूरी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त हुए है[2] ।" प्रशंसा के शब्द भी कहीं-कहीं निकले हैं । उदाहरण केलिए प्रेमचंद की कहानी के विषय में वे बताते हैं कि "कहानी की टेकनिक खड़ी करने में प्रेमचंद जी को कमाल हासिल है । यह, मुक्त कंठ से प्रत्येक समीक्षक स्वीकार करेगा । हमारा तो अनुमान है कि इतने सीमित क्षेत्र में इतना अधिक साहित्य निर्माण करना प्रेमचंद के कला - कौशल का निश्चित प्रमाण है और हम तो यह नहीं जानते कि संसार के किस दूसरे उपन्यासकार ने इतनी थोड़ी सामग्री से इतना विशाल साहित्य-सृजन किया है[3] ।"

भारतीय परिस्थितियों, खासकर भारतीय ग्रामों का जो व्यापक ज्ञान, ग्रामीण जनों के जीवन का जो समृद्ध अनुभव, प्रेमचंद को था, ग्रामीण जनों के प्रति उनमें जो अपार, अतिशय सहानुभूति रही, उनके सभी उपन्यास इसके दृष्टांत हैं । नैतिक दृष्टिकोण को जीवन भर-अपनी कृतियों में - प्रमुख स्थान देने में वे सदैव सफल रहे । यह तो उनकी एक उल्लेखनीय विशेषता थी । लेकिन वाजपेयी जी को इसकी प्रतीति होने में देर लगी ।

---

1. प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ.87-88

देर से ही सही, प्रेमचंद की इन विशिष्टताओं से वे प्रभावित हुए जिसका परिणाम था उनकी रचना "प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन" । पहली मान्यताओं में जो त्रुटि रही उसे दूर करने का प्रयास इस विवेचन में हुआ है । इस पुस्तक में प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य एवं कथा-साहित्य की विवेचना एवं मूल्यांकन हुए हैं । प्रेमचंद की साहित्यिक कमज़ोरियों की ओर संकेत किये जाने के साथ ही उनकी खूबियों को भी उजागर किया गया है । हिन्दी उपन्यास परंपरा में प्रेमचन्द का स्थान निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा कि "उपन्यास के इस निर्माण और अनुवाद के आरंभिक युग को पार करते ही हम हिन्दी-उपन्यासों के उस नए युग में पहुंचते हैं जिसका शिलान्यास प्रेमचंद जी ने किया और जिसमें आकर हिन्दी-उपन्यास एक सुनिश्चित कला स्वरूप को प्राप्त कर अपनी आत्मा को पहचान सका तथा अपने उद्देश्य से परिचित होकर उसकी पूर्ति में लग सका ।"[1]

इस साहित्यिक विवेचन में लेखक ने प्रेमचंद के उपन्यासों के कथा-विवेचन, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य सभी प्रमुख अंगों पर ध्यान दिया है । कला की दृष्टि से उनके अधिकांश उपन्यासों को श्रेष्ठ मानते हुए भी कथोपकथन चरित्र-चित्रण, वस्तु-संगठन, समस्याओं एवं समाधानों के प्रस्तुतीकरण आदि को लेकर अनेक त्रुटियों का उल्लेख किया गया है । उनके विचार में "सेवासदन" में एक महान उत्साह से प्रेरित होकर असंभव को संभव कर दिखाने की प्रवृत्ति प्रेमचंद के विचारों के मूल में काम करता है । लेखक को यह त्रुटि खटकती है कि समस्या के आर्थिक कारणों की ओर उपन्यासकार की दृष्टि नहीं गयी, वे इसे (वेश्या-समस्या को) सामाजिक कुरीति के रूप में ही देख पाए हैं । अतिरंजित कथोपकथन, कथा का अनावश्यक विस्तार, असीम तार्किक वृत्ति, सुमन की विनोदवृत्ति की अप्रासंगिकता, भाषा में समरसता का अभाव मुसलमान पात्रों से उर्दू में बात कराने की व्यवस्था से उत्पन्न बेढंगा वातावरण आदि अनेक दोष वाजपेयी जी इस कृति में दर्शाते हैं ।

---

1. प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन, पृ.14

"प्रेमाश्रम" में चित्रित ज़मीन्दार-किसान संघर्षों, मुंशी, कारिंदे आदि के कारनामों, अदालत की कार्रवाइयों तथा वकीलों, डाक्टरों, पुलिस अफसरों आदि के चरित्रों का प्रतिपादन करते हुए आचार्य वाजपेयी बताते हैं कि इस उपन्यास में प्रेमचंद की साहित्यिक प्रौढ़ता के साथ उनकी कलात्मक महत्वाकांक्षा का भी आभास मिलता है । उनकी बहुमुखी कथा-योजना की सराहना करते हुए वे सिद्ध करते हैं कि ज़मीन्दारों और किसानों के संबंध की कथा, ज्ञानशंकर और गायत्री के संबंध की कथा तथा प्रासंगिक कथा-योजना के रूप में रायबहादुर कमलानंद का आख्यान इन तीनों कथानकों का सम्यक् विन्यास करने में लेखक को संतोषजनक सफलता मिली है यद्यपि बीच-बीच में कुछ कठिनाइयां भी महसूस होती हैं । प्रेमशंकर के चरित्र की एक ही अस्पष्ट रेखा उन्हें दिखाई देती है - अपनी पत्नी श्रद्धा के प्रति उसका व्यावहार । कमलानंद के चरित्र के प्रस्तुतीकरण में भी वे विलक्षणता देखते हैं क्यों कि उसके चरित्र में प्रदर्शित गुणों का उद्गम कहां है, क्यों हम उन्हें एक महान् व्यक्ति मानें इसका कोई स्पष्ट उत्तर उपन्यास में नहीं है । इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में पात्रों की अधिक संख्या, मार्मिक परिस्थितियों और सूक्ष्म मानसिक तथ्यों आदि के चित्रण का अभाव, सुधारों के बाहुल्य के साथ मृत्यु और आत्महत्या आदि इसके प्रमुख दोष हैं । फिर भी वे मानते हैं कि प्रेमचन्द के विचार पक्ष इसमें प्रौढ एवं प्रगतिशील हैं । ज़मींदारी प्रथा के भविष्य के संबंध में मायाशंकर के विचार, गायत्री की वक्तृताएँ, उच्च-वर्ग के जीवन-क्रम पर ज्ञानशंकर की टिप्पणी आदि में वे बडी प्रगतिशीलता देखते हैं ।

"रंगभूमि" को वाजपेयी जी प्रेमचंद का पहला सफल चरित्र प्रधान उपन्यास मानते हैं । कतिपय जीवंत एवं मानवीय पात्रों की सृष्टि तथा कथा-शृंखलता में समरसता का गुण इसमें वे देखते हैं । किंतु इसे भी वे निर्दोष

नहीं मानते । वे देखते हैं कि कथावस्तु का अति विस्तार तथा ग्रामीण घटनाओं के अनावश्यक वर्णन से व्यवस्थित एवं गतिशील होने के बदले कथा जटिल एवं बोझीली हो गयी है । यही नहीं, उनके मत में राजनीतिक आन्दोलनों एवं औद्योगिक विकास की परिस्थितियों के चित्र, दोनों का सम्यक् समीकरण उपन्यास में नहीं हो पाया है । वे बताते हैं कि विनय और सोफिया की कथा के साथ सूरदास की कथा को भी जोडने केलिए अधिक समृद्ध कला अपेक्षित है ।

"कायाकल्प" में अलौकिकता एवं रहस्य के नवीन तत्वों के समावेश से कथा में शिथिलता आ गई है । घटनाओं तथा पात्रों को वे संभाल नहीं पाते तथा दैव संयोग एवं परिस्थितियों पर अवलंबित कथानक गिरता-पडता सा आगे बढ़ता है । "गबन" में भी, अधिक व्यवस्थित ढंग से वस्तु-संगठन किये जाने पर भी उपन्यास के संकलन और प्रभाव की एकाग्रता में त्रुटि आयी है, यही वाजपेयी जी की मान्यता है ।

"कर्मभूमि" भी प्रेमचंद की श्रेष्ठ रचना मानी गयी है । परिस्थिति-योजना, कथा-निर्माण, समस्या-प्रतिपादन आदि में वाजपेयी जी लेखक को सफल मानते हैं । इस कृति में वे यह गुण देखते हैं कि कथानक को भली-भाँति संभालने में, स्वप्न को सत्य देखने केलिए सभी नेताओं को उपन्यास के अंत तक जिलाये रखने में, राजनीतिक आन्दोलन की सफलता के लिए सेवाश्रम की स्थापना तथा स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सामाजिक सुधार पर ज़ोर देकर अपने विचार प्रस्तुत करने में तथा स्वाभाविक ढंग से परिस्थिति का आयोजन करने में लेखक समर्थ हुए हैं । लेकिन इन त्रुटियों को भी नज़र अंदाज़ नहीं करते कि पराधीन देश की जनता के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं के समाधान

ढूँढ निकालने में, तथा भावी आदर्श समाज की पृष्ठभूमि बनने योग्य सार्थक योजनाओं के निर्देश में वे सफल नहीं हुए हैं । उनकी दृष्टि में प्रेमचंद की सुधारवादी, आदर्शवादी, नम्र नीति अंत में इतनी उदार हो जाती है कि वह गर्वनर को भी निर्दोष कर देता है, जब कि वास्तव में समस्त व्यवस्था ही दूषित है । विचार-प्रदर्शन केलिए बीच-बीच में प्रस्तुत वाद-विवाद एवं भाषणों को भी वे अनावश्यक मानते हैं ।

प्रेमचंद के सर्वोत्कृष्ट उपन्यास "गोदान" में भी मुख्य कथा और प्रासंगिक कथा में ऐक्य का अभाव दर्शाया गया है । ग्रामकथा के साथ नागरिक कथा के भी समावेश के औचित्य के संबंध में वाजपेयी जी की धारणा यह है कि गोदान शब्द का संबंध कृषकों के जीवन के किसी मार्मिक पहलू से ही हो सकता है तथा उनकी निस्सहाय अवस्था के प्रकाशन के साथ नवीन पाश्चात्य संस्कारों से परिचालित नागरिक जीवन को भी चित्रित करना उपन्यासकार का उद्देश्य होता होगा । चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे गोदान को एक सफल कृति मानते हैं । उनकी दृष्टि में होरी, धनिया और अन्य सभी पात्र किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं । लेकिन गोदान को कभी वे एक समाजवादी रचना नहीं मानते क्योंकि उनके विचार में उपन्यास के आरंभ और उपसंहार में - होरी की गाय रखने की लालसा से शुरू हो कर अंत में बीस पैसे का गोदान करा देने को विवश होने की स्थिति भारतीय कृषक की दयनीय अवस्था का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है । प्रेमचंद के सुधारवाद की झलक भी इस उपन्यास में कहीं नहीं होती । ये तर्क देकर वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि गोदान को न समाजवादी कृति कहा जा सकता और न किसी अन्यवाद से ही उसका संबंध निर्धारित किया जा सकता । "गोदान" को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र भी नहीं माना जा

सकता क्योंकि तत्कालीन राष्ट्रीय संघर्ष अथवा सामाजिक उत्थान का कोई निर्देश गोदान में नहीं है । उसे युग की प्रतिनिधि रचना मानना भी वे असंगत समझते हैं क्यों कि युगीन सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्ष का बहुत कम आभास ही इस रचना में होता है । वे देखते हैं कि इस कृति का देश-काल सीमित है, सांस्कृतिक, सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से इसमें पर्याप्त विशालता नहीं है, युग-जीवन का सही परिचय नहीं दे सकी है, इसलिए गोदान को समाज का सर्वतोमुखी चित्रण मानने में भी कठिनाई है । लेकिन यह तो वे मान लेते हैं कि विस्तार में न सही, गहराई में यह उपन्यास युग का प्रतिनिधित्व करता है ।

प्रेमचंद के प्रौढ उपन्यासों के विवेचन के साथ ही उनके तीन छोटे उपन्यास-प्रतिज्ञा, निर्मला एवं अधूरा मंगलसूत्र की भी चर्चा वाजपेयी जी ने की है । इन सभी उपन्यासों के विवेचन द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदर्शवादिता, ध्येयोन्मुखता आशावादिता आदि उनके उपन्यास की विशेषताएँ हैं तथा आधुनिक व्यक्तिचित्रण प्रणाली के बदले वर्गगत-जातिगत एवं प्रतीकात्मक चरित्रों का निर्माण वे अधिक करते हैं ।

प्रेमचंद की कहानियों के मूल्यांकन में वाजपेयी जी ने उन्हें सुविधा के लिए नारी संबंधी, ग्राम संबंधी, मनोविज्ञान संबंधी राजनीति संबंधी, समाज संबंधी जैसी विभिन्न श्रेणीयों में विभाजित किया है । कला की दृष्टि से उन कहानियों की सफलता-असफलता पर विचार करते हुए उन्होंने इन तथ्यों को प्रकाशित किया है कि उनकी आरंभिक कहानियाँ अधिक लंबी एवं वर्णनात्मक हैं जबकि बाद की कहानियाँ सुगठित, संक्षिप्त एवं नाटकीय प्रभाव से समृद्ध हैं । पहले तो उनकी कहानियाँ भावना-प्रधान एवं आदर्शवादी रहीं, लेकिन बाद में मनोवैज्ञानिक तथ्यपूर्ण, अकृत्रिम बनती गयीं । चित्रित परिस्थितियों एवं व्यक्त भावों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में वे सफल हुए हैं । वाजपेयी जी ने प्रेमचन्द को एक प्रत्यक्षवादी

कलाकार माना है ।

वाजपेयी जी के विचार में प्रेमचंद की कहानियाँ मुख्य रूप से राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों से संबद्ध है । उन्होंने मानव विकास के उन पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया जिनका संबंध इतिहास तथा अन्य प्राणिविज्ञान-संबंधी तथ्यों से है । यह भी कहते हैं कि सामयिकता की सीमा से ऊपर उठने की क्षमता उनकी कल्पना में नहीं थी । और इसके फलस्वरूप केवल सामान्य चरित्रों की सृष्टि ही उनके उपन्यासों में होती थी । यही नहीं, असामान्य अथवा विशिष्ट जीवन-चित्रों की विवेचना, जो मनोविज्ञान तथा अन्य संबंधित विज्ञानों के गहरे और विशिष्ट अनुभवों से संबद्ध है, प्रेमचंद की कहानियों की सीमा में नहीं आती । सुधारवाद और आदर्शात्मक मनोविज्ञान की ओर उनका अधिक झुकाव है । तटस्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण का उनमें अभाव है । इन विभिन्न आधारों पर वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि प्रेमचंद के चरित्र अधिकांशत: बिलकुल साधारण कोटि के हैं, और उनकी कहानियाँ सबजेक्टीव या भावात्मक श्रेणी की है, तत्कालीन प्रभाव ही उनमें अधिक रहता है ।

प्रेमचंद की कहानियों के आधार पर उनकी कल्पना, रुचि और अध्ययन, उनकी जीवन-संबंधी अभिज्ञता आदि पर विचार करते हुए वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि प्रेमचंद की कहानियों का क्षेत्र बहुत अधिक प्रसारित नहीं है । सामयिक जीवन की कहानियाँ भी उन्होंने विशिष्ट राष्ट्रीय उत्थान के उद्देश्य से लिखी हैं । स्पष्ट लक्ष्य की प्रमुखता के कारण तटस्थ चित्रण, वस्तु का स्वतंत्र निरीक्षण, स्वतंत्र परिणामदर्शन आदि का भी अभाव वे उनकी कहानियों में देखते हैं । एक विलक्षण आशावाद मानव महत्व के प्रति अटूट विश्वास, समाज का अनिष्टकारी शक्तियों के विरुद्ध कठोर व्यंग्य का भाव, हल्की भावुकता, आदर्शात्मक एवं उपदेशात्मक प्रवृत्ति आदि उनकी कहानियों की सामान्य विशेषताएँ हैं ।

वाजपेयी जी के मत में लेखक की समृद्ध कल्पनाशक्ति, स्वस्थ जीवन दृष्टि, तटस्थ अनुशीलन के साथ सच्ची भावप्रवणता एवं बौद्धिक क्षमता आदि तत्वों में ही कहानी अथवा कहानीकार की श्रेष्ठता निहित है । यद्यपि प्रेमचंद की आरंभिक कहानियाँ कथ्य के परिपुष्ट नहीं हैं तो भी उत्तरोत्तर उनकी कहानियों में इन तत्वों का समुचित विकास और समाहार होता गया है । फिर भी उनकी मान्यता यही है कि उच्चतम स्तर की निर्माण क्षमता उनकी कहानियों में बहुत कम ही दिखाई देती है, वे साधारण और व्यापक प्रयोजन की दृष्टि से श्रेष्ठ कलाकार हैं, किंतु विशिष्ट और सूक्ष्म प्रयोजन की पूर्ति थोडी ही कहानियों में वे कर पाए हैं ।

इस मूल्यांकन में वाजपेयी जी के विषय में एक उल्लेखनीय तथ्य पर हमारा ध्यान पड़ता है कि किसी भी वस्तु या विषय का विवेचन बिलकुल तटस्थ होकर वे कर सकते हैं । किसी पूर्वाग्रह के बिना शुद्ध साहित्यिक दृष्टि अपनाते हुए वे कृति के कलात्मक सौष्ठव पर विचार करते हैं और अपने मन में जो जो बातें उभर आती हैं उनका उद्घाटन निस्संकोच भाव से कर देते हैं । समीक्षक के लिए अपेक्षित तटस्थता एवं सूक्ष्म दृष्टि उनकी हर एक आलोचना में परिलक्षित होती है ।

नया साहित्य : नए प्रश्न

इस ग्रंथ का प्रकाशन सन् 1955 में हुआ । यह वाजपेयी जी के विकासनशील व्यक्तित्व एवं प्रकाण्ड पांडित्य का स्पष्ट निदर्शन है । यहाँ उनके प्रत्येक दृष्टिकोण में ताजगी और प्रखरता झलकती है । अपनी तलस्पर्शिनी, अंतर्भेदिनी दृष्टि से जिन मान्यताओं को अभिव्यक्ति दी गयी हैं वे अत्यंत प्रौढ, गंभीर एवं विचारोत्तेजक होने के साथ ही विवाद-

विषयक भी हैं । पाश्चात्य समीक्षा के अनुशीलन से जो नूतन उन्मेष एवं स्फूर्ति उन्होंने प्राप्त की है उनका सही उपयोग अपनी नयी मान्यताओं में वे कर पाए हैं जिससे उनकी दृष्टि अधिक संतुलित, परिष्कृत एवं समृद्ध हो पायी है, नूतन आलोचनात्मक चेतना से दीप्त हो उठी है । क्रम-व्यवस्था, सुसंबद्धता तथा एकतानता पूरी रचना में सन्निविष्ट हैं । "हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी" तथा "आधुनिक साहित्य" की भाँति इस ग्रंथ में भी नयी-पुरानी साहित्यिक समस्याओं के संशोधन के साथ ही लेखक समकालीन रचना-संसार से यात्रा करते हुए भी दीखते हैं । "हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी" में एक साहित्यकार के प्रारंभिक प्रयास की सभी त्रुटियाँ लक्षित होती हैं जब कि 'नया साहित्य : नए प्रश्न' तक आते-आते उनके व्यापक ज्ञान का प्रौढ रूप उभर आया है । छायावाद के विवेचन से रचनायात्रा आरंभ कर के हिन्दी की नव्यतम समीक्षा शैलियों एवं काव्य-प्रवृत्तियों के विवेचन तक उन्होंने उसे पहुँचा दिया । जैसा कि, नाम से स्पष्ट है, इस कृति में नये साहित्यिक सन्दर्भ में साहित्य के स्वरूपों, प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं पर दृष्टि डाली गयी है । प्रारंभिक रचनाओं की अपेक्षा अधिक संयत् एवं व्यवस्थित ढंग से इस समालोचनात्मक कृति का प्रणयन हुआ है ।

इसके पाँच खंड हैं - निकष, विवेचन और निरूपण, वार्ताएं और वक्तव्य दो दार्शनिक निबन्ध तथा परिशिष्ट । "निकष" वाजपेयी जी का आत्मविश्लेषण है । उसमें अपनी पिछली रचनाओं का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है कि प्रथम कृति से लेकर अब तक उनकी समीक्षात्मक प्रवृत्तियों में किस प्रकार का विकास हो पाया है । अपने कृतित्व की उपलब्धियों पर दृष्टिपात करने के साथ उनमें लक्षित त्रुटियों की ओर भी इसमें संकेत किया गया है । कहीं-कहीं अपने विवेचन को उन्होंने एकांकी माना है । प्रेमचंद विषयक उनके निबंध में यह बहुत कुछ ठीक था, किंतु उस त्रुटि की पूर्ति बाद में उन्से हो सकी थी ।

उन्होंने यह भी बताया है कि वस्तुमुखी दृष्टि के अभाव में उनके साहित्यिक मूल्यांकन में बड़ी कमी आ गई है । लेकिन यह कथन पूर्णत: सही नहीं माना जा सकता । जिन-जिन विषयों पर उन्होंने विचार किया सब में उनकी मौलिक स्वच्छन्द दृष्टि प्रकट हुई है ।

"विवेचन और निरूपण" में दस निबंध संकलित हैं जिनमें प्रथम है नवीन यथार्थवाद । यथार्थवाद के नाम पर प्रचलित दो विचार पद्धतियों - मार्क्सवादी विचार-पद्धति और अंतश्चेतनावादी-विचार पद्धति को वाजपेयी जी ने परस्पर-विरोधी और अतिवादी माना है । इसमें आप ने राष्ट्रीय जागृति तथा स्वस्थ एवं जीवंत साहित्य के निर्माण की ओर साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट किया है । यथार्थवाद द्वारा काव्य की सहज गति में प्रतिबन्ध लगाया जाना वे हानिकारक मानते हैं । वार्ताएं और वक्तव्य में 13 निबंध आते हैं । नये उपन्यास, व्यक्तिवादी उपन्यास" उपन्यासकार जैनेन्द्र तथा नवीन कथा-साहित्य विचारपक्ष ये निबंध उपन्यास संबंधी हैं । "नये उपन्यास" में हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों एवं त्रुटियों को उसके ऐतिहासिक विवेचना क्रम में प्रस्तुत किया गया है । दूसरे निबंध में वाजपेयी जी ने प्रेमचंद के बाद उपन्यासकारों की दो त्रयियां मानी है । भगवती प्र साद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र की पहली त्रयी ने उपन्यास को मनोवैज्ञानिक आधार दिया लेकिन उनका सामाजिक पक्ष बहुत ही कमज़ोर रहा । यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्रजोशी की दूसरी त्रयी तो नवीन यथार्थवाद के विविध विकृत रूपों से आक्रांत रही । यशपाल में मार्क्सवाद की ओर तथा जोशी में अंतश्चेतनावाद की ओर अधिक झुकाव रहा जब कि अज्ञेय इन दोनों के संधिस्थल पर खड़े रहे । चौथे निबंध में उपन्यासकार जैनेन्द्र की औपन्यासिक उपलब्धियों का सही मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है । नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-

नाटकों पर बिलकुल नयी दृष्टि से मौलिक एवं विचारपूर्ण स्थापनाएं एक निबंध में दी गयी हैं । समस्या नाटक एवं इब्सन की दृष्टि का विवेचन करने के बाद मिश्रजी के विषय में यही मत प्रकट करते हैं कि वे मूलत: पुनरुत्थानवादी और उग्र हिन्दुत्ववादी है ।

इस ग्रंथ में समीक्षा संबंधी चार निबंध हैं - "हिन्दी समीक्षा का विकास, द्विवेदी युग की समीक्षा-देन, नव्यतम समीक्षा-शैलियाँ" तथा समीक्षा - संबंधी मेरी मान्यता । हिन्दी समीक्षा के क्रमिक विकास एवं प्रमुख भूमियों का परिचय प्रथम तीन निबंधों में दिया गया है । मार्क्सवादी समीक्षा एवं मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की अतियों की कटु आलोचना की गयी है । पाश्चात्य समीक्षा : सैद्धांतिक विकास नाम्क लेख में पाश्चात्य समीक्षा के सैद्धांतिक विकास को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है ।

"भारतीय समीक्षा की रूपरेखा" वाजपेयी जी की मौलिक सूझ-बूझ एवं स्वतंत्र चिंतन क्षमता का प्रबल प्रमाण है । पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र की पूरी जानकारी रखते हुए, आवश्यकतानुसार उसका उपयोग भी करते हुए भारतीय साहित्यशास्त्र को अधिक समृद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता पर इस निबंध में बल दिया गया है । इतिहास की गत्यात्मक पृष्ठभूमि का गहरा ज्ञान, स्वतंत्र एवं वस्तुमूलक दृष्टिकोण आदि इसके लिए वे आवश्यक समझते हैं । भारतीय समीक्षा-शास्त्र में लक्षित कुछ त्रुटियों की ओर संकेत करके वे बताते हैं कि भरत मुनि का "नाट्यशास्त्र" नाट्य-विज्ञान की अपेक्षा नाट्य-कला और रंगमंचीय कला का निर्देशक ग्रंथ रह गया है, कई स्थानों पर तत्व चिंतन मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ संपृक्त रहने के कारण उसकी विभाजक रेखा नहीं रह गयी है, काव्य सिद्धांत विषयक ग्रंथों में सिद्धांत और रीति व्याकरण पास-पास आ गये हैं । इन त्रुटियों से भारतीय साहित्य-शास्त्र को मुक्त रखने का बलवती आग्रह लेखक ने प्रकट किया है ।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण निबंध रस-निष्पत्ति-विषयक है जो गंभीर चिंतन की अपेक्षा रखता है । साधारणीकरण के विषय में उनकी जो व्याख्या है उसी में नवीनता दीखती है । उनके मत में साधारणीकरण समस्त कवि कल्पित व्यापार का होता है । यह कवि कल्पित व्यापार याने "काव्यप्रक्रिया" बहुत ही व्यापक शब्द है जिसमें कवि की अनुभूति, विचार दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति आदि सभी तत्वों का अंतर्भाव हो जाता है ।

इस प्रकार इस कृति में जिन जिन विषयों की चर्चा हुई है सब में बिलकुल समन्वयात्मक दृष्टि से अपने मौलिक विचार लेखक ने प्रस्तुत किये हैं । आधुनिक साहित्य के समर्थ व्याख्याता के रूप में यहाँ वे प्रकट होते हैं ।

राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ

यह रचना सन् 1961 में प्रकाशित हुई । 1959 में भारत-शासन के निमंत्रण पर जो केरल-यात्रा उन्होंने की थी उन्हीं के संस्मरण इसमें प्रस्तुत हुए हैं । यात्रा-संबंधी विवरण से बढकर वाजपेयी जी के उन भाषणों पर इसमें प्रकाश डाला गया है जो अपने दक्षिण यात्रा के दौरान विभिन्न जगहों पर उन्होंने दिये थे । यह बात उन्हें लेकर लगती है कि हिन्दी को लेकर दक्षिण में अब भी कुछ शंकाएं हैं और उसे राजनीति से संबद्ध कर दिया गया है । भाषा विषयक अपनी उदार दृष्टि का परिचय देते हुए वे बताते हैं कि भारत की सभी भाषाएँ समान रूप से महत्वपूर्ण हैं और उनकी साहित्यिक संपदा भी काफी समृद्ध है । लेकिन सभी भाषाओं से अवगत रहना सबके लिए संभव नहीं होगा । ऐसी स्थिति में भारत जैसे विशाल देश में विभिन्न प्रांतों में एकता की कडी को मज़बूत बनाने केलिए

एक ही सरल एवं सीधा उपाय होगा कि संपर्क भाषा के रूप में उसे स्वीकार किया जाय जिसके बोलनेवालों की संख्या अधिक हो । इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी ही इसके योग्य है । "हिन्दी का भ्रामक विरोध" नामक निबंध में उन्होंने व्यक्त किया है कि राष्ट्रीय चेतना से परिचालित होकर राष्ट्र की एकता के अग्रह से ही हिन्दी के ऊपर ज़ोर दिया जा रहा है[1] । वाजपेयी जी भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की मूलभूत एकता के हिमायती थे । इस एकता को बनाये रखने की ओर उन्होंने सदैव ध्यान दिलाया ।

भारत की सांस्कृतिक एकता को सुरक्षित रखने में वे मंदिरों का विशेष योग मानते हैं । देश में यत्र-तत्र स्थित मंदिरों की देव-देवी प्रतिमाओं को वे सांस्कृतिक एकता का प्रतीक समझते हैं । "भारतीय संस्कृति के मूलतत्व नामक अपने भाषण में उन्होंने इन तथ्यों पर ज़ोर दिया कि "जहाँ तक हिन्दी के प्रचार का प्रश्न है, अपना देश बडा समन्वयप्रिय देश है । अन्य देशों मे हिन्दुस्तान की एक विशेषता यही है कि यह बहुविध विचारधाराओं, विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का समन्वय करता है । अपनी दक्षिण यात्रा में केरल में त्रिवेंद्रम, एरनाकुलम, पालघाट, त्रिचूर, कालिकट आदि विभिन्न स्थानों पर उन्होंने भाषण दिए थे । सभी वक्तृताओं में भारतीय सांस्कृतिक एकता पर ही विशेष बल दिया गया है । राष्ट्रीय एकता के लिए संपर्क भाषा का स्थान हिन्दी को देना ही उन्होंने उचित समझा । राष्ट्रीय एकता पर बल देनेवाले एक राष्ट्रवादी लेखक का स्पष्ट रूप इन भाषणों में झलकता है ।

---

1. राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ, पृ.32

आधुनिक काव्य : रचना और विचार

सन् 1961 में इस कृति का प्रकाशन हुआ । इसमें "विचार" के अंतर्गत साहित्य से संबद्ध 3 निबन्ध तथा काव्य-प्रवृत्तियों से संबद्ध 7 निबंध आते हैं और रचना के अंतर्गत रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला पंत एवं महादेवी वर्मा की रचनाओं के विवेचन को स्थान दिया गया है । इनमें से अधिकांश निबंध उनकी अन्य रचनाओं में भी संकलित हैं । इसकी भूमिका में साहित्य के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है । उनके विचार में साहित्यकार युगीन चुनौतियों से संघर्ष कर प्रगति का साथ देनेवाला है । वे कहते हैं - "स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना यदि राजनीति का लक्ष्य है तो सामाजिक जीवन में, वैयक्तिक जीवन में न्याय और स्वतंत्रता की मांग करना कलाकारों और साहित्यिकों की विशेषता रही है ।"[1] वे समझते हैं कि सृजन के क्षण में सच्चे साहित्यकार का मन ईर्ष्या, विद्वेष, स्वार्थता जैसे संकीर्ण भावों से दूर रहता है । रचना के समय रचयिता उदारता और गंभीर मानवता के जिस महोन्नत स्तर पर पहुंचता है, वही साहित्य अथवा साहित्यकार की आध्यात्मिकता है । मानवीयता ही उसमें सब कुछ है । संयोजित और सुनियोजित रूप में संगठित कार्यों के चलते जाने पर ही विघटनकारी शक्तियों का विध्वंस हो सकता है । यह साहित्यिकों द्वारा ही अधिक सफलता से संभव है । साहित्यकारों को प्रतिभा, शक्ति, साहस और निर्माण-क्षमता के धनी होना चाहिए ।

---

1. आधुनिक काव्य : रचना और विचार, पृ.4

राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध

सन् 1965 में प्रकाशित इस रचना में भी वाजपेयी जी का मुख्य प्रतिपाद्य आधुनिक काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। इसमें वाजपेयी जी हिन्दी में साहित्यिक स्तर पर लेखकों और पाठकों के एक राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता महसूस करते हैं। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है "राष्ट्रीय और जातीय चेतना के विशिष्ट स्वरूप को मूर्त किए बिना साहित्य अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण नहीं रख सकता और न वह सार्व भौम ही बन सकता है।[1]"

साहित्य-विषयक जो वैज्ञानिक विचारणा यूरोप में प्रतिष्ठित हुई है उनको हिन्दी की कृतियों में लागू करने के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों पर वाजपेयी जी ने प्रकाश डाला है। प्रत्येक सिद्धांत विशेष परिस्थिति की उपज होने की वजह से एक देश के सिद्धांतों को दूसरे देश के साहित्य में ज्यों का त्यों लागू करना वे असंगत मानते हैं। इस विषय में तीन उल्लेखनीय बातों की ओर वे संकेत करते हैं। प्रथम बात यह कि किसी देश के साहित्यिक सिद्धांतों का हमारे साहित्य पर प्रयोग करने के पूर्व समीक्षक के लिए उन सिद्धांतों के विषय में सम्यक् जानकारी अपेक्षित है। दूसरी बात यह कि साहित्यिक कृतियों की समीक्षा के लिए विशेष अभ्यास अपेक्षित है क्योंकि सिद्धांत का ज्ञान और कृतियों में उनका उपयोग दोनों दो अलग अभ्यास क्षेत्र हैं। तीसरी बात यह कि किसी देश के साहित्यिक सिद्धांतों का उपयोग करते समय समीक्षक को इस तथ्य से भली-भाँति अवगत रहना चाहिए कि प्रत्येक देश के रचनात्मक साहित्य पर वहाँ की संस्कृति व

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ.।

सामयिक जीवन-रीति का स्पष्ट प्रभाव रहता है । जब तक इन बातों की ओर समीक्षक का ध्यान नहीं जायगा तब तक सारा प्रयास अधूरा ही रह जायगा और इस कारण से वाजपेयी जी के विचार में पश्चिम के विभिन्न मतवादों की समुचित अन्विति और समीकरण हमारी सर्वप्रमुख आवश्यकता है । वाजपेयीजी विश्वास करते हैं कि कोई भी कृति तभी सफल मानी जा सकती है जब कि उनका राष्ट्रीय उपयोग हो जाय और यह कार्य तभी संभव होगा जब लेखक और कवि राष्ट्रीय परिवेश का लगाव न छोडने की ओर विशेष ध्यान दें । साहित्य की जीवन-शक्ति के सजग एवं सक्रिय रहने के लिए उसे राष्ट्र या जाति के विशिष्ट अस्तित्व से युक्त होना वे अत्यंत आवश्यक समझते हैं । किंतु राष्ट्रीयता या जातीयता से उनका आशय केवल उन लक्षणों मे नहीं है जिन्हें हम परंपरा के नाम पर दोहराते चले आते हैं, वरन् प्रत्यक्ष राष्ट्र या जाति के उस वास्तविक सक्रिय और गंभीर जीवन से है जो एक साथ मानवीय और विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों तथा जातीय दृष्टि से युक्त होने के कारण ही राष्ट्रीय है ।

वाजपेयीजी का दृष्टिकोण बहुत ही उदार है । आधुनिक युग में जब कि नये-नये सिद्धांत एवं विचारों का निर्बाध प्रवेश हमारे साहित्य में हो रहा है तो सभी राष्ट्रों के लिए वे यह भी आवश्यक समझते हैं कि वे एक दूसरे से परिचित हो जाएं और एक दूसरे के प्रभावों एवं प्रेरणाओं को भी ग्रहण करें । किंतु इस बात का भी वे स्मरण दिलाते हैं कि प्रत्येक देश के साहित्य की निजी जातीय जीवन की प्रेरणाएं तथा प्रशस्त और तलस्पर्शी भूमिकाएं रहती हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ रहकर या अभिज्ञ रहते हुए भी उसे ग्रहण करने का प्रयास न कर पश्चिम के पीछे दौडने की प्रवृत्ति उन्हें हास्यास्पद लगती है। वे इस बात का निषेध करते हैं कि अमेरिका और रूस, पश्चिम और चीन सबका प्रदेय हमारी अपनी विरासत में हमें प्राप्य है । किंतु इस बात पर वे ज़ोर देते हैं कि अपने केंद्र में स्थित रहकर एक सचेतन प्राणी के समान उसे आत्मसात् कर ही

हम उसका उचित स्वस्थ उपयोग कर सकते हैं । वेद और उपनिषद् से लेकर बुद्ध और गांधी तक भारतीय चिंतन और जीवन-दर्शन अपनी ऊर्जा से विकसित और पुष्पित होता रहा है । इन सबको अपनी आत्मा में स्थान देकर अपने स्वतंत्र चिंतन से कुछ निर्माण करके ही हम बुद्धिवादी निर्माता ~~~~ प्राप्य आधुनिकता ही हमारे जीवन और साहित्य का वास्तविक संस्कार कर उसे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय कहलाने का गौरव प्रदान कर सकती है[1] ।"

भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के प्रति वाजपेयी जी की अटूट आस्था एवं प्रगाढ श्रद्धा उनके इस कथन में प्रकट होती है । प्रत्येक विवेचन में यही व्यापक दृष्टिकोण आपने अपनाया है । वे सदैव इस बात पर ध्यान देते हैं कि यद्यपि भारत आधुनिक युग के विश्वजीवन में अन्य राष्ट्रों का समभागी है तो भी जिन परिस्थितियों और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से भारत गुजरा है, उनका अपना स्वतंत्र स्वरूप होता है । इसलिए अपनी निजी चेतना को पहचानने एवं उसके महत्व को ग्रहण करने की आवश्यकता उन्हें सदैव महसूस होती है । प्रत्येक देश की सामूहिक चेतना की जो विशेष परिस्थिति एवं पृष्ठभूमि होती है उन्हें नज़रअन्दाज़ किये हुए किसी भी रचना का निर्माण संभव नहीं । उनकी दृष्टि में राष्ट्र केवल सीमाओं और जनसंख्या के समुच्चय का नाम नहीं है । उसके साथ परिस्थितियों के एक विशिष्ट आपात और विशिष्ट इतिहास का भी योग रहता है । राष्ट्र एक व्यक्ति के सदृश ही है[2]

इसलिए राष्ट्रीय साहित्य पर विचार करते समय उन्होंने प्रत्येक विषय की व्याख्या भारतीय संस्कृति एवं दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में करने का प्रयास किया है । इस आधार पर स्वतंत्रता या मुक्ति का अर्थ भी उनके लिए जीवन से पालायन न होकर, अनन्य, अभेद्य और अमरत्व है[3] ।"

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, भूमिका, पृ.10
2. वही, पृ.2

प्रकीर्णिका

सन् 1965 में प्रकाशित "प्रकीर्णिका" वाजपेयी जी के 39 निबंधों का संग्रह है । कुछ निबंध विभिन्न साहित्यकारों की जयंती, जन्मशती, स्मृति आदि से संबद्ध है तो कुछ विचारोत्तेजक समीक्षात्मक निबंध हैं । कुछ निबंधों में दूसरे साहित्यकारों की रचनाओं का विवेचन हुआ है । सभी निबंधों में लेखक के राष्ट्रीय चेतना से संपन्न प्रौढ व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं ।

"रवीन्द्र और हिन्दी साहित्य" में इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि रवीन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से हिन्दी साहित्य कहां तक प्रभावित है । हिन्दी के साहित्यकार खासकर छायावादी कवि उनसे अधिक अनुप्राणित हुए हैं । भारतीय दर्शन और उपनिषद, कबीर और वैष्णव कवियों की भावधारा एवं गीतात्मक रचना पद्धति, अंग्रेज़ी और यूरोपीय साहित्य इन सबका यथेष्ट प्रभाव वे रवीन्द्र में देखते हैं । छायावाद-युग की प्रगीत शैली में भी वे रवीन्द्र की तरह का सार्वदेशिक प्रभाव पर्याप्त मात्रा में देखते हैं । वाजपेयी जी मानते है कि छायावाद के रूप में हिन्दी साहित्य को नया मोड देने में रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा, उनकी जीवन-दृष्टि और जीवन-साधना का सम्यक् योग हुआ है । कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास सभी क्षेत्रों में उनका प्रभाव विभिन्न रूपों में दर्शित है । प्रसाद जी की "चित्राधार", "कानन कुसुम" एवं प्रकृतिसंबंधी कविताओं में, प्रारंभिक कहानियों में "कामना" नाटक में, पंतजी और निराला जी की भाषा-योजना, छन्द-चयन एवं अलंकार-योजना में पंत जी के "ज्योत्सना" नाटक, निराला जी के "रवीन्द्रकविता कानन" एवं जैनेन्द्र जी के प्रारंभिक उपन्यासों में वे यह प्रभाव दर्शाते हैं ।

"शोध और समीक्षा" में दोनों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए दोनों की प्रक्रिया और लक्ष्य के संक्षिप्त निर्देश के पश्चात् दोनों की स्वतंत्र परंपरा का अवलोकन किया गया है । "हिन्दी समीक्षा : पाश्चात्य प्रभाव नाम्क जो निबंध है उसकी उपपत्तियाँ ध्यान देने योग्य है । हिन्दी साहित्य को पूर्णत: पश्चिम से प्रभावित मानने को वाजपेयी जी तैयार नहीं है । समृद्ध एवं प्राचीन परंपराओं से समन्वित हिन्दी साहित्य में समयानुकूल दृष्टिकोणों में जो नयी प्रवृत्तियाँ उभरती आ रही हैं वे कभी मात्र पश्चिमी प्रभाव की सूचक नहीं है, यही उनकी मान्यता है । नई हिन्दी कविता एवं नये हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में वाजपेयी जी ने "आधुनिकता बनाम भारतीयता" पर अपने विचार व्यक्त किए हैं ।

"शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता" भी एक विचारप्रधान निबन्ध है । गाँधीजी की बुनियादी शिक्षा पद्धति एवं देश की प्राचीन मानवतावादी कला-शिक्षा इन दोनों में ही वाजपेयी जी शिक्षा के चरित्र उन्नायक तथा संस्कारक तत्वों के दर्शन करते हैं । "कोश निर्माण" में कोश को किसी भी राष्ट्र का सांस्कृतिक सन्देशवाहक माना गया है । उनके मत में किसी राष्ट्र का शब्द कोश उसकी बौद्धिक एवं मानसिक प्रगति का परिचायक होता है । "स्वाध्याय की पुस्तकें" भी इसी प्रकार का निबंध है । हमारे व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में सहायक रहकर हमारा मार्ग दर्शन करा देनेवाली पुस्तकों का अध्ययन ही विद्यार्थियों के लिए वे आवश्यक समझते हैं । राष्ट्रीय चेतना के विकास की आवश्यकता की ओर इसमें भी संकेत किया गया है ।

"उर्वशी, बाणभ्ट्टी और चन्द्रगुप्त मौर्य" में इन तीनों पुस्तकों से होकर हिन्दी आख्यानक काव्य की नई गतिविधि का समग्र परिचय दिया गया है । "उर्वशी" में चरित्र निर्माण की दृष्टि से कई त्रुटियाँ देखी गई हैं । लेखक ने इन चरित्रों को कठपुतली माना है । उर्वशी काव्य के

समता नहीं है । प्रसाद और महादेवी जैसे कवियों की वास्तविक प्रतीक योजना से इसकी तुलना भी निरर्थक होगी यही उनकी मान्यता है । रामावतार अरुण की रचना बाणाम्बरी को छायावादी काव्य का आदर्श रूप माना गया है । इसमें राष्ट्रीय जीवन के प्राय: सभी ऐतिहासिक उज्ज्वल और तात्त्विक पक्षों को समाहित करने का प्रशंसनीय प्रयास वे दर्शाते हैं । रामरोलावन वर्मा को "चन्द्रगुप्त मौर्य" में कई प्रकार की त्रुटियाँ दर्शायी गयी है । घटनाओं की प्रमुखता, अंतर्कथाओं का बोझ जीवन-स्थितियों की बहुलता आदि के कारण चंद्रगुप्त मौर्य का चरित्र सम्यक् आलोक से अनुरंजित न हो पाया है, यही वाजपेयी जी का मत है ।

विभिन्न व्यक्तियों और कृतियों से संबद्ध और भी कुछ निबन्ध इस संकलन में हैं, लेकिन कुछ महत्वपूर्ण निबन्धों का उल्लेख ही यहाँ किया गया है । अज्ञेय को "आंगन के पार द्वार", डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह का कहानी संग्रह, इन्हें भी इन्तज़ार है, डॉ॰ नगेन्द्र का "कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह का "प्रतिपदा", कवि वीरात्मा का "भूले गीत" बंगला उपन्यासकार शरतचन्द्र का चरित्रहीन, आत्मानन्द मिश्र की तीन हास्य-पुस्तकें "मजे में तो है, नमस्ते, तथा जो है सो, डॉ॰ रामविलास शर्मा की "भाषा और समाज, जैनेन्द्रकुमार के विचारों का संग्रह "समय और हम", डॉ॰ भगीरथ मिश्र का निबन्ध संग्रह "अध्ययन", डॉ॰ दशरथ ओझा की "नाट्य-समीक्षा", डॉ॰ कमलाकांत पाठक का "मैथिली शरण गुप्त : व्यक्ति और कला", आदि रचनाएँ भी वाजपेयी जी के विवेचन के विषय बने हैं । सभी निबन्धों में उनकी गंभीर और संतुलित आलोचना दृष्टि झलकती है ।

हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

सन् 1968 में प्रकाशित इस रचना में वाजपेयी जी की सजग इतिहास-दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है । हिन्दी की प्रमुख धाराओं, प्रवृत्तियों एवं श्रेष्ठ रचनाकारों की एक झलक मात्र इसमें मिलती है । इसके आरंभ में उन्होंने बताया है - "हिन्दी-भाषा का साहित्य भारत की जातीय और राष्ट्रीय आशाओं आकांक्षाओं और स्थितियों को जानने का अद्वितीय साधन है । देश-काल अथवा समाज से वे साहित्य का निकट संबंध मानते हैं । वीरगाथाकाल को घोर अशांति का युग मानते हुए भी अमीर खुसरो की कविता में युग-प्रवर्तन का कुछ पूर्वाभास वे देखते हैं । हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर आदान प्रदान के रूप में खुसरो की देन विशेष महत्वपूर्ण मानी गयी है । भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद के मिश्रण की बात पर भी उन्होंने विचार किया है । हिन्दी साहित्य के इतिहास को समृद्ध बनाने में संत कवियों की विशिष्ट भूमिका मानते हुए वे बताते हैं कि "उनके संदेशों में जो महत्ता है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी सारी उक्तियों में जो प्रभावोत्पादकता है, वह निश्चय ही उच्च कोटि की है।[1]" गुरु नानक एवं सूफी काव्य की विशेषताओं पर भी उनकी दृष्टि पड़ती है । सांस्कृतिक समन्वय के रूप में उनकी उपलब्धियों के उपयोग का भी उल्लेख हुआ है । रीतिकाल का विवेचन बहुत ही संक्षिप्त हो गया है । अपने प्रिय विषय आधुनिक काल में आते-आते वे अधिक सजग हो उठते हैं । आधुनिक काल की उत्कृष्ट प्रतिभा भारतेंदु हरिश्चंद्र को "नवीन प्रगति की पताका" कहा गया है । इस काल के साहित्य में समाज सुधार और जातीयता का जो सुदृढ प्रभाव पडा है उसे वे परिस्थितिजन्य ही मानते हैं । उनकी राय में उस प्रभाव से मुक्त होकर काव्य रचना

---

1. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ.17

करना उस काल के किसी कवि के लिए संभव नहीं था[1]।" छायावाद को वे "नये युग के भावबोध का काव्य" मानते हैं। प्रसाद जी को छायावाद का प्रवर्तक मानते हुए निराला जी और पंत जी में क्रमशः बहुजन की छवि एवं मानवतावादी भावनाओं की व्याप्ति देख लेते हैं। बाद में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता और "क "तीसरासप्तक" की चर्चा करते हुए अपने साहित्यिक इतिहास को वर्तमान अवस्था तक पहुँचा दिया है। अपनी भाषा एवं साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की आशा करते हुए यों इस रचना को समाप्त किया गया है कि "इसमें भावी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे।"

नयी कविता

प्रस्तुत रचना 1976 में प्रकाशित हुई। यह भी वाजपेयी जी की अध्ययनशीलता एवं चिंतन की गतिशीलता का प्रमाण है। नयी कविता के विषय में प्रारंभ में उनकी जो धारणाएँ रही थीं, व्यापक अध्ययन के फलस्वरूप उनका संशोधन कर अधिक प्रौढ एवं युक्तियुक्त विचार बाद में वे प्रस्तुत कर सके हैं। इस पुस्तक में प्रयोगवाद, नई कविता, समकालीन कविता सभी का विवेचन हुआ है। नई कविता की उपलब्धियाँ और सीमाएँ, नयी कविता के प्रमुख पुरस्कर्ता आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

---

1. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ.55

कवि निराला

निराला जी से वाजपेयी जी निकट संबंध रहा है । स्वयं वाजपेयी जी ने मान लिया है कि "आधुनिक साहित्य के अध्ययन की जो प्रेरणाएँ उन्हें मिली हैं उनमें से एक मुख्य प्रेरणा निराला जी है ।"[1] अत: निराला-काव्य की आलोचना को अपना प्रमुख दायित्व समझकर उन्होंने की है । इस पुस्तक के "निवेदन" में सूचित किया गया है कि नए अध्येताओं और जिज्ञासुओं की आवश्यकता और माँग को ध्यान में रखकर इस का प्रणयन हुआ है । निराला जी से वाजपेयी जी के घनिष्ठ परिचय के कारण इसमें प्रस्तुत मान्यताएँ सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जा सकती है ।

निाला जी के जीवन एवं साहित्य से संबद्ध 15 निबंध इस पुस्तक में संकलित हैं । एक-एक निबंध कवि निराला के व्यक्तित्व विकास एवं भाव गांभीर्य को अधिकाधिक सशक्त ढंग से प्रकाशित करने के साथ ही आलोचक वाजपेयी की मौलिक पारदर्शी दृष्टि को भी प्रमाणित करनेवाला है । इसलिए कवि निराला, समीक्षक वाजपेयी दोनों के वास्तविक स्वरूप से अवगत कराने में यह पुस्तक सहायक होती है । निराला जी की जीवन रेखाएँ एवं व्यक्तित्व, उनका काव्य विकास एवं काव्य सौष्ठव, उनके दार्शनिक पक्ष एवं कलापक्ष आदि विषयों की चर्चा इस ग्रंथ में हुई है । "जीवनी और व्यक्तित्व" तथा "जीवन-रेखाएँ" नामक अध्यायों में निराला की रचना-यात्रा का इतिहास संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते हुए उनके व्यक्तित्व को समस्त सामान्यताओं से ऊपर पहुँचा हुआ दिखाया गया है । निराला जी के निराले व्यक्तित्व के विभिन्न मोडों तथा उनके द्वारा

---

1. कवि निराला, पृ.193

प्रवर्तित एवं विकसित विभिन्न काव्य सरणियों का उद्घाटन करते हुए सप्रमाण वे स्थापित करते हैं कि "श्रृंगार की तरलता और स्वच्छता, प्रार्थनाभाव की गहनता, औदात्य की प्रखरता और सहज करुणा की मर्म स्पर्शिता में निराला जी अपने उदाहरण आप ही हैं। ..... निराला जी सर्वप्रथम एक मानव हैं, युगीन परिसीमाओं से ऊपर उठे हुए मानव। इसके पश्चात् एक उत्कृष्ट और महान कवि है। उनकी मानवता ही उनके काव्य की प्राणशक्ति है।[1]"

"आरंभिक काव्य", "गीतिका" और "काव्य-विकास" के अनुशीलन में लेखक स्पष्ट करते हैं कि निराला के विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धितत्व की प्रमुखता रही है। निराला - काव्य की विशिष्टताओं से अवगत होने के लिए रस-सिद्धांत की मान्यताओं को अधिक व्यापक बनाने तक की आवश्यकता उन्हें महसूस होती है। उनके काव्य-विकास के प्रथम चरण (1916-27) में स्वच्छन्द कल्पना का प्रवाह लेकर प्रस्तुत मुक्त छंद की कविताओं, द्वितीय चरण (1927-28 - 1935-37) में छंदोबद्ध संगीतमय रचनाओं, तृतीय चरण में (1935-40) हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति का उन्मेष करनेवाली रचनाओं, चतुर्थ चरण (1942-50) में प्रयोगों की बहुलता दीखनेवाली लंबी कविताओं तथा पाँचवें चरण (1950 से अंत तक) में नये सौंदर्य एवं सात्त्विकता से मण्डित अंतिम काल-रचनाओं की गणना की गयी है। निराला के काव्योत्कर्ष को वे प्रगीत काव्य का उत्कर्ष मानते हैं। विभिन्न चरणों में प्रस्तुत चित्रात्मक एवं वस्तुमुखी कल्पनाओं से वेष्टित बादल-राग, सरोजस्मृति जैसे प्रगीत-काव्य, जागो फिर एक बार", छत्रपति शिवजी का पत्र जैसे दीर्घ प्रगीत जुही की कली", "विधवा", "भिक्षुक", "संध्या-सुंदरी" जैसे लघु-प्रगीत", भारती जय विजय करे, "वर दे वीणावादिनी वर दे" जैसे विनय एवं प्रार्थना के गीत आदि में लक्षित

---

1. कवि निराला, पृ.23

विशेषताओं का प्रतिपादन करते हुए वाजपेयी जी सिद्ध करते हैं कि कला की दृष्टि से उनके प्रगीतों का रूप विन्यास अप्रतिम है । निसंग के स्वच्छन्द विद्रोही एवं उत्साही व्यक्तित्व को उनके संपूर्ण काव्यों, के अनुशीलन द्वारा वाजपेयी जी ने उजागर किया है । जुही की कली" में पवन पर उच्छृंखलता का जो आरोप लगाया गया है इस विषय में वाजपेयी जी का कहना है कि "उस आरोप को आरोप न कहकर निराला की, यौवनकाल की अबाध भावप्रवणता का स्मृतिचिह्न ही मानना चाहिए । भाव प्रसार का सुनिश्चित मार्ग "तुम और मैं" कविता में उन्हें नहीं दिखाई देता । विशुद्ध रूप से संगठन की दृष्टि से उसमें असंबद्धता दर्शाते हुए वे बताते हैं कि "तुम और मैं" में जितने संबंध हैं, प्रिय और प्रिया के जितने विनियोग संकेत हैं, ईश्वर और जीव की अनेकविध अन्योन्याश्रयी जितनी निगूढ भंगिमाएं हैं, कल्पना की प्रखरता और मनोगति के अजस्र वेग ने उनका सहयोग सहज किया है ।[1]" "राम की शक्तिपूजा" एवं "तुलसीदास को निराला की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ मानने में उन्हें कठिनाई होती है । उनकी राय में कवि के अंतरंग की उपज न बनकर पाण्डित्यपूर्ण निर्मितियाँ बननेवाली ये रचनाएं भाव संवेदन और मार्मिकता की दृष्टि से "बादल राग", यमुना के प्रति" जैसी रचनाओं की तुलना में कमज़ोर पड़ती है । "यमुना के प्रति" में भावोद्वेग की स्थिति में जिस प्रकार की असंयमित समृद्धि, जिस प्रकार की अनर्गल प्रखरता एवं उन्मेष मिलते हैं वह लेखक के विचार में क्षीण काव्य-क्षमता के द्योतक न होकर भावोद्वेग के अतिशय्य की सूचना देनेवाले हैं । "कुकुरमुत्ता" के प्रणयन में कवि का जो उद्देश्य रहा था उसे वाजपेयी जीने यों व्यक्त किया है "कुकुरमुत्ता में निहित व्यंजना यह है कि न पुराना गुलाब न नया कुकुरमुत्ता आधुनिक सांस्कृतिक आदर्श की पूर्ति कर सकते हैं ।

---

1. कवि निराला, पृ.43

हमारी वर्तमान संस्कृति कुकुरमुत्ता" की भूमिका से उठकर नयी सृष्टि और नया विकास करेगी, तब हम एक समुन्नत संस्कृति ला सकेंगे । नया गुलाब ही पुराने गुलाब का स्थान ले सकता है । नया समाज और उसकी नयी संस्कृति ही पुरानी संस्कृति का स्थानापन्न बन सकती है । इस प्रकार "कुकुरमुत्ता" कविता निराधार व्यंग्य नहीं है । वह संस्कृति के सृजन में नये मौलिक तत्वों का संकेत देती है[1]।" अपने काव्य विकास के अंतिम चरण में निराला जी ने विनय और आत्म-निवेदन से पूर्ण जो कविताएँ लिखी हैं उनको भक्त कवियों की वैयक्तिक साधना की भूमि पर रखकर देखना भी वाजपेयी जी की दृष्टि में उचित नहीं है । उनके विचार में इन प्रार्थना गीतों में भी सामाजिक विषमताओं और विकारों का प्रक्षालन करने का आग्रह रखते हुए, सामाजिक दृष्टि को भी साथ लेकर चलनेवाले कवि के दर्शन होते हैं । व्यंग्य-काव्य की भी यही स्थिति है । प्रसाद, महादेवी आदि के वैयक्तिक भावना-समन्वित गीतों से निराला के गीतों की तुलना नहीं हो सकती, यही उनकी मान्यता है । 'सरोजस्मृति' की गणना निराला की शीर्षस्थ रचनाओं के अंतर्गत हुई है । उनके प्रगीतों की विशेषता, काव्य रूपों की विविधता आदि के आधार पर दार्शनिक काव्य के भीतर से निखरे हुए निराला जी के व्यक्तित्व को वे हिन्दी के लिए अप्रतिम मानते हैं तथा नवीन प्रगीतात्मक काव्य-शैली में की गई उनकी अनेक रचनाओं को बेजोड़ समझते हैं ।

सन् 1938 में अपनी बदली हुई भावचेतना का परिचय देते हुए निराला जी ने लिखा था कि उनका मुक्त गगन चला गया, आकाशगामिनी कल्पनाएँ चली गई, अब तो वे समुद्र के अधिवासी बन गये हैं[2]।" इसी का समर्थन करते हुए वाजपेयी जी भी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "ठोस जलीय नामक का जो रूप हो सकता है और निरभ्र आकाश का - दोनों निराला के

---

1. कवि निराला, पृ. 166
2. वही पृ. 58

काव्य के दो प्रतिमान है । सन् 1938 से पूर्व का काव्य उज्ज्वल-निरभ्र आकाश के समान है और उस मुक्त मनोदशा के स्थान पर मन को बाँधनेवाली अस्वादुकर जीवन-स्थितियों का प्रतिनिधि परवर्ती काव्य का प्रतीक समुद्र है ।[1]"

निराला जी के "काव्य-रूप" के विवेचन में उनके विविध प्रकार के गीतों - शृंगारिक गीत, विनय और प्रार्थना के गीत, ऋतु गीत, राष्ट्रीय गीत, प्रगतिशील या सामाजिक गीत, प्रयोगात्मक गीत - प्रगीतों - लघु-प्रगीत, दीर्घ-प्रगीत, व्यंग्य प्रगीत, उर्दू शैली के प्रगीत, आख्यानक प्रगीत, गीतिनाट्य पंचवटी प्रसंग आदि की चर्चा हुई है । प्रगीत की भूमिका पर निराला जी ने जो जो प्रयोग किए हैं उन सबों पर यहाँ प्रकाश डाला गया है निराला जी के गीतों की कई विशेषताओं की ओर लेखक ने संकेत किया है । उनके विचार में अन्य गीतकारों की तुलना में निरालाजी के गीत शास्त्र-सम्मत एवं रसानुशायी है । वे वैयक्तिक न होकर वस्तुमुखी एवं चित्रात्मक है, उनमें शृंगार, शांत एवं करुणरसों की योजना है । उनके शृंगारिक भूमिका के गीत प्रकृति की रमणीयता और मानव-जीवन की सौंदर्य-रेखाओं से अनुरंजित है, उनमें लघुता, एकतानता एवं समग्रता का गुण है तथा गतिशील चित्रों का सुन्दर समाहार है । लघु-प्रगीतों में काव्य सौंदर्य का उत्कृष्ट रूप दर्शित है तो दीर्घ-प्रगीतों में कहीं-कहीं कुछबिखराव दिखाई देता है । वाजपेयीजी उनके शृंगारगीतों की यह विशेषता विशेष उल्लेखनीय मानते हैं कि उनका शृंगार सर्वत्र संयमित है, शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से वह कहीं आक्रांत नहीं दीखता । शृंगारचित्रण में पंत जी एवं प्रसाद जी की तुलना में निरालाजी के निर्लेप व्यक्तित्व को वे अधिक प्रभावी मानते हैं । गीतिनाट्य पंचवटी-प्रसंग" के भावात्मक संवाद, चरित्र चित्रण अथवा सूक्ष्म मानसिक विवृत्तियों का अभाव आदि को वे लोकनाट्य की शैली के उपयुक्त

---

1. कवि निराला, पृ.137

मानते हैं । स्वच्छन्दतावादी भावनाधारा की समस्त विशेषताएँ वे इस कृति में पाते हैं । प्रकृति का परिवेश वीरों का परिवार वीर चरित्रों की निर्भीकता प्रकट करनेवाले राक्षसों और आततायियों का अपर पक्ष, साहस एवं शक्ति का प्रदर्शन आदि जो-जो विशेषताएँ इसमें हैं उनकी वे सराहना करते हैं ।

"काव्य भाषा" में भाषा की प्रकृति पर विचार करते हुए निराला की भाषा की विशेषताओं का मूल्यांकन हुआ है । निराला-काव्य के कला-पक्ष" का विवेचन भी सुव्यास्थित ढंग से किया गया है । निराला-काव्य की मूल प्रकृति, कला के प्रमुख अंग आदि की विशद चर्चा इसमें हुई है । निराला जी के शैली-प्रयोग को काव्य-वस्तु और काव्य-शैली का सामंजस्य प्रस्तुत करनेवाले सुस्पष्ट तथा अनिवार्य शैली प्रयोग सिद्ध करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इतना श्रेष्ठ शैली प्रयोक्ता कवि आधुनिक हिन्दी काव्य में तो है ही नहीं, नवयुग के संपूर्ण भारतीय साहित्य में भी मुश्किल से मिलेगा ।"

गीतकारों में निरालाजी का स्थान, आधुनिक प्रगीत का स्वरूप आदि का स्पष्टीकरण आधुनिक प्रगीत और निराला में हुआ है तो दार्शनिकता नामक निबंध में निराला काव्य के दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन हुआ है । 'प्रसाद और निराला' एक तुलनात्मक अध्ययन है जिसकी महत्ता कई दृष्टियों से असंदिग्ध है । दोनों के व्यक्तित्व का प्रकाशन इसके द्वारा हो सका है । दोनों कवियों को वाजपेयी जी सच्चे अर्थों में मानव जगत् की स्थितियों और अनुभूतियों के कवि तथा दोनों के काव्य को युग के श्रेष्ठ काव्य मानते हैं । काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा भी दोनों में देखते हैं । प्रसादजी और निराला जी में कई प्रकार की समानताएं दर्शाने के साथ ही कुछ विभिन्नताओं की ओर भी वे संकेत करते हैं । वे देखते हैं कि निराला जी

काव्य में वस्तु मुखी एवं बहिरंग तत्व की प्रमुखता है तो प्रसाद जी के काव्य में अंतर्द्वन्द्व की संपूर्ण मार्मिकता और गंभीरता झलक उठी है । दोनों में लक्षित विभिन्नताओं की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं "निराला जी का कलापक्ष रूपात्मक छवियों की कल्पना, भाषा और छन्दों की योजना, दार्शनिक समाहार आदि प्रसाद जी की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है । इन सबके बदले प्रसाद जी के काव्य में उनके अंतरंग जीवन पक्ष का अधिक मार्मिक और गहरा समाकलन हो पाया है जब कि निराला जी के काव्य का मूल स्वर निःसंगता और तटस्थता के आधार पर निर्मित है । प्रसाद जी के काव्य का मूल स्वर उनके वैयक्तिक जीवन द्वंद्वों से संगठित है । निरालाजी के काव्य में जो बहुरूपता और विस्तार है उसका मुख्य कारण उनकी निजी अनासक्ति है । प्रसाद जी के काव्य में उत्कर्ष की अधिकतर भूमियाँ एक गंभीर और स्थायी विच्छेद-भावना से उद्भूत हैं । इसलिए निरालाजी के काव्य में शृंगार और शांत रसों की प्रमुखता है, जब कि प्रसाद जी के काव्य में आत्मिक संघर्षों और करुण तत्वों की प्रमुखता है ।" लेकिन इस बातपर लेखक को ज़रूर आश्चर्य होता है कि महाकाव्यकार बनने की सभी क्षमताएं अपने में समाविष्ट किये हुए भी निराला जी ने प्रगीत के क्षेत्र को चुना तथा प्रगीतों के प्रति अधिक आस्था रखनेवाले प्रसादजी ने एक ऐसा महाकाव्य प्रदान किया जिसमें युग का प्रतिनिधित्व करने की पूरी क्षमता रही। प्रबन्ध काव्य के लिए अपेक्षित रसात्मकता निराला जी के प्रगीतों में व्यापक रूप में विद्यमान है तथा प्रगीतकाव्य की विशेषता मनोभावनाओं का ऊहापोह कामायनी के विशाल परिवेश में सफलता से सन्निविष्ट है । स्वयं एक दार्शनिक होते हुए में निराला जी के काव्य में दर्शन का बोझ कहीं नहीं लक्षित होता जब कि वैयक्तिक प्रेरणाओं से उद्भूत कामायनी में समग्र दर्शन की नियोजना हुई है । यह बात उन्हें बिलकुल विरोधाभास सी लगती है कि प्रसाद जी का महाकाव्य प्रगीतात्मक शैली का एक अप्रतिम उदाहरण है और निराला जी के प्रगीत महाकाव्य की स्वच्छता और उदात्तता से

समृद्ध है । इस प्रकार अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की सफलता के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अंतत: वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि असाधारण प्रतिभा से अनुगृहीत इन दोनों विभूतियों की तुलना सर्वथा असंगत है, दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान् अप्रतिम और अपरोजेय हैं ।

"एक अभिभाषण" में काव्य भाषा एवं जीवन के संबंध में निराला जी के विचारों का प्रतिपादन हुआ है । रवीन्द्र काव्य से निराला जी की तुलना करते हुए स्थापित किया गया है कि रवीन्द्र काव्य गहरी और उदात्त कल्पनाओं से समृद्ध है, किन्तु निराला जी में जो क्रांति का स्वर है वह रवीन्द्र में नहीं है । "जागो फिर एक बार", और "बादल-राग" को वे हिन्दी की अपनी संपत्ति मानते हैं । इलियट से निराला जी में कुछ समानता दर्शाते हुए भी उनके विचार में वर्तमान पर ध्यान न देकर अतीत को अतीत में जाकर आत्मसात् करने की इलियट की दृष्टि नकारात्मक है जब कि गंभीरता और तटस्थता से उद्भूत वस्तुमुखी दृष्टि निराला जी की उल्लेखनीय विशेषता है ।

"एक श्रद्धांजलि" विशेष रूप से पठनीय है । अत्यंत संयत ढंग से प्रौढ एवं पुष्ट प्रमाणों द्वारा कवि निराला के साहित्यिक व्यक्तित्व के उत्कृष्ट रूपों का उद्घाटन कर उस विशिष्ट, महान और संघर्षशील कवि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लेखक ने व्यक्त किया है कि "निस्सन्देह निराला जी भारतीय साहित्य के मणिदीप हैं, उज्ज्वल आलोक नक्षत्र हैं, निराला जी का अस्त हिन्दी काव्य सूर्य का अस्त है । मुक्त छंद में संगीत का योग करके, सुन्दर, सौंदर्याभिरुचि से समृद्ध गीतों की सृष्टि करनेवाले, अपनी प्रतिभा से अनेक काव्य-शैलियों का प्रवर्तन और संस्कार करनेवाले, कविता कला के सच्चे साधक निराला जी को वे हिन्दी के अप्रतिम कवि मानते हैं जो सर्वथा समीचीन है । उनकी समस्त रचनाओं में सामाजिक पक्ष को

सशक्त रूप दर्शाते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि निराला जी का व्यक्तित्व सभी अर्थों में भारतीय कवि-परंपरा से जुड़ा हुआ है, भारतीय अध्यात्म तत्व को उन्होंने अपनाया था ।"

निराला काव्य विषयक तीन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डालकर उस विषय में अपना मत वाजपेयी जी ने इस निबंध में प्रस्तुत किया है । वे प्रश्न हैं - निराला जी को छायावादी कवि कहें या प्रगतिशील कहें या प्रयोग-बहुल कवि के रूप में वे गीतों और छन्दों के स्रष्टा माने जायें, निराला जी मूलत: श्रृंगार या वीररस के कवि हैं अथवा शांत या करुण रस के तथा आधुनिक युग की काव्यधारा में, काव्य-विकास में संसार की वर्तमान काव्य-प्रवृत्तियों के बीच निराला जी का अपना वैशिष्ट्य क्या है ?

वादों मे निरालाजी के संबंध के विषय में वाजपेयी जी का यही विचार है कि भारतीय दर्शन या संस्कृति के आग्रह के अतिरिक्त किसी वाद के वशंवर्ती वे कभी नहीं हुए । अनेक वादों और शैलियों का स्रष्टा होते हुए भी वे सबसे परे हैं, यही उनकी विशेषता है । इस अर्थ में निरालाजी को भारतीय वेदांत दर्शन का कवि मानना वे अधिक संगत समझते हैं ।

रसों के प्रश्न को लेकर लेखक का कहना है कि निराला जी के काव्य में रस उनकी सांस्कृतिक चेतना की उपज है । सुदृढ़ सांस्कृतिक चेतना से संपन्न होने के कारण ही विभिन्न रस-भूमियों से गुज़रते हुए भी किसी रस को अधिक प्रमुखता देने का आग्रह उनमें नहीं रहा । इसलिए उनके काव्य को किसी रस-विशेष की श्रेणी में रखना वाजपेयी जी की दृष्टि में असंगत है ।

---

1. कवि निराला, पृ.196

वर्तमान काव्य-युग में निराला जी का स्थान निर्धारित करते हुए जो मंतव्य वाजपेयी जी ने प्रकट किया है वह उनके काव्य जीवन के सभी स्वरूपों की ओर संकेत करनेवाला है । इस प्रसंग में उन्होंने आधुनिक युग में साहित्य के क्षेत्र में विभिन्न मोड लेनेवाले टी·एस· इलियट का भी उल्लेख किया है । वे बताते हैं कि संपूर्ण युग के संघर्षों से अग्रसर होते हुए भी मानव-जीवन के प्रति आस्था कायम रखकर, युग की समस्त जीवन-भूमिकाओं पर समन्वय स्थापित करते हुए, पहले आशा के स्वर को, पीछे आक्रोश के स्वर को और अंत में परम सत्ता के स्वर को व्यंजित करते हुए अपने काव्य में इन सबका अपूर्व सामंजस्य निराला जी ने उपस्थित कर दिया जो निश्चय ही महत्वपूर्ण है । मानव जीवन के प्रति आस्था पर निर्मित यह सामंजस्य ही वाजपेयी जी की दृष्टि में निराला जी का मूल्यवान प्रदेय है ।

"समाहार" में निराला जी की चरित्रगत विशेषताओं के उल्लेख के साथ ही देश और काल की परिस्थितियों और प्रभावों की भी चर्चा की गयी है जो निराला जी के व्यक्तित्व को स्थापित करने में सहायक हुए हैं ।

इस प्रकार, जैसा कि वाजपेयीजी ने सूचित किया है, इस श्रेष्ठ समीक्षा-कृति में आधुनिक युग की पीठिका पर, युग के विविध पहलुओं पर विचार करते हुए, वर्तमान समय का कविकर्म क्या हो सकता है, इसकी धारणा बनाकर ही निराला-काव्य की परीक्षा हुई है । यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है कि उनके काव्य के वैविध्य में समरसता अथवा उनकी रचना विधियों में एकात्मता और परिनिष्ठित रूप कहाँ तक उपलब्ध है ।

कवि सुमित्रानंदन पंत

यह रचना सन् 1976 में प्रकाशित हुई । पंत जी के काव्य के मूल्यांकन का प्रयास इसमें हुआ है । उनसे संबन्धित कुछ पुराने और नए निबंध इस पुस्तक में संकलित हैं । इसका प्रथम निबंध है स्वच्छन्दतावाद - छायावाद - रहस्यवाद । स्वच्छंदतावाद और छायावाद में कोई तात्त्विक अंतर न दर्शाते हुए भी छायावाद में निहित आध्यात्मिक चेतना के आधार पर दोनों के बीच एक भेदक रेखा स्पष्ट करते हुए दोनों में लक्षित सूक्ष्म अंतर की ओर संकेत किया है । प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी छायावादी माने जाते हैं । किंतु वाजपेयी जी उनके वैचारिक दृष्टिकोण में लक्षित अंतर की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि निराला अधिक स्वच्छंदतावादी, पंत छायावादी एवं महादेवी रहस्यवादी है तथा प्रसाद में इन तीनों प्रवृत्तियों समन्वित हैं । आध्यात्मिक दर्शन से समन्वित पंत-काव्य का मूल आधार वे छायावादी संस्कार मानते हैं । इन चारों कवियों के दृष्टिकोण के गंभीर विश्लेषण के बाद अंग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावादी कवियों से हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों की तुलना की गयी है । वाजपेयी जी ही कदाचित् प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने वर्ड्सवर्थ से प्रसाद जी की तुलना करते हुए दोनों के काव्य तथा चिंतन में समानता दर्शायी है । शेली को उन्होंने वायवीय भावना में पंत जी के निकट और विकसित काव्य के प्रसंग में निरालाजी के निकट माना है । शेली और निराला जी के बीच जो अंतर है वह भी यहाँ स्पष्ट किया गया है । कीट्स तथा पंत जी के दृष्टिकोण में काफी समानता दर्शायी गयी है । उनके विचार में पंत जी शतप्रतिशत कवि नहीं व्याख्याता भी हैं, कीट्स शत प्रतिशत कवि है । रहस्यात्मकता के आधार पर महादेवी और ब्लेक की तुलना करने के साथ ही दोनों की काव्य-प्रवृत्तियों में लक्षित भिन्नताओं का भी प्रतिपादन किया गया है ।

दूसरे निबंध में "छायावाद की प्रगीत सृष्टि" और पंत का प्रवेश पर विचार किया गया है । वाजपेयी जी का पूरा विवेचन इतना सारगर्भित है कि छायावादी प्रगतिसृष्टि की वैचारिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि का सही विवेचन सबसे पहले इसी में उपलब्ध होता है । उनकी इक्कीसवीं वर्षगाँठ के अवसर पर प्रकाशित निबंध है "पुष्पोपहार" । इसमें वाजपेयी जी ने पंत का रेखाचित्र प्रस्तुत करते हुए उनकी कुछ अंतरंग विशेषताओं का उद्घाटन किया है । व्यक्तित्व के निर्माण और विकास केलिए विचारों का आदान प्रदान वाजपेयी अत्यंत आवश्यक मानते हैं । पंत में वे इसका अभाव देखते हैं और इसे ही उनके काव्य की सम्यक् समीक्षा न हो पाने का कारण बताते हैं ।

अंतिम निबन्ध है "पंत का काव्य : एक मूल्यांकन" । पंत की कविता में जो उन्मेष है, जो रमणीयता है, जो आकर्षण है सबका श्रेय वे उनकी कल्पना-शक्ति को देते हैं । उनकी कल्पना में यह गुण भी वे देखते हैं कि व्यापक जीवन से असंपृक्त रहकर एकांतिक होने की स्थिति में वह कभी नहीं पहुंचती । उनकी कविता की साजसज्जा को वे आधुनिक हिन्दी में अतिशय विरल मानते हैं । "सरस, सार्थक शब्दसृष्टि, सुगेय छन्द और सुन्दर, प्रशस्त भाषा को वे खड़ीबोली के लिए पंत की देन मानते हैं । भावधारा, संगीत, कल्पना-वैशिष्ट्य आदि के आधार पर "गुंजन" संग्रह की कुछ कविताओं को उन्होंने पल्लव-संग्रह के अधिक समीप माना है । काव्य में दार्शनिक पुट को वाजपेयी अनुचित नहीं समझते । लेकिन उसकी एकपक्षीयता उन्हें खटकती है । युग जीवन और युगीन विचारधाराओं से उसका बहुत कम संबंध ही वे मानते हैं । कला और शिल्प की भूमि पर उसके काव्यसौन्दर्य की प्रशंसा भी की गयी है ।

युगांत के कुछ प्रगीतों में सुन्दरता और नूतनता का स्वागत, नई आशाओं, आकांक्षाओं द्वारा तन, मन और जीवन में बाँधे जाने का आमंत्रण दीखते हैं । लेकिन युगवाणी में भाषा की सूक्ष्मता, विश्लेषण का सौंदर्य, भावना की स्थिति कुछ भी वे नहीं देखते । उनका यही निष्कर्ष है कि "युगावाणी की पंक्तियाँ इतनी चमत्कार हीन एवं गरिष्ठ हैं कि काव्य के रूप में उन्हें पढ़ पाना भी कठिन है । संवेदनशीलता जवाब दे गयी है और भावात्मक तथ्य के उपस्थापन में काव्यविधान असमर्थ हुआ है । कल्पित वस्तु एवं कवि के आत्मीय संबंध का वे इसमें बिलकुल अभाव देखते हैं । भावानुकूल भाषा के बदले भावानुकूल विषय या भाव की खोज करने के लिए पाठक को मज़बूर बनाने की स्थिति वे शोभनीय नहीं मानते । इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर वे इंगित करते हैं कि बदलते परिप्रेक्ष्य में बदलते साहित्यिक प्रतिमानों के इच्छुक कवि को भाषा-प्रतिमान पर भी पूर्णत: ध्यान देना चाहिए । पंतजी ने इस ओर जितना ध्यान दिया उसे वे अपर्याप्त मानते हैं । नये भावों, विचारों एवं तथ्यों के अनुरूप नई भाषा की सम्यक् व्यवस्था की कमी, दर्शन के अधिक प्रभाव के कारण स्वच्छन्दता और सहजता का अभाव, कोर गद्यात्मकता अनुभूति के स्फुरण की कमी आदि कमज़ोरियाँ इसमें वे दर्शाते हैं । इसके अतिरिक्त आत्मनिवेदनात्मक एवं प्रशस्तिमूलक रचनाओं का प्रणयन, यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति, प्रतीकात्मकता आदि पर भी विचार किया गया है ।

"युगावाणी" के दार्शनिक पक्ष की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने बताया है कि गांधीजी के अध्यात्मवाद और मार्क्स के भौतिकवाद के द्वन्द्वों के परिहार के लिए जो समाधान पंत जी ने दिया है उसे सुस्पष्ट दार्शनिक सिद्धांत नहीं माना जा सकता । गांधीवाद, मार्क्सवाद दोनों को समग्रता की भूमि पर देखना वे अधिक आवश्यक समझते हैं । यहाँ वे पंतजी की अपनी आदर्शोन्मुखी दार्शनिकता की ओर भी संकेत करते हैं । उनके विचार में पंत जी छायावादी कल्पना दार्शनिक दृष्टि से भी

अधिक आकर्षक और मनोरम हैं[1]। "युगांत" की कविताओं में भी भाव की अपेक्षा विचार की प्रमुखता वे देखते हैं। अधिकांश दार्शनिक कविताओं की शब्दावली अपनी सूक्ष्मता और अर्थगांभीर्य के कारण विभ्रम ही पैदा करती हैं। वाजपेयी जी के विचार में दार्शनिक तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए प्राकृतिक वस्तुओं या दृश्यों का उपयोग करते समय इस बात पर ध्यान रहना चाहिए कि उसमें प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों साकार होकर आ सकें। इसी को वे प्राकृतिक एवं दार्शनिक तथ्यों के विन्यास की आदर्श शैली मानते है और काव्य की दृष्टि से प्रकृति का उपयोग सार्थक होने के लिए यही वे आवश्यक भी समझते हैं।

युगांत, युगांतर एवं युगवाणी की कविताओं पर असंतोष प्रकट करने के उपरांत "ग्राम्या" में आकर कुछ संतोष का अनुभव करते हैं। "ग्राम्या" का सारा कलेवर "युगावाणी" के कृत्रिम काव्यकार से बदला हुआ उन्हें दीखता है। लेकिन अन्य संग्रहों के समान ग्राम्या नाम को भी उसमें अंतर्विष्ट विचारों की दृष्टि से वे अहेतुक मानते हैं। उनके विचार में ग्राम्य शब्द अविकसित और पिछडे हुए समाज का सूचक है जबकि कवि की उन्मुखता ग्रामसंस्कृति के स्वस्थ स्वरूप की ओर रही है। कुछ कविताओं का संबंध गाँवों की दीन-हीन अवस्था से होते हुए भी उसका सहज सुन्दर रूप ही अधिक उभरकर आया है। इन कविताओं के विषय में उनका मत है कि यद्यपि ग्रामजीवन के विविध पार्श्वों को ले लेने के कारण यह रचना शिल्प की दृष्टि से बिखरी हुई दिखाई देती है, पर अन्य दृष्टियों से इसमें ग्राम-जीवन की यथार्थता और उसके उन्नयन के संकेत भी मिलते हैं[2]।"
"ग्राम्या" के कवि को ही वे सच्चे कवि और कलाकार का महत्व प्रदानकरते हैं। इस पर भी वे संतोष प्रकट करते हैं कि पल्लव के बाद "ग्राम्या" में ही

---

1. कवि सुमित्रानंदन पंत, पृ.86
2. वही, पृ.91

भाषा, शैली, भावधारा सभी में कुछ नवता आ गयी है । वाजपेयी जी की दृष्टि में ग्राम्य का विचारपक्ष संतुलित, काव्योपयुक्त और नई विकासशील चेतना के अनुरूप है ।" उसका प्रगीतशिल्प ही सुकेंद्रित और सुव्यवस्थित माना गया है ।

पंतजी के परवर्तीकाव्य (स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि आदि) एवं अरविंद दर्शन पर वाजपेयी ने बहुत कम ही लिखे हैं । जो विचार व्यक्त हुए हैं उनके माध्यम से वे यही स्पष्ट करते हैं कि दार्शनिकता को कविता के साथ एकात्म करने में पंतजी सफल नहीं हुए हैं । किंतु "कला और बूढ़ा चाँद" में उन्हें काव्य की प्रकृत भूमि" पर आते हुए देखकर वे यही निष्कर्ष निकलते हैं कि दर्शन के बुरे प्रभाव से मुक्त होने पर ही अधिक स्वच्छ, सहज एवं गंभीर काव्य की रचना हो सकती है । पंत जी के विषय में अंत तक वाजपेयी जी यही विचार रखते थे कि गांधीवाद, मार्क्सवाद, अरविंद दर्शन आदि से वे चाहे जितने भी प्रभावित रहें, उनका छायावादी संस्कार सर्वत्र उनका पीछा करता है । छायावाद की जो आध्यात्मिक दृष्टि है उसकी झलक उन्हें पंत-काव्य में यत्र-तत्र मिलती है । छायावादी कवियों से पंत को अलग विशिष्टता प्रदान करनेवाली एक बात उनकी दृष्टि में यह है कि उनकी काव्यदृष्टि अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक भविष्योन्मुख है ।

रस सिद्धांत : नए सन्दर्भ

इस सैद्धान्तिक रचना का प्रकाशन सन् 1977 में हुआ । यह भी भारतीय काव्यशास्त्र-विवेचन से संबद्ध है । प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं का आधुनिक संदर्भ में प्रयोग कहाँ तक हो सकता है यह समझने की चेष्टा इस निबंध में उन्होंने की है । उनका विचार है "समय आ गया है अब हम अपने प्राचीन पोथियों को खोलकर यह देखने का प्रयत्न भी करें कि हमारे लिए चिंतन के क्षेत्र में वे कहाँ तक हमारा साथ दे सकते हैं । और उनका आधार लेकर हम किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं । "वे मानते हैं कि काव्य सृजन में सृष्टा की अनुभूति ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकरूपता मानते हुए भी अनुभूति को ही अधिक महत्व देते हैं । अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी इसी दृष्टिकोण को महत्व दिया गया है । काव्यशास्त्र के नवनिर्माण की चर्चा

पाश्चात्य साहित्यालोचन एवं भारतीय साहित्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन पर भी ध्यान दिया गया है । भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रासंगिकता की तलाश में रस-सिद्धांत पर ही अधिक गंभीर विचार प्रस्तुत किए गए है । भरत की रस व्याख्या, रस: एक नई व्याख्या, विश्व के काव्यात्मवाद और उस सन्दर्भ में रसवाद तथा रस-संबंधी आधुनिक चिंतन ये चार निबन्ध रस-सिद्धांत नए सन्दर्भ" में संकलित हैं । यद्यपि ये चारों निबंध समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, फिर भी रस संबंधी आधुनिक चिंतन निश्चय ही अधिक गंभीर एवं विचारणीय है । उनकी अंतर्भेदिनी दृष्टि और अचूक पकड का परिचय इन निबंधों से मिलता है । पश्चिमी एवं भारतीय काव्यशास्त्र पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए वे विश्व के काव्यात्मवाद के सन्दर्भ में रसवाद को देखना चाहते हैं । भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित रस-सिद्धांत एवं अरस्तू की मौलिक स्थापनाओं में उन्हें विस्मयजनक समानता के दर्शन होते हैं । भारतीय काव्यशास्त्र को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास इस विवेचन में परिलक्षित है ।

हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग

सन् 1979 में इस रचना का प्रकाशन हुआ । यह वाजपेयी जी के कुछ भाषणों का संकलन है । इसे उनकी प्रचारात्मक सेवाओं का उत्तम दृष्टांत माना जा सकता है ।

अन्य कई विद्वानों की भाँति वाजपेयी जी के विचार में भी हिन्दी भारत की भावात्मक एकता की प्रतीक है । उसके प्रचार-प्रसार एवं विकास के लिए उन्होंने जो सेवाएं की है वे बहुत महत्वपूर्ण है । हिन्दी के प्रचारार्थ वे केरल भी आए थे । अपनी केरल-यात्रा में विभिन्न जगहों पर विभिन्न विषयों पर उन्होंने भाषण दिए थे । यह रचना

इनके ये भाषण श्रोताओं में नयी स्फूर्ति जगाने में बहुत अधिक सहायक हुए । वक्तव्य के अतिरिक्त कुल १० भाषण इसमें संकलित हैं जिनमें राष्ट्रभाषा और राजभाषा, देशोन्नति में हिन्दी का दायित्व, राष्ट्रभाषा के विकास में हिन्दी का योग भारतीय भाषाओं का साहित्यिक आदान-प्रदान, हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग, संस्कृत का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव, आधुनिक हिन्दी साहित्य की रूपरेखा, भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, हिन्दी और मलयालम का साहित्य आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं । "केरल की शारदीय परिक्रमा" उनकी केरल-यात्रा के सुखद अनुभवों पर आधारित है ।

भारतीय संस्कृति का मूल तत्व समन्वयवादिता अपने हर दृष्टि कोण में लागू करने का आग्रह वे प्रकट करते हैं । उनके विचार में मनुष्य के जीवन की चरितार्थता ही समन्वय में है । भारतीयता के अधिक दर्शन, राष्ट्रीय चेतना का स्वस्थ रूप वे केरल के साहित्य में पाते हैं । इस बात पर वे बहुत खुश दीखते हैं कि केरल के लोग बडी तत्परता से हिन्दी सीख रहे हैं और इसलिए उनपर उसे थोप देने की आवश्यकता नहीं है । भारत की जनता के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता महसूस करते हुए पूरी दृढता से वे कहते हैं कि राष्ट्रभाषा बनने की सही योग्यता हिन्दी में है । वे आग्रह करते हैं कि इंग्लैंडवाले अंग्रेज़ी को, रूसवाले रूसी का जो महत्व देते हैं वही महत्व भारतीयों द्वारा हिन्दी को दिया जाना चाहिए । राष्ट्र की सम्यक् उन्नति के लिए हिन्दी का ज्ञान वे अनुपेक्षणीय समझते हैं जिससे सभी प्रकार के व्यवधान एवं विभेद दूर किये जा सकते हैं । यह पद हिन्दी के लिए वे इसीलिए उपयुक्त मानते हैं कि उसको सब जनता समझती है और उसका अस्तित्व सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है । इस बात पर वे ज़ोर देते हैं कि इस प्रजातंत्र में हिन्दी आपकी सेविका है । यह भाषा जनता को बल देनेवाली तो है ही साथ ही एकता के सूत्र में बाँधनेवाली भी है ।"

इन रचनाओं के अतिरिक्त वाजपेयी जी का एक अनुवाद-ग्रंथ है "धर्मों की एकता"। डाक्टर भगवानदास की "एस्सनशियल यूनिटी आॅफ आॅल् रलिज्यस" पुस्तक का अनुवाद है यह। एक सफल अनुवाद का स्वरूप इसमें प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी की "काव्य और कला तथा अन्य निबंध", निराला जी की "गीतिका", भगवती प्रसाद वाजपेयी की "खाली बोतल" अंचल की "अपराजिता", जानकी वल्लभ शास्त्री के "रूप और अरूप", गंगाप्रसाद पाण्डे का 'छायावाद और रहस्यवाद" आदि आधुनिक साहित्य की अनेक पुस्तकों की भूमिकाएँ तथा 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' तथा "रत्नाकर-संग्रह" की प्रस्तावना आदि भी इन्होंने लिखी हैं। मासिक पत्रिकाओं में भी समय-समय पर कई लेख प्रकाशित होते रहे हैं। हिन्दी साहित्य क्षेत्र के कार्यकर्ताओं में पूरे जीवनकाल में इनका विशेष स्थान रहा है। इनके संपूर्ण साहित्य का आकलन करते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी रचना-यात्रा अधिकांशत: निबन्धात्मक रही है। अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी उनका निबंधात्मक रूप ही अधिक उजागर रहा है। कवि के रूप में अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ कर निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विविध साहित्यिक विधाओं के विवेचन से होता हुआ इतिहासकार बनने तक की क्षमता उन्होंने प्रकट की, यह तो कम महत्व की बात नहीं है। "भारत" पत्र का संपादक उसके सीमित दायरे से बाहर निकलकर संपूर्ण भारत के जन-हृदयों की आवाज को आत्मसात् कर सबके सम्मान के पात्र बन गये, यह उनकी उदार, समन्वयात्मक दृष्टि का ही परिणाम है। अपने सक्रिय, सजग एवं प्रबुद्ध मन से, निरलस कुशल लेखनी से, तलस्पर्शी मेधा तथा कलात्मक अभिवृत्ति से हिन्दी भारती की महान् तथा अतुलनीय सेवा करनेवाले साहित्यशिल्पी आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सहृदय, मर्मी विद्वान समालोचक के रूप में सदैव स्मरण किया जाएगा, इसमें सन्देह नहीं।

निष्कर्ष

"साहित्य की प्रौढ़ता जीवन-दर्शन तथा भावात्मकता की विराटता पर निर्भर है और समीक्षा की प्रौढता सहृदयता और भावना की व्यापकता एवं उत्कृष्टता पर ।"[1] समीक्षक के लिए यह कभी श्लाघनीय नहीं हो सकता कि संपूर्ण कृति के आकलन के लिए वह पहले ही आलोचना के अपने कुछ मानदण्ड और सिद्धांत निश्चित करें और अपनी पसन्द-नापसन्द की चीज़ों को ही कृति में तलाश करें । यह भी अनिवार्य नहीं कि प्रत्येक कृति की तुलना विश्व के सर्वोच्च साहित्यिक कृतियों से की जाय । देखना तो यही चाहिए कि कृति में अपने ढंग से प्रस्तुत उसकी मौलिक उद्भावनाओं की सफलता और सार्थकता कहाँ तक है । लेखक के दायित्व के प्रति बोधवान रहकर उसकी सीमाओं एवं विशिष्टताओं तथा मौलिक कलात्मक मान्यताओं को सामने रखकर उसे कृति की अंतसत्ता में प्रवेश करना चाहिए । "हमारी कसौटी जितनी व्यापक और कलाकृति के जितने अधिक मौलिक मूल्यों पर आधारित होगी, हमारे मूल्यांकन में उतनी ही सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता होगी । सीमित मानदण्डों के आधार पर न तो किसी महान रचना का सही मूल्य ही आंका जा सकता है, न उसकी संपूर्ण सार्थकता ही समझी जा सकती है[2] ।" सभी तत्वों से संयुत आकलन में ही समीक्षा का समुन्नत स्तर रूपायित होता है । अपनी संपूर्ण शक्ति उसमें लगानी पड़ती है

---

1. डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र : हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, पृ.38
2. नेमिचन्द्र जैन - बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ.33

प्रस्तुत अध्याय में यही दिखाने की चेष्टा की गयी है कि वाजपेयी जी की कृतियाँ उनके अर्जित संस्कार तथा मूल्यबोध पर अधिष्ठित है। रचना की मूल प्रेरणाओं और उपलब्धियों, क्षमताओं और संगतनाओं तथा असंगतियों एवं उपादेयताओं को सही ढंग से स्पष्ट करने के उद्देश्य से से ही उन्होंने अपनी समीक्षाओं को प्रस्तुत किया है। उनकी कृतियों से यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका व्यक्तित्व निरंतर विकसनशील रहा है। विचारों के प्रौढ होने के साथ ही साथ उनके दृष्टकोण में भी संतुलन, प्रौढता एवं गंभीरता आ पायी हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओं पर उन्होंने लिखा है और उनकी रचनाएँ भारतीय एवं पश्चिमी साहित्य की व्यापक जानकारी से ओतप्रोत हैं। जो कुछ उनकी मौलिक प्रतिभा से प्रस्फुटित हुई वे सब सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं राष्ट्रीय चेतना की क्रियात्मक पहलुओं से संपन्न रही। "महाकवि सूरदास", "जयशंकर प्रसाद" "कवि निराला" जैसी रचनाएँ उनके समीक्षक व्यक्तित्व की आधारशिलाएँ हैं।

दूसरा अध्याय

साहित्य तत्व : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष

साहित्य तत्व : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष

समीक्षा के सिद्धान्त-पक्ष की अपेक्षा उसकी व्यावहारिकता की ओर ही वाजपेयी जी ने अधिक ध्यान दिया है । सैद्धांतिक आलोचना तो उनके समय तक काफी विकसित हो चुकी थी । फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत विभिन्न विद्वानों द्वारा जिन-जिन संप्रदायों के प्रवर्तन एवं विकास हुए हैं उन पर उन्होंने भी अपने ढंग से विचार किया है । विभिन्न काव्य-सिद्धांत, साहित्य के तत्व आदि इसके अंतर्गत आते हैं । उन्हीं के अनुशीलन की चेष्टा इस अध्याय में हुई है ।

अलंकार सिद्धान्त

वाजपेयी जी ने इस सिद्धांत का निरूपण भामह, दण्डी जैसे अलंकारवादियों के विचारों के आधार पर किया है । उनके विचार में

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य-सौंदर्य अथवा काव्यात्मक अभिव्यंजना के सौंदर्य के अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग किया था । वे देखते हैं कि कल्पना-व्यापार से उत्पन्न रूप-सृष्टि को ही अलंकार मानने के कारण अलंकारों के विभाजन का कोई वैज्ञानिक प्रयास इन आचार्यों ने नहीं किया । रीति, गुण आदि के नाम पर अलग-अलग संप्रदायों के जन्म लिये जाने तक ये सब अलंकारों के अंतर्गत ही समाविष्ट किये जाते थे । वाजपेयी जी की दृष्टि में "सौंदर्यमलंकार:" के अनुसार काव्य के प्रतिष्ठापक तथा शोभा वर्धक दोनों ही उपकरण अलंकार व्याख्या के अंतर्गत आ जाते हैं ।

रीति मत

संक्षिप्त रूप से रीति का स्वरूपगत विकास और ह्रास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए वाजपेयी जी यह अनुमान करते हैं कि ईस्वी सन् 600 से 700 तक 100 वर्षों के अंतर्गत रीति संप्रदाय भारतीय साहित्य-समीक्षा का प्रमुख आधार रहा था । रीतियों की संख्या बढ़ाकर उसको विकसित करने में वामन के अतिरिक्त रुद्रट एवं भोज का भी योग यदि वे मानते हैं तो उसके ह्रास का कारण प्राणों एवं गुणों से उसका संबन्ध-स्थापन माना गया है । वे सोचते हैं कि क्रमश: गुण दोष और अलंकारों की विवेचना रीति से स्वतंत्र आधार पर होने लगी जिसके फलस्वरूप रीति संप्रदाय की व्यापकता घटकर रस सिद्धांत की एक शाखा मात्रा वह मानी जाने लगी ।

गुणसंप्रदाय के मूल में वाजपेयी जी कोई सैद्धांतिक प्रक्रिया उतनी नहीं मानते जितनी वास्तविक काव्य के अनुशीलन की प्रक्रिया है । वास्तविक रचना के अनुशीलन से प्राप्त अनुभवों के आधार पर गुणों और

दोषों का निरूपण करने की प्रवृत्ति वे निराधार या निर्बल नहीं मानते ।

वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए वाजपेयी जी ने बताया है कि "वैदग्ध्य भंगीभणिति" द्वारा कुंतक ने अभिव्यंजना की रोचकता को ही वक्रोक्ति की संज्ञा दी है और इस प्रकार रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के पश्चात् उसका विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुए किया है । कुंतक द्वारा प्रतिपादित वर्ण-विन्यास, पद, वाक्य और प्रकरण अथवा प्रबन्ध-वक्रता - इन पाँच भेदों का भी उल्लेख हुआ है । अलंकार तथा रस-वक्रता को भी इसके अंतर्गत मान लेते हैं ।

ध्वनि के विषय में वे मानते हैं कि नाटक के अलावा अन्य काव्यों के लिए रस की स्वीकृति ध्वनि-संप्रदाय के द्वारा ही हो सकी । रस-निष्पत्ति की व्याख्या द्वारा वे यह निर्णय निकालते हैं कि रस को तथा उसके आस्वादन की प्रक्रिया को समझाने के लिए ध्वनिमत का आविष्कार हुआ । आरंभ में रस ध्वनि का एक भेद ही माना जाने लगा । इस-ध्वनि के अतिरिक्त अन्य दो भेद वस्तु-ध्वनि एवं अलंकार-ध्वनि को भी उसके अंतर्गत मानते हुए ध्वनि का स्वरूप अधिक व्यापक बनाया गया । इस प्रकार वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि रस-सिद्धांत का आधार लेकर ही भारतीय साहित्य समीक्षा में ध्वनि-सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई ।

जयशंकर प्रसाद की आलोचना में वाजपेयी जी ने इस तथ्य का आधार ग्रहण किया है । वहाँ उन्होंने स्वीकार किया है कि वस्तु एवं अलंकार ध्वनि भी अंतत: रसपर्यवसायी होने के कारण ही उपचारत: काव्य की आत्मा कही गयी हैं ।

वाजपेयी जी अनुमान करते हैं कि ध्वनिसंप्रदाय के समर्थकों ने काव्य में रस एवं ध्वनि की व्याप्ति की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन आरंभ कर रस की अपेक्षा "प्रतीयमान" या "ध्वनि" की व्याप्ति की अधिकता पर बल दिया । और एक तथ्य की ओर भी उन्होंने संकेत किया है कि ध्वनि को अधिक व्यापक मानते हुए भी इन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य एवं चित्रकाव्य जैसे भेदों के बीच कहीं भी रस का नाम नहीं है । ऐसा होते हुए भी इतना कहना वे उचित समझते हैं कि रसात्मक वाक्य को श्रेष्ठ माननेवाले सहृदय ध्वनिमात्र के इस अवांछित विस्तार को अनुचित मानकर रस को ही काव्य की आत्मा का स्थान देते हैं । उनके विचार में ध्वनि रस के स्वरूप और उसके आस्वादन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का साधन मात्र है ।

"हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी" में निराला-विषयक निबंध में वाजपेयी जी ने ध्वनि से संबद्ध कुछ रोचक प्रश्न प्रस्तुत किए हैं । वे कहते हैं - "प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ है । पर इस आग्रह को हम हद के बाहर लिये जा रहे हैं क्यों कि ध्वनि और अभिधा काव्य-वस्तु के भेद नहीं हैं, केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद हैं जो काव्य-वस्तु को देखते हुए छोटी चीज़ है । स्पष्टवादिता को वे इस युग की विशेषता भी मान लेते हैं । उन्होंने कामायनी के विवेचन के प्रसंग में भी समुचित उदाहरणों द्वारा काव्योचित ढंग से ध्वनि के कुछ प्रभेदों का प्रतिपादन किया है ।

रस-सिद्धांत

रस-सिद्धांत पर वाजपेयी जी इस दृष्टि से विचार करते दीखते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र के जीवंत तत्वों का उपयोग

वर्तमान सन्दर्भ में साहित्य में किस प्रकार हो सकता है । रस-सिद्धान्त को वे काव्य-दृष्टि का परिमार्जक तथा रस को आस्वादार्थक शब्द मानते हैं । भरत की रस-व्याख्या का विश्लेषण करते हुए वे यही तथ्य स्थापित करते हैं कि भरत का रस-संबंधी मानसिक आस्वादन का तथ्य प्रत्यक्ष गोचरता के आधार पर निर्मित है, शास्त्रीय चिंतन के आधार पर नहीं । भारतीय काव्यशास्त्र को अधिकाधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने के आग्रह से ही उन्होंने भरतमुनि के नाट्यशास्त्रीय रस-सिद्धांत और अरस्तू के अनुकृतिवाद में अतिशय समानता दर्शायी है । वाजपेयीजीकी यह टिप्पणी आज के सन्दर्भ में विशेष महत्व रखती है कि "रस अंतत: सामाजिक अनुभूति है ।" उनके रस-सिद्धांत में मानवतावाद का सम्यक् समावेश है । मौलिक एवं मूल्यवान मानव-भावना से ही वे रस का संबंध जोड़ते हैं जिसकी सृष्टि श्रेष्ठकाव्य में होती है । रस ही उनकी दृष्टिमें काव्य की आत्मा है तथा "मानव-समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का समन्वित रूप है ।

वाजपेयी जी ने रस का स्वरूप यों व्यक्त किया है । "काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है जो मनुष्य-मात्र में स्वभावत: अनुकूल भावोच्छ्वास और सौंदर्य-संवेदन उत्पन्न करता है । इसी सौंदर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं[1]।" प्राचीन आचार्यों की रसविषयक मान्यताओं को स्वीकार करने के साथ ही उसे युगानुरूप नई दृष्टि से विकसित करने का प्रयास भी वाजपेयी जी ने किया है । रस के शास्त्रीय रूप को काव्य की विवेचना के लिए वे अपर्याप्त मानते हैं । वह सिद्धांत गीतिकाव्य पर पूर्ण: घटित नहीं होता[2]।" रस की अलौकिकता को भी

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.432
2. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.100

वे अनिष्टकारी मानते है क्योंकि अलौकिकता के नाम पर लौकिकता ही बढती गई , कितनी ही उच्छृंखल सप्तशतियों की रचना हुई तथा कविता व्यक्तिगत होती गई और अंतत: दरबारी कवियों की सृष्टि हुई[1] । वाजपेयी जी रसानुभूति में अलौकिक तत्वों का निषेध तो नहीं करते, किंतु लौकिकता भी उसमें अंतर्लीन मानते हैं । कोरी आध्यात्मिकता को काव्योत्कर्ष का बाधक तत्व भी ठहराया । महादेवी जी के काव्य की एकांगिता इसीलिए उन्होंने कला की सीमा मान ली । जीवन की असाधारणता, कृत्रिमता, समाज-निरपेक्ष वैयक्तिकता व्यक्ति-निरपेक्ष सामूहिकता आदि को महत्व न देकर मानव जीवन की वास्तविकता, सहजता, सरल सात्विकता आदि के ही वे हिमायती रहे । इसलिए समाज-निरपेक्ष आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी कभी अनावश्यक महत्व न दे पाए । महादेवी जी की एक कविता की आलोचना करते हुए वे कहते हैं - "यह सौंदर्य-चित्रण आध्यात्मिक रहस्य-मुद्राओं से परिपूर्ण है, इसे छायावाद की परंपरा में हम नहीं ले सकते । इनमें एक विलक्षण उदासीनता, सात्विकता, शांति और निश्चलता झलकती है । छायावादी की चेतनता, चांचल्य और चहक इनमें नहीं[2] ।" वाजपेयी जी के मत में महादेवी जी का काव्य व्यक्तिगत दु:ख को सब जगह आध्यात्मिक ऊंचाई तक नहीं ले जा सका है । मन की वस्तुस्थिति एवं स्वाभाविक प्रक्रिया से रस का घनिष्ट संबंध मानते हुए उसे उन्होंने मानसिक संस्कार में भी समर्थ मान लिया है । छायावादी युग की सांस्कृतिक-चेतना एवं कलागत सौंदर्य बोध से उद्भूत सूक्ष्म, परिनिष्ठित आदर्शवाद का स्वच्छन्द स्वरूप उनकी समीक्षा में दृष्टिगत होता है । विकासोन्मुख मानवतावाद से उसका संबंध माना जा सकता है । अनुभूति का स्वाभाविक सौंदर्य उनकी दृष्टि में साहित्यका मूल तत्व है । वाजपेयी जी की दृष्टि में रसवादियों का अलंकार विरोध ऊपरी था,

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.10।
2. वही, पृ.207

वस्तुत: वे अलंकारों को अपनी रस-सिद्धि का साधक कामधेनु का गोपाल बनाते रहे हैं।[1]"

वाजपेयी जी ने रस को उदात्त नैतिक चेतना से संबद्ध मान लिया है। स्थूल आदर्श, रूढिबद्ध नैतिकता एवं परंपरित मर्यादा के रीतिनियम से बढकर जीवनोत्कर्ष के प्रेरणादायक तत्वों को आत्मसात् करते हुए अग्रसर होने की प्रवृत्ति उनमें परिलक्षित है। उनकी दृष्टि में यह प्रगतिमूलक भावचेतना है जो जीवन-सौंदर्य की नियामक है। अनुभूति के अतिरिक्त और किसी तत्व के अतिरिक्त महत्व को वे स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में साहित्य में बुद्धि, दर्शन, नीति, विज्ञान सब रसमय हो उठते हैं। साहित्य की ह्रासशील प्रवृत्तियों का विरोध, विकासशील प्रवृत्तियों का समर्थन, जीवन-विषयक आस्था आदि उनकी नैतिक चेतना के परिणाम हैं। उनके विचार में श्रेष्ठ काव्य का नैसर्गिक या प्रतिभातत्व भावात्मक होता है। उसका स्थायी तत्व है समाज की नैतिक चेतना और उसका गतिमान तत्व है कवि की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक अभिज्ञता। कहने की आवश्यकता नहीं, ये तीनों तत्व गहरे अनुभवों या अनुभूतियों पर आश्रित हैं और इन गहरे अनुभवों का संबंध सामाजिक जीवन के स्थितिशील और गतिशील तत्वों के दुहरे रूपों से है। ऊपर से न दिखाई देने पर भी कवि की निगूढ चेतना में इन तीनों तत्वों का समावेश रहता है।" वाजपेयी जी प्राचीन रस-सिद्धान्त को स्थूल, अगतिशील नीतिचक्र कहकर उसे जीवंत साहित्य की समीक्षा में असमर्थ सिद्ध करते हैं। सूरदास के पदों के संबंध में इससे अनेक दिक्कतें उत्पन्न होती हैं। वे कहते हैं "सूरसागर का प्रधान इस साहित्यशास्त्र की रस-कोटि में नहीं आता। यदि साहित्य का रस अलौकिक है तो सूर का काव्यानन्द अलौकिक से भी अलौकिक है। सूर और तुलसी के नायक

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.103

साहित्यशास्त्र के साधारण नायक नहीं हैं, वे चराचर नायक हैं।[1]"
रस-सृष्टि में नैतिक चेतना का अंतर्भाव वाजपेयी जी भी आवश्यक मानते हैं, किंतु शुक्लजी की नैतिक दृष्टि से यह बिलकुल भिन्न है। युगानुरूप संशोधन वे रस-सिद्धांत के लिए भी अपेक्षित मानते हैं तथा इस बात पर खुश भी नज़र आते हैं कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों द्वारा नई जीवन-दृष्टि एवं नई सैद्धान्तिक शब्दावली का प्रयोग होने लगा है। शुक्लजी के दृष्टिकोण को वे एकांगी मानते हैं। रस के नैतिक रूप का प्रतिपादन करनेवाले शुक्लजी राम के काव्यात्मक निरूपण में रस मानते हैं, रावण के निरूपण में नहीं, परंतु वास्तविक रस किसी नीतिवाद पर आश्रित नहीं है। शुक्ल जी नीतिचक्र के फेर में पड गए हैं। काव्य से ऊपर निति का स्थूल शासन वे नहीं छोड सके और भारतीय काव्यशास्त्रियों के रसतत्व की ऊँचाई को नहीं छू सके[2]।" शुक्लजी पर वे यह शिकायत भी करते हैं कि उनका विवेचन निस्संग और निष्पक्ष नहीं रह सका है। उनकी व्यक्तिगत मान्यताओं से उनकी समीक्षा-दृष्टि बहुत दूर तक प्रभावित हुए है। साहित्यिक विवेचन में जिस मनोवैज्ञानिक तटस्थता की आवश्यकता है, वह शुक्लजी में नहीं दिखलाई पडती[3]।" शुक्लजी की रस-व्याख्या को वे भाव व्यंजना या अनुभूति पर आश्रित नहीं मानते। शुक्लजी द्वारा रस और अलंकार एवं अभिव्यंजना में विच्छेद मान लेना, काव्य के देशकालानुरूप स्वरूप की उपेक्षा करना, काव्य की अखंड और निर्विशेष स्वरूप पर दृष्टि न जाना, काव्य की भावसत्ता को व्यवहार-निरपेक्ष नहीं मानना, एक विशेष काव्यरूप के अनुरूप भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या करना आदि के कारण वे शुक्लजी की समीक्षा दृष्टि अवैज्ञानिक मानते हुए स्थापित करते हैं कि इस कारण काव्यशास्त्र की व्यापकता में अवरोध भी उत्पन्न हुए हैं।

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.85-86
2. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.109
3. वही, पृ.122

वाजपेयी जी के इन विचारों से विदित होता है कि वे रस-विरोधी नहीं हैं, रस मत से संबद्ध रूढियों के ही विरोधी हैं । परंपरागत रस-सिद्धांत के स्वरूप को अधिक व्यापक रूप देकर उन्होंने उसे आधुनिक काव्य की परीक्षा के उपयुक्त बना दिया । उनकी दृष्टि में कला की कोई सीमा नहीं है और सीमित अवस्था में रहनेवाले किसी भी सिद्धांत द्वारा उसकी परीक्षा नहीं हो सकती । सिद्धांतों के बंधन में वह नहीं रह सकती । उनके विचार में केवल सौंदर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, परन्तु सौंदर्य की परख के कोई निश्चित आधार नहीं बतलाये जा सकते[1] ।" वे मानते हैं कि काव्य का वास्तविक सौंदर्य कवि के काव्योत्कर्ष की भावात्मक परीक्षा में निहित है[2] ।" समीक्षा के स्थायी मापदण्ड का निर्माण भावना, अनुभूति, संवेदन आदि तत्वों के आधार पर हो सकता है जो कला के सौष्ठव के निर्धारक हैं । युग, समाज, संस्कृतियाँ, काव्य-शैली, विचारधारा, साहित्यिक मान्यताएँ आदि में परिवर्तन आ जाने पर भी कला का सौष्ठव चिरंतन होकर रहता है जिस के आधार पर उसका मूल्यांकन हो सकता है । इस सौंदर्य या सौष्ठव के अंतर्गत कला के समस्त उपकरण सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं । सबके अलग-अलग अस्तित्व का इसमें विलयन हो जाता है और तब उपलब्ध होनेवाला सम्यक् संवेदन ही काव्यालोचन के प्राण हैं । काव्य संवेदन के अंतर्गत जीवन-सौंदर्य और अभिव्यक्ति सौष्ठव दोनों निहित हैं । यह संवेदन-प्रणाली असाधारण, विरल और कुछ अंशों में रहस्यात्मक ढंग की है[3] ।" इस संवेदन को ही वाजपेयी जी काव्यात्मक अनुभूति का पर्याय मानते हैं[4] ।" उनका काव्यसंवेदन भारतीय रस-मत के बहुत कुछ समान है । और पश्चिमी काव्यशास्त्र के बहुत कुछ निकट है । शुक्लजी का रस-सिद्धांत

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.118
2. महाकवि सूरदास, पृ.15
3. आधुनिक साहित्य, पृ.305-307
4. वही, पृ.417

यदि शास्त्रबद्ध है तो वाजपेयी जी की दृष्टि स्वच्छ एवं स्वस्थ है । रस की स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र सत्ता का प्रतिपादन वाजपेयी जी द्वारा ही हुआ है । मानववाद से संबंध-स्थापन के साथ ही वे युग के नवीनतम दार्शनिक चिंतन से भी उसको संबद्ध कर देते हैं । सार्वजनिक अनुभूत्यों के प्रकाश में ही वे रस की सृष्टि मानते हैं । उनके मत में व्यक्तित्व की आत्मसीमित परिधि का अतिक्रमण करने पर ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि हो सकती है । इसी को रस का साधारणीकरण व्यापार कहा गया है । शुक्ल जी ने साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का माना है।[1] यह अधिक सूक्ष्म और व्यापक है · परंतु समस्त कवि व्यापार की मनोवैज्ञानिक व्याप्ति उसमें नहीं है । वाजपेयी जी के विचार में साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य ही है । साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र-विशेष का नहीं[2] । वे मानते हैं कि रचयिता या कवि के लिए भी देवता या पूज्य चरित्र उतने ही पूज्य हैं जितने दर्शक या श्रोता के लिए । "ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा, उसी भाव की सृष्टि करेगा, जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वत: की है । उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती, क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भावों की स्थिति ही नहीं है[3] ।" यह व्यापार व्यक्ति के उत्कर्ष में सहायक भी होता है । वाजपेयी जी की यह मान्यता याने कवि-कल्पना के माध्यम से आविष्कृत रूप की समग्रता ही आस्वाद्य है, हिन्दी समीक्षा के सैद्धान्तिक स्तर पर सर्वथा नूतन स्वर है, यही भारतीय रस-सिद्धांत को आचार्य वाजपेयी की देन है ।

1· चिंतामणि, भाग - 1, पृ·230

2· आधुनिक साहित्य, पृ·399

3· वही, पृ·396

वाजपेयी जी ने रसानुभूति में सुखात्मक और दु:खात्मक दोनों प्रकार के दृश्य स्वीकार किए है । लेकिन इन दृश्यों की योजना प्रगतिमूलक तथा सोद्देश्य ही होती है । करुणा एक दुर्बल भाव लगती है, लेकिन साहित्यिक कृतियों में व्यंजित करुणा कभी दुर्बलता और शक्तिहीनता की सृष्टि नहीं करती । सार्वजनिक हित के उद्देश्य से उद्भूत श्रेष्ठ काव्यों में नास्तिकता या उससे उद्भूत द्वन्द्व के लिए स्थान नहीं हो सकता । भारतीय आचार्यों ने जिस आत्मभूमि पर रस को प्रतिष्ठित किया है वही आत्मभूमि वाजपेयी जी द्वारा भी स्वीकृत हुई है । उनकी ही भाँति वाजपेयी जी का रस-सिद्धांत भी सौ प्रतिशत भारतीय है, अपने राष्ट्र की भूमि की वस्तु है ।

वाजपेयी जी के अनुसार रस-काव्य की सीमा में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों का अंतर्भाव रहता है । सार्वजनीन अनुभूति की सृष्टि करनेवाले रस को वे देश-काल निरपेक्ष शाश्वत और सार्वभौमिक भाव मानते हैं । सामयिक प्रेरणाओं को भी आत्मसात् करनेवाले साहित्य में युग-सत्य का उद्घाटन तो अनिवार्य रूप से होना चाहिए । साहित्य को युग विशेष के सर्वोत्कृष्ट सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधि घोषित करते हुए वे बताते हैं, "प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का रूप देना उसका (कवि का) कार्य है । आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड सकता है, किन्तु हृदय के चिरन्तन सौंदर्यतारों को स्पर्श करनेवाला कभी पिछडता नहीं ।"[1] साहित्य का समाज से घनिष्ठ संबंध वे सदैव मानते आए है । उनके रस सिद्धांत में जिस मानवतावाद का समावेश है वह राष्ट्रीय भाव-सत्ता पर अधिष्ठित है । वाजपेयी जी ने रस सिद्धांत को प्राचीन रूढिगत बंधनों से मुक्त करने के साथ ही नवीन शास्त्रीय बंधनों से भी स्वतंत्र रखकर उसे सर्वथा नवीन,

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.434

उदात्त, व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया जिससे उनकी मान्यताएँ शास्त्रीय न होकर सब प्रकार से स्वच्छन्द रह सकी हैं। शुक्लजी ने जहाँ नैतिक भूमि पर रस को प्रतिष्ठित किया, वहाँ वाजपेयी जी ने उसे सूक्ष्म आत्मिक स्तर प्रदान किया जिसकी व्याप्ति में नैतिक, व्यावहारिक, बौद्धिक सभी पक्षों का सहज समावेश हो जाता है। अन्य समीक्षकों से उनकी दृष्टि में अंतर केवल इतना है कि वाजपेयी जी ने नैतिकता, बौद्धिकता आदि को अंग रूप में ही स्वीकार किया है जब कि अन्य समीक्षक उन्हें अंगी रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ भी उनकी स्वस्थ, संयत् समन्वय-वादी दृष्टि स्पष्ट झलकती है।

रस-निष्पत्ति को लेकर जो चर्चाएं उन्होंने की है उनका भी विशेष महत्व है। भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त इन आचार्यों के मतों को विकास की एक ही भूमि पर रखकर, उनमें समन्वय स्थापित कर उन्होंने अपनी मौलिक सूझ-बूझ का प्रौढ रूप उपस्थित किया है। उनके विचार में भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया का, शंकुक का अनुमितिवाद अभिनय योजना द्वारा नायक-नायिका के रस को सार्वजनिक बनाने के उपक्रम का, भट्ट नायक का भुक्तिवाद साधारणीकरण द्वारा दर्शक की सामर्थ्य का तथा अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद काव्य की ध्वन्यात्मकता का उद्घाटन करनेवाला है। काव्य की प्रेषणीयता एवं रसास्वाद की गंभीर समस्या के उद्घाटन की क्रमबद्ध योजना वे इन विवेचनों में दर्शाते हैं।

रस को राष्ट्रीय भूमि की वस्तु मानकर संपूर्ण साहित्य की समीक्षा करने की क्षमता उस में वाजपेयी जी ने दर्शायी है। मध्य एवं आधुनिक दोनों युगों के काव्य का मूल्यांकन इसी के सहारे वे कर सके हैं। सूर, तुलसी, प्रसाद, निराला सब समान रूप से इस सिद्धांत के व्यापक

परिप्रेक्ष्य में स्थान पाते हैं । जो-जो कलाकार इस सिद्धांत का प्रौढ नियोजन अपनी रचनाओं में अधिक दक्षता से कर सके हैं उन सबके प्रति वाजपेयी जी में प्रशंसा का भाव रहता है । काव्य की ही भाँति नाटक कहानी जैसी गद्य-विधाओं के विवेचन में भी उन्होंने यही आधार ग्रहण किया है । इस प्रकार प्राचीन और नवीन काव्य, प्रबंध और प्रगीत, गद्य और पद्य सबके मूल्यांकन में उन्होंने इसी एक सिद्धांत का प्रयोग किया है और उसके द्वारा रस-सिद्धांत के अनेक स्तरों का उद्घाटन सहज ही हो पाया है । इस आधार पर बताया जा सकता है कि युगों पूर्व आचार्य भरतमुनि ने अपनी ज्ञानराशि का समुचित उपयोग कर रस-सिद्धांत के रूप में जो भावदीप जलाया उसी की ज्योति आचार्य चतुष्टय, मम्मट, विश्वनाथ पंडितराज जगन्नाथ आदि से होता हुआ आज तक प्रज्ज्वलित रहा । यद्यपि कुछ समय के लिए उसकी चमक मन्द पड गयी तो भी समीक्षा-जगत में आचार्य शुक्लजी के पदार्पण से वह अपना विनष्ट चैतन्य पूर्वाधिक शक्ति एवं दीप्ति के साथ स्वायत्त कर सका । विभिन्न युगों के इन प्रतिभावान विद्वानों के योगदान से इसकी सुदीर्घ परंपरा की जो धारा बहती चली आई है उसे नूतन शक्ति एवं गति देने का कठिन कार्य वाजपेयी जी द्वारा सुगमता से संपन्न हो सका, यह तो कम महत्वपूर्ण नहीं है । वाजपेयी जी का यह रसबोध पूर्णत: स्वदेशी है, अपने देश की उपज है, अतीत काल से आज तक अनर्गल गति से अग्रसर होती रही परंपरा का अविच्छिन्न अंग है । भारतीय सांस्कृतिक जीवन का साहित्यिक प्रतिमान बनने की पूरी क्षमता केवल इसी को प्राप्त है । और इसी राष्ट्रीय वस्तु को जिसका स्वरूप शुद्ध साहित्यिक भी है, वाजपेयी जी ने अपनी समीक्षा का प्रतिमान बनाया है । इसे वर्तमान अवस्था तक पहुँचा देने में किसी विदेशी विचार अथवा दृष्टिकोण का योगदान नहीं हुआ है । बिलकुल स्वदेशी नींव पर स्वतंत्र साहित्यिक चेतना के बल पर इसका निर्माण हुआ है । वाजपेयी जी के रसवाद के विषय में डॉ॰ रामविनोद सिंह का कथन है " वाजपेयी ने रसवाद का

विशेषता या रसमीमांसा काव्य अनुभूति के व्याज से की है । अनुभूति को स्पष्टतया रेखांकित करने के लिए ही उन्होंने रसवाद की चर्चा की है । इसके साथ ही काव्यशास्त्र की पूर्ण परंपरा का रेखाचित्र प्रस्तुत करके उन्होंने रसवाद के स्वरूप को सरलीकृत एवं अधिक व्यावहारिक बनाया है । उनके मतानुसार काव्य का अभिप्रेत अनुभूति है, रस नहीं है । अनुभूति के सम्यक् अभिव्यंजन से रस की प्राप्ति हो जाती है । रस की स्थिति अनुभूति में निहित है । इसलिए वाजपेयी ने रस को काव्य का अंतर्वर्ती तत्व कहा है ।[1]"

सूर-काव्य का रसनिरूपण

अपनी इन धारणाओं के आधार पर ही वाजपेयी जी ने "महाकवि सूरदास" का विवेचन किया है । भारतीय रस-सिद्धांत की प्रचलित पद्धति सूरदास के मूल्यांकन के लिए अपर्याप्त मानते हुए भी सूर के काव्य-सौंदर्य को रस की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने में वे बिल्कुल समर्थ मानते हैं । भावात्मक और नैतिक अनुभूतियों के साथ रस में बुद्धितत्व की स्वीकृति एक नूतन मान्यता है । रस प्रक्रिया के अंतर्गत बौद्धिक अनुभूतियों का भी महत्व घोषित कर प्रगतिवादी सौंदर्यशास्त्र के एक बडे प्रश्न को हल करने का श्रेय वाजपेयी जी को है । साधारणीकरण के द्वारा रस के समष्टिगत प्रभाव की जो मान्यता उन्होंने स्थापित की है । उसका व्यावहारिक रूप "महाकवि सूरदास" में प्राप्त होती है । कृष्णभक्ति को वैयक्तिक प्रेम का समाजीकरण मानना इस दृष्टिकोण का परिणाम है । सूरदास की प्रतिभा की प्रशंसा में वे स्थापित करते हैं कि "जिस कौशल के साथ राधा और कृष्ण के एकनिष्ठ, व्यक्तिगत प्रगाढ प्रेम संबंध को सूरदास ने सामूहिक स्वरूप दिया है, कृष्ण की प्रेममूर्ति को जिस चातुरी के साथ समाजव्यापी आराधना का पात्र बना दिया है, धार्मिक काव्य के इतिहास में उसके जोड की कोई वस्तु शायद ही मिले ।[2]" सूर के सौंदर्य-दर्शन को वाजपेयी जी ने

---

1. डॉ. रामविनोदसिंह : हिन्दी समीक्षा: सीमाएँ और संभावनाएं, पृ.65

रहस्यमय माना है । राधाकृष्ण के प्रेमी-प्रेमिका संबंध का जब समाजीकरण हो जाता है तब भक्ति का आगमन होता है । प्रेमी कृष्ण द्वारा ही आराध्य कृष्ण की स्थापना को वे काव्य जगत् में एकदम अनोखा मान लेते हैं । रास की वर्णना में वे सूरदास के काव्य को परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर स्थित देखते हैं । इस प्रसंग को वे निश्चय ही कवि की कला-कुशलता और गहन अंतर्दृष्टि का द्योतक समझते हैं । उसी प्रकार कृष्ण के मथुरागमन के अवसर पर वंशी को लक्ष्य कर दिये जानेवाले गोपियों के प्रेम पूर्णउपालंभ, नेत्रों पर किए गए अनेकानेक आरोप आदि प्रसंगों को भी वाजपेयी जी कवि की उत्कृष्ट तल्लीनता और सूक्ष्म मानसिक पहुँच तथा अधिकार के द्योतक समझते हैं । व्यक्त सौंदर्य की अव्यक्त और निगूढ अर्भगतिय द्वारा कृष्ण को रहस्यमयी परमसत्ता का स्वरूप प्रदान कर कवि ने उपास्य कृष्ण की जो प्रतिष्ठा की है, अनिर्वचनीय, रहस्यमय, सामूहिक प्रेम (भक्ति) की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्तिगत प्रेम-प्रसंग एवं बाह्य घटनाओं की जो आयोजना की है वही वाजपेयी जी की दृष्टि में सूरदास की काव्य-साधना है ।

सूरदास द्वारा प्रस्तुत कृष्ण के स्वरूप को वाजपेयी जी अलौकिक और दिव्य मानते हैं । उनके बालवर्णन, रास-लीला, मुरली-माधुरी चीरहरण लीला, भ्रमरगीत आदि से संबन्धित प्रसंगों में वाजपेयी जी को अलौकिकता का आभास होता है । कवि प्रतिभा के साथ भक्ति की पराकाष्ठा भी दर्शाते हुए उनकी कविता में वे लाक्षणिक अर्थ की झलक पाते हैं कृष्ण के चरित्र के अंतर्गत ही ब्रह्म का संकेत करने में समर्थ सूरदास के बुद्धि वैभव के संबंध में वे यों बताते हैं - "कवि सूरदास कविता के रहस्य को समझते थे । उनके पद काव्यगुणपूर्ण हैं । बाल लीला वर्णन करते हुए सूर ने प्रभु स्थान-स्थान पर प्रेमविह्वल होकर कृष्ण के लिए "सूर के प्रभु", स्वामी की

लीला, आदि जो प्रयोग किए हैं, उनसे तो भगवान के प्रति उनकी अपरिमित प्रीति की ही व्यंजना होती है।[1]"

कविता को उसके देश-काल और व्यक्तित्व के विकास के अनुसार कवि की आत्मा में अपनी आत्मा को मिलाकर विकास की प्रत्येक दिशा में उसके साथ तन्मय होकर देखना होगा, यही वाजपेयी जी की राय है। सूरदास, प्रसाद, निराला सभी के [illegible] काव्यानुशीलन में वाजपेयी जी ने इस प्रकार के अध्ययन की सरस चेष्टा की है। बालकृष्ण में अलौकिक शक्तियों का समावेश करके जो अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन सूर ने किया है उसे वे कवि के उद्देश्य एवं विषय के अनुकूल ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में कृष्ण के गुणगान का जो महान उद्देश्य कवि का रहा है वही एक महाकाव्य के लिए काफी है। वे बताते हैं कि भारतीय रस-शास्त्र की प्रचलित पद्धति यहाँ कोई हानि नहीं कर सकती। व्रज के चित्रपट पर कृष्ण का चित्र अंकित करने के पहले विनय के पदों में उसकी भूमिका उत्तम रीति से बाँध लेनेवाली सूर की काव्य चातुरी को वाजपेयी विशेष प्रशंसनीय मानते हैं। वे दृढतापूर्वक घोषित करते हैं कि यद्यपि साहित्यशास्त्र के अनुसार कृष्ण ही विविध लीलाओं का आलंबन ठहरते हैं और उद्दीपन की भी संपूर्ण सामग्री है, किंतु सूर के आरंभिक विनय के पदों से ही उनकी भावभूमि असाधारण रीति से ऊपर उठ जाती है और उनके लीला-गीतों में तो माधुर्य भावना अलौकिक सीमा पर पहुँच जाती है[2]।"

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.124
2. वही, पृ.66

चोलीबन्द तोडनेवाले कृष्ण द्वारा ही कंस के वध का चित्रण, विनोदपूर्ण क्रीडाओं द्वारा गोपिकाओं के मन लुभानेवाले कृष्ण द्वारा ही मथुरा-गमन का चित्रण, इस प्रस्थान के पश्चात् उनके समीप रहते हुए भी गोपियों के लिए अदृश्य रहकर उनमें विदूरता एवं अनंत वियोग की प्रतीति पैदा करने की प्रवृत्ति, कृष्ण के निष्ठुर व्यवहारों से असह्य होते हुए भी उनको पाने की गोपियों की उत्कट अभिलाषा की स्थिति आदि प्रसंगों में यद्यपि सूर के वर्णनों में विचित्रता लगती है तो भी इन सभी चित्रणों से वाजपेयी जी यही निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि सूर के कृष्ण के निर्लिप्त रूप की ही झलक हर जगह हमें मिलती है ।

सूर को हिन्दी के नामी कवि तथा "मानस" को महाकाव्यों का उत्कृष्ट नमूना मानते हुए भी वाजपेयी जी सप्रमाण स्थापित करते हैं कि सूर का पदसंग्रह सभी अर्थों में मानस के समकक्ष माना जा सकता है । इसका कारण उनकी दृष्टि में साहित्यशास्त्र की रस कोटि में भी न समा पानेवाले अलौकिक रस की सृष्टि करनेवाले सूर के पद ही हैं । जिस प्रकार तुलसीने रामायण के समस्त कार्य का श्रेय राम को दिया है उसी प्रकार सूर भी कृष्णमय आनन्द में विभोर होकर अपनी आत्मतृप्ति के लिए प्रत्येक पद की अंतिम पंक्तियों के माध्यम से अपने को कृष्ण के सम्मुख समर्पित कर देते हैं । इसमें वे सूर की भक्ति की पराकाष्ठा दर्शाते हैं । नव-नव प्राकृतिक चित्रणों से बढ़कर भावना का विस्तार करके उसे कृष्णमय बनाने में संलग्न सूरदास के कवि-कर्म की सराहना करते हुए वाजपेयी जी प्रमाणित करते हैं कि सदैव एक आश्चर्यजनक ऊँचे स्तर पर एक अलौकिक मन:स्थिति बनाकर भावनाओं के क्षेत्र में विचरण करनेवाले सूरदास जैसे कवियों को सामान्य समीक्षाकार ठीक-ठीक नहीं समझ सकते । वे पूछते हैं कि एक परम रमणीय अपरिचित सी परिस्थिति की सृष्टि करके उसमें अद्वैत भाव से आत्मा को रमा देना जिनके कवि-कर्म का बाना था, वे लोक-चित्रण की क्या चिंता

करते ? वाजपेयी जी का कथन है कि कोरी कविता से बढ़कर आत्मा की भूख मिटाने में संलग्न सूरदास की कविता में लोकचित्रण की खोज करने की ज़रूरत नहीं। केवल यही देखना है कि वे कवि-कर्म कहाँ तक निभा सके। कवि का कर्म है - अनुभूतियों की अभिव्यक्ति। निरी अनुभूति नहीं, अनुभवों से ग्रस्त अनुभूति। सूर जैसे भक्त के लिए अनुभूति, अनुभव दोनों कृष्ण की उपासना से संबद्ध रहे - इसलिए अपनी आत्मा को, कृष्ण के रंग में रंगी हुई आत्मा को अभिव्यक्ति देने में वे कहाँ तक सफल हुए, यही देखना है। जब हम इसकी जांच करते हैं तो स्पष्ट होता है कि सूर अपने क्षेत्र में सूर ही रहे, पूरी इमानदारी से वे अपना दायित्व पूरा कर सके। इसी आधार पर वाजपेयी जी बताते हैं कि प्रबन्ध में तुलसी ने जिन बातों को वाणी दी वे ही बातें सूर द्वारा मुक्तक में प्रस्तुत की गयी।

"महाकवि सूरदास" को रस विषयक मान्यताओं के बिलकुल अनुरूप सिद्ध करते हुए वाजपेयी जी ने अपनी जिस व्यापक, उदार दृष्टि का परिचय दिया है वही उनकी अन्य आलोचनाओं में भी लक्षित होती है। सूरकाव्य के अनुरूप रस के स्वरूप को व्यापक बनाने का आग्रह करनेवाले वाजपेयी जी निराला के विवेचन में भी यही बात उठाते हैं। रस-सिद्धांत की प्रचलित मान्यताओं को युगानुरूप व्यापकता प्रदान करने की आवश्यकता यहाँ भी उन्हें महसूस हुई है। अपने सिद्धांतों को व्यावहारिक बनाने की ओर वे कितने सतर्क एवं सावधान रहते हैं, इसके दृष्टांत हैं निराला और सूरदास के विषय में उनकी स्थापनाएँ। निराला के आरम्भिक काव्य के अनुशीलन में वे इस ओर सबका ध्यान आकृष्ट करते हैं कि "काव्य में बुद्धितत्व के लिए भी स्थान है, भावना के लिए भी, कल्पना के लिए भी। जिस किसी कृति में ओजस्विता हो, प्रवाह हो, जिसका प्रभाव हम पर पडे, उसमें काव्य की प्रतिष्ठा मानी ही जायगी।

यदि रस-सिद्धान्त के व्याख्याताओं में आज इतनी व्यापकता नहीं है तो उन्हें व्यापक बनना होगा । आधुनिक युग प्रत्येक दिशा में नई काव्य सामग्री का संग्रह करने को कटिबद्ध है[1] ।"

"हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी" में साहित्यकारों की विभिन्न श्रेणियाँ निश्चित करने के लिए जो आधार वाजपेयी जी ने ग्रहण किया है उसे रस-सिद्धांत एवं ध्वनिसिद्धांत की प्रेरणा मानी जा सकती है । ध्वनि का विभाजन उन्हें रस की सापेक्ष्यता में ही मान्य है । रस-निरपेक्ष ध्वनि को वे मानते ही नहीं । काव्य में आनेवाले समस्त वस्तु वर्णन को वे रस के अंतर्गत ही स्थान देते हैं । रस-सत्ता से पृथक् होने पर काव्य का कोई महत्व नहीं रह जाता, यही उनकी धारणा है । वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि दोनों मध्यवर्ती काव्य-वस्तु है । उसका काव्यत्व अक्षुण्ण है । उसमें रस की सत्ता निश्चित रूप से है, भले ही कुछ दूरान्वयी हो । रस-रहित वस्तु ध्वनि और रस-रहित अलंकार-ध्वनि की कल्पना नहीं की जा सकती, क्यों कि काव्य की आत्मा रस है और वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि का काव्य भी उत्तम कहा गया है[2] ।" काव्यगत समस्त रसेतर व्यंजनीय सामग्री को वे वस्तु-ध्वनि के अंतर्गत स्थान देते हैं । इस दृष्टि से अलंकार ध्वनि भी उनके अनुसार वस्तु ध्वनि ही है । अंतर केवल यह है कि अलंकार-ध्वनि में वस्तु अलंकार का रूप धारण किए रहती है इस प्रकार वे स्थापित करते हैं कि काव्य में आया हुआ समस्त वस्तु-वर्णन (वह प्रकृतिचित्रण के रूप में हो या चरित्र-चित्रण के रूप में या अन्य किसी रूप में) वास्तव में विभावादि से ध्वनित होनेवाले रस के अंतर्गत ही है, उससे बाहर या असंपृक्त नहीं[3] ।" वस्तु-चित्रण में विशेषकर सूक्ष्म

---

1. कवि निराला, पृ.25
2. जयशंकर प्रसाद, पृ.103
3. वही,

मानसिक वस्तुओं को साकार रूप देने में कामायनीकार की कल्पना को वे अधिक सफल मानते हैं ।

रसात्मकता के आधार पर ही काव्य का अन्योक्तिकाव्य समासोक्ति काव्य एवं प्रकृतकाव्य नाम से विभाजन किया गया है । कामायनी के काव्यत्व के विवेचन में काव्य के इन विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला गया है । कबीर का काव्य अन्योक्ति पद्धति का उदाहरण माना जा सकता है तो जायसी का काव्य समासोक्ति पद्धति का है । कामायनी में प्रकृत पद्धति अपनायी गयी है । अन्योक्ति काव्य वह है जिसमें वस्तु-वर्णन और भाव-निरूपण दोनों कृत्रिम और अलंकारिक होते हैं, प्रकृत भावभूमि पर काव्य की प्रतिष्ठा न होती । समासोक्ति में रूप या अप्रस्तुत की स्थिति प्रमुख नहीं होती । उसमें काव्य का प्रकृत स्वरूप एवं दार्शनिकता दोनों रहती हैं, दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र और निरपेक्ष रहते हैं । प्रकृत काव्य-पद्धति में समस्त वस्तु-निरूपण और भावव्यंजन स्वाभाविक रूप में रहा करता है और अपना साध्य आप ही होता है । अन्य प्रतीकार्थों के अन्वेषण की आवश्यकता उसमें नहीं होती ।"[1]

यहाँ काव्य के जिन रूपों की चर्चा की गयी है, उसका आधार वाजपेयी जी की रस-विषयक धारणा है । वस्तु-ध्वनि अलंकार-ध्वनि दोनों के लिए रस-व्यंजना अत्यधिक आवश्यक सिद्ध करके उन्होंने रस-सिद्धांत को बहुत ही व्यापक स्वरूप प्रदान किया है । उन्होंने यदि सैद्धांतिक आधार पर काव्य की अखंड सत्ता स्वीकार की है तो व्यावहारिक तौर पर उसके असंख्य भेदों को भी प्रस्तुत किया है । कोरी भावना पर अधिष्ठित काव्य को वाजपेयी जी महत्व नहीं देते ।

---

1. जयशंकर प्रसाद, पृ.99

कोरी कल्पना का भी वे समर्थन नहीं करते । कोरी भावुकता में वे यही त्रुटि देखते हैं कि उसकी भावना के मूल में न कोई सुदृढ मनोविज्ञान होता है और न उसके चित्रण में ही उच्चतर कल्पना और काव्योत्कर्ष की आभा दीख पड़ती है । ऐसे काव्य जिसमें केवल भावना ही भावना है, एक अनिर्दिष्ट बहाव ही बहाव है, कभी उपादेय नहीं हैं ।[1] वाजपेयी जी रसपूर्ण काव्य का ही आग्रह करते हैं । रसवत्ता को ध्यान में रखते हुए ही वे सदैव किसी भी कृति का आकलन करते हैं । जहाँ रस नहीं है वहाँ काव्य को वे बिलकुल निर्जीव मानते हैं । उनके काव्य विवेचन में सर्वत्र यही रसवादी दृष्टि स्पष्ट है जिसका एक सुदृढ बौद्धिक अथवा मनोवैज्ञानिक आकार एवं सुनिश्चित लक्ष्य है अथवा जो किसी व्यापक तत्व का प्रकाशन करता है ।

साहित्य का स्वरूप

वाजपेयी जी साहित्य का संबंध प्रथम और अंतिम रूप से अनुभूति से ही मानते हैं । काव्य के मूल स्वरूप के तौर पर उन्होंने भावों को अत्यधिक महत्व दिया है । भावों के अभाव में कविता का अस्तित्व ही वे असंभव मानते हैं । उनका विचार है "काव्य का क्षेत्र भावों की क्रीडाभूमि है, कविता के इस मूल स्वरूप को हम सभी स्वीकार करते हैं । यह तो काव्य और कलाओं की पहली कोटि है जिसके अभाव में उनका अस्तित्व ही असंभव है किंतु इसके अतिरिक्त किसी दूसरे कोटिक्रम की आवश्यक नहीं है ।"[2] भावों का उद्रेक कविता द्वारा होना चाहिए यह अनिवार्य है, किन्तु और कुछ अनिवार्य नहीं । भावों की व्यंजना, श्रवनन, अभिव्यक्ति

---

1. जयशंकर प्रसाद, पृ.63
2. आलोचना - अंक 2, पृ.3

यही कविता और कला का व्यक्तित्व है[1]।" यहाँ व्यक्त होता है कि कविता में भावों का महत्व अनिवार्य ही नहीं, वे ही सब कुछ हैं। ये भाव साहित्य के नैसर्गिक तत्व हैं और साहित्य भावाश्रित रूप ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य में कोई दूसरी वस्तु-वृत्ता रह ही नहीं सकती। उसमें वस्तु ही रूप है और इन दोनों के इस अनुस्यूत सम्बन्ध को समझना ही सबसे बडी साहित्यिक साधना है। साहित्य में "रूप" या भावाश्रित रूप की विशेष प्रकृति सार्वजनीन बनने की रही है[2]।" काव्य का क्षेत्र भावों और मानव के चिरदिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं का क्षेत्र है और बाह्य जगत् के आर्थिक या सैद्धांतिक विभेदों के रहते हुए भी मनुष्य मनुष्य है - उसके आदर्श और उसकी मानवीयता सभी सभ्य युगों में एक सी ही ऊँची रह सकती हैं, और साहित्य में वे ही आदर्श प्रतिफलित हुआ करते हैं[3]।" काव्य में जो जीवन-तत्व आते हैं अथवा कवि का जो वस्तु-चयन, जीवन-दर्शन या जीवनानुभूति है वही काव्य का अंतरंग है और इसके साथ ही साथ उसमें सौंदर्य या काव्यत्व की सर्वसामान्य विशेषता तो रहती ही है[4]।"

काव्य में व्यंजित ये भावनाएँ व्यक्तिगत कभी नहीं। ये सामाजिक हैं। अपने समय के समाज और सामाजिक चेष्टाओं से ही ये भाव ग्रहण किये जाते हैं। समाज का स्वस्थ, प्रगतिशील स्वरूप ही इसमें प्रस्तुत किया जाता है। किसी बंधी-बंधाई लीक अथवा नपे-जुखे आदर्शों के आधार पर साहित्य की प्रगति और उसका उन्नयन नहीं हो सकता। बदलते हुए समय के साथ प्रगति का मार्ग भी बदलेगा[5]।"

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.52
2. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.3
3. वही, पृ.5
4. वही, पृ.141
5. आधुनिक साहित्य, पृ.358

वाजपेयी जी ऐसी प्रवृत्तियों को साहित्य में स्थान नहीं देना चाहते जो अनास्था एवं अविश्वास की सृष्टि करते हैं । साहित्य में ऐसे विचारों को भी स्थान दिया जा सकता है, किंतु लेखक इस बात पर सतर्क रहें कि उनकी जीवन दृष्टि इस प्रकार की नकारात्मक प्रवृत्तियों से कभी स्खलित न हो जाय । निराशा और पराजय से आक्रान्त अनुभूतियाँ साहित्य में कोई स्थान नहीं ग्रहण करेंगी[1] । शून्य का स्तवन करनेवाली काव्य-सृष्टि से भी किसी का कल्याण नहीं होगा[2] । निराशामूलक वृत्तियों का चित्रण कभी साहित्य का आदर्श न बन जाये । "जीवन का लक्ष्य है जीना । जीना जितना व्यापक और समुन्नत रूप धारण कर सके, उतनी ही साहित्यकार की कृतकार्यता होगी । जीने का व्यापक एवं समुन्नत रूप कोई रूढिबद्ध वस्तु न होकर सतत और सर्वतोमुखी विकास है[3] ।"

वाजपेयी जी के विचार में आज ऐसी कलाकृतियों की ज़रूरत है जिसमें कला एवं जीवन दोनों की प्रगति साथ-साथ चित्रित होती रहे । युगीन संवेदना से संबद्ध समस्याओं की अभिव्यंजना, अनावश्यक परिवर्तनों की रोकथाम एवं आवश्यक परिवर्तनों का उद्घाटन उनके द्वारा होना चाहिए । समाज और जीवन के रचनात्मक पक्षों और अनुभूतियों को लेकर ही श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हो सकती है - और वह भी ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जो स्वत: रचनात्मक लक्ष्य रखते हों और साथ ही जिन्हें विज्ञान की नहीं, जीवन की जानकारी हो, जीवन के प्रति ज्वलंत आस्था हो[4] ।"

---

1. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ॰11-12
2. आधुनिक साहित्य, पृ॰90
3. वही, पृ॰359
4. वही, पृ॰48

साहित्य का मूल तत्व भावना है । किंतु वाजपेयी जी इस भावना में बुद्धि का भी समावेश आवश्यक समझते हैं । साहित्य कभी निर्बौद्धिक रचना नहीं हो सकता । प्रगतिशील चेतना के रूप में बुद्धि सदैव विकास के साथ रही है[1]।" इसी कारण निराला-काव्य में निहित बौद्धिक विशेषता का वे खुले दिल से स्वागत कर सके हैं । निराला के काव्य-विकास के मूल में वे भावना की अपेक्षा बुद्धितत्व की प्रमुखता पाते हैं । किसी पूर्व धारणा का पल्ला पकड़नेवाले काव्यालोचकों केलिए इसका आस्वादन असंभव हो जाता है । लेकिन बुद्धि का भी अतिरेक उन्हें मान्य नहीं । साहित्य के जो निजी तत्व हैं उनका नियंत्रण बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता । बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति सब साहित्य के लिए है, यदि साहित्य मनुष्य के लिए है । केवल साहित्य की प्रणाली यह है कि वह बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति सब को रसमय बनाकर उपस्थित करता है[2]। और इस रसमय प्रणाली को अपनाए बिना जो कुछ उपस्थित किए जाएगी उन्हें शुद्ध साहित्य की कोटि में स्थान न देकर साहित्य के लिए भारस्वरूप ही माने जाएगी । साहित्य के शुद्ध कलात्मक स्वरूप पर किसी भी मतवाद का शासन वाजपेयी जी की दृष्टि में अनावश्यक ही नहीं लगता, अमंगलकारी भी लगता है । साहित्य में बुद्धितत्व का स्थान निश्चय ही महत्वपूर्ण है क्यों कि बौद्धिक क्षमता ही वह गुण है जो जीवन दृष्टि का दिशा-निर्देश करता है, जीवनानुभवों को उत्पन्न करता है तथा उन अनुभवों को पुष्ट करके उन्हें व्यापक परिवेश प्रदान करता है । अनुभवहीन बुद्धि के शुष्क और एकांगी होने के समान ही बुद्धि-रहित अनुभव भी निर्जीव एवं निर्मूल है[3]।"

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.127
2. वही, पृ.127
3. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ.193

प्रगतिशील साहित्य का प्रमुख पक्ष कला-निर्माण का है ।. कलाकार द्वारा अंकित चित्र-विशेष या चरित्र-विशेष की आज कोई व्यावहारिक उपयोगिता चाहे न हो, पर कलात्मक उपयोगिता सब समयों में रहेगी[1] ।" किसी कृति के महत्व का आधार उसका बाह्य आकार न होकर उसमें अंतर्व्याप्त स्पन्दन और जीवन की प्रतिष्ठा है । जब साहित्यकार महाकाव्य, उपन्यास आदि का बडा-बडा नक्शा उतारता है, तब उसे उस नक्शे को सजाने, सजीव करने, रूपों, रंगों, कथाओं अंतर्कथाओं को यथास्थान विभाजित करने, सारे नक्शे में रचयिता के अंतर्निहित प्राण-प्रवाह का प्रवेश कराने, चरित्र की प्रत्येक रेखा का सप्रयोजन सुसम्बद्ध और गुंफित स्वरूप देने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए[2] ।" कलाकार की रचनात्मक शक्ति के अध्ययन के लिए उनकी जीवन दृष्टि, उनकी भाषा-शैली, विभिन्न विचारों को ग्रहण करने की उनकी क्षमता आदि अनेक बातों का ज्ञान आवश्यक है । कृति के कलात्मक महत्व को वाजपेयी जी अत्यधिक महत्व देते हैं । साहित्य उनकी दृष्टि में उच्चतम कलात्मक मूल्यों से समन्वित विशुद्ध कला का रूप है । जीवन-सापेक्ष कला ही हमारे लिए उपादेय है प्रगतिशील कला द्वारा अश्लीलता पर भी परदा डाला जा सकता है क्यों कि वाजपेयी जी के विचार में महान कला कभी अश्लील नहीं हो सकती । उसके बाहरी स्वरूप में यदा-कदा श्लीलता-अश्लीलता संबंधी रूढ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो - और क्रांतिकाल में ऐसा हो भी जाता है - पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक स्खलन उसमें नहीं हो सकता । साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होती है[3] । कोरी तार्किक अतिवादिता या अति काल्पनिकता का पुट कला में नहीं होना चाहिए । जैनेन्द्रकुमार की रचनाओं में इन त्रुटियों की ओर उन्होंने संकेत किया है । कोरी भावुकता का भी वे

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.363
2. वही, पृ.365

विरोध करते हैं । प्रेमचन्द-साहित्य में यत्र-तत्र यह त्रुटि उन्हें लक्षित होती है । वे लिखते हैं - प्रेमचंद जी की दृष्टि व्यक्ति पर न ठहरकर उसके भावों पर ठहरती है । व्यक्ति पर ठहरने के लिए जो बुद्धि या तटस्थता चाहिए, उस बुद्धि की वे साहित्य के लिए आवश्यकता नहीं समझते । परंतु उसकी आवश्यकता के विषय में हमें सन्देह नहीं है[1] । कलावाद, उपयोगितावाद दोनों का वे विरोध करते हैं । कला, उपयोगिता दोनों का समन्वय ही उन्हें अभीष्ट है । जीवन-सापेक्ष कला का महत्व उन्होंने बार-बार घोषित किया है । उपयोगिता के विषय में उनकी धारणा है कि लौकिक उपकार ही साहित्य की कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक बन सकती है[2] ।" किसी बाहरी उपयोगिता के आधार पर वे साहित्य का मूल्य-निर्धारण नहीं करना चाहते । वे साहित्य में कलात्मकता के ही हितैषी हैं । उसीका समर्थन करतेहैं। श्रेष्ठ साहित्य के लिए भाव, बुद्धि, कला तीनों का समाहार वे आवश्यक समझते है । उनकी दृष्टि इस विषय में पूर्ण समन्वयकारी मानी जा सकती है ।

इस प्रकार वाजपेयी जी के समीक्षात्मक दृष्टिकोण में अनुभूति, बुद्धि अभिव्यक्ति सब को उपेक्षित महत्व दिया गया है । साहित्य की भावात्मक, बौद्धिक एवं कलात्मक प्रकृति का उन्होंने समर्थन किया है । प्राचीन रसवादियों द्वारा प्रतिपादित भावात्मक प्रकृति में नीति का भी सन्निवेश कर आपने साहित्य को व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है । भावतत्व एवं बुद्धितत्व से साहित्य के अंतरंग की सृष्टि की जाती है और कला तत्व उसके बहिरंग को मोहक रूप में प्रस्तुत करता है । और इन तीनों तत्वों के सम्यक् योग से सच्चे साहित्य का सृजन होता है ।

---

1. हिन्दी साहित्य = बीसवीं शताब्दी, पृ.127
2. वही, पृ.133

सहज अनुभूतियों से ही वाजपेयी जी साहित्य का संबंध मानते हैं। कृत्रिम अनुभूतियों से उसका कोई सरोकार नहीं है जो कुछ विशिष्ट प्रकार के लोगों, प्रयोगों अथवा प्रवृत्तियों से संबद्ध है या जो किसी साम्प्रदायिक कोटि में आती हैं। परिश्रम या प्रयत्न से उद्भूत न होकर इसे वे आत्म-प्रेरणा का सहज परिणाम मानते हैं। और इस दृष्टि से इसका महत्व सार्वकालिक एवं सार्वजनिक भी होता है। "इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी नैसर्गिक और प्रशस्त होगी उतने उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौंदर्यमयता बढ़ जाएगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ उसका संवेदन होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौंदर्यतत्व नित्य और शाश्वत है।"[1]

वाजपेयी जी की काव्यविषयक परिभाषा[2] में भावतत्व, कल्पनातत्व एवं बुद्धितत्व तीनों आ जाते हैं। रस से कल्पना और सौंदर्य का भी निकटतम संबंध स्थापित करके आपने इसमें साहित्य विषयक पश्चिमी एवं भारतीय सिद्धांतों के समन्वय का प्रयास किया है। भारतीय आचार्यों की रसवादी दृष्टि तथा पश्चिमी विद्वानों की सौंदर्यवादी दृष्टि जिसमें कल्पना को भी प्रमुख स्थान दिया गया है, दोनों काव्य की चिरंतनता केलिए वे समान रूप से महत्वपूर्ण स्थापित करते हैं।

एक स्थान पर वाजपेयी जी ने साहित्य की मूल भावात्मक प्रकृति का प्रकाशन किया है। साहित्य के स्वरूप पर अधिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए समाज के संचालक एवं नियामक के रूप में उसे माना गया है। काव्य को युग चेतना का सच्चा प्रतिबिंब मानते हुए वे लिखते हैं - "साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.433
   काव्य तो प्रकृत ..... रस कहते हैं।

रचनाओं से है जो किसी युग के भावात्मक जीवन का प्रतिमान होती हैं, जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दिशा मे ले जाने का सामर्थ्य रखती हैं[1]।" जब कभी वे साहित्य शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका मतलब प्रगतिशील साहित्य से ही रहा है । प्रगति की ओर प्रशस्त करनेवाले, जीवन के प्रति आस्था पैदा करनेवाले, आशा एवं उमंग का संचार करनेवाले महान से महान आदर्शों का चित्रण ही वे साहित्य केलिए अधिक उपादेय मानते हैं । इस आशय को स्पष्ट करते हुए वे बताते हैं - विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है[2]।" यहाँ मानव-जीवन को ही साहित्य का उपादान और विषयवस्तु मान लेते हैं । यह परिभाषा संक्षिप्त होते हुए भी इतना व्यापक है कि इसमें युग-सत्य एवं शाश्वत-सत्य दोनों समान महत्व से समाहित हुए हैं । "विकासशील" शब्द का यही मतलब है । सामयिक जीवन और उसका परिवर्तनशील विकासोन्मुख स्वरूप दोनों को समाविष्ट करने की प्रक्रियप मे इसके अंतर्गत अतीत, वर्तमान और आगत तीनों का स्वरूप सहज ही आ जाता है । वर्तमान पर दृष्टि केंद्रित करने के साथ ही साहित्यकार को ऐसे कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का भी उल्लेख करना पड़ता है जो अनादि काल से समाज एवं जीवन में अमिट असर अंकित करते आ रहे हैं । साहित्यकार के लिए यह बहुमुखी प्रतिभा वे अत्यंत आवश्यक समझते हैं । अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का सौन्दर्य उन्होंने साहित्य में वांछनीय मान लिया है, काव्य की भावात्मक प्रकृति एवं शक्तिपूर्णता दोनों पर प्रकाश डाला है ।

साहित्य का उद्देश्य

साहित्य के उद्देश्य पर विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है । जीवन को मुख्य स्थान देनेवाले, साहित्य की

---

1. आलोचना, अंक 22, पृ.3
2. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.3

उपयोगिता पर ज़ोर देते हैं तो कलात्मक सौष्ठव का आग्रह करनेवाले आनन्द को काव्य का प्रयोजन मानते हैं । वाजपेयी जी दोनों प्रयोजनों को महत्वपूर्ण मानते हैं । जीवन के लिए काव्य की उपयोगिता एवं आनन्दात्मकता दोनों का समन्वय उनके दृष्टिकोण में हुआ है । यथार्थवाद को लक्ष्य करते हुए उन्होंने बताया है कि साहित्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कोई भला या बुरा प्रभाव डाले, उसका उद्देश्य केवल समाज या जीवन के किसी मार्मिक स्वरूप या स्थितिविशेष की जानकारी मात्र करा देना है[1]।" प्राचीन काल में सदाचार की शिक्षा देना या सद्भावना पैदा करना ही साहित्य का प्रमुख उद्देश्य माना जाता था । किंतु आज तो इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता कि पाठक पर कृति का कैसा प्रभाव पड़ता है । पहले तो रस-सृष्टि काव्य का उद्देश्य था । वह मार्ग उत्साह और प्रगति का था । आज साहित्य से भले प्रभाव की ही नहीं, बुरे मानसिक प्रभाव की भी सृष्टि होने लगी है । बुरे प्रभाव से वाजपेयी जी का यही मतलब है कि साहित्यिक कृतियों द्वारा नग्न चित्रण एवं अश्लीलता के साथ ही निराशा एवं निष्क्रियता के भाव भी व्यक्त किये जा रहे हैं । किंतु साहित्य को नग्नता, निराशा या निष्क्रियता का प्रचारक नहीं होना चाहिए । समाज के लक्ष्यहीन स्वरूपों को अंकित कर लक्ष्यहीनता की सृष्टि करने से कोई संवेदना नहीं उत्पन्न की जा सकती[2]।" साहित्य कोरी जानकारी भी नहीं है । जानकारी स्वत: अपने में एक अधूरी वस्तु है क्योंकि उसे हम जीवन का अंग नहीं बना पाते । अधूरेपन की पूर्ति साहित्य द्वारा ही होती है[3]।" वाजपेयी जी साहित्य को मतवादों की संकुचित सीमा से परे मानते हैं । "साहित्य केवल किसी मतवाद के प्रचार का माध्यम भी नहीं बना करता, और न प्रत्यक्ष और प्रतिदिन बदलनेवाले किसी "राष्ट्रीय कार्यक्रम" का संगी ही बन सकता है ।

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.47
2. वही. प.47

यह "वालेंटियरी प्रवृत्ति" उसे शोभा नहीं देती । उसका लक्ष्य और स्वरूप आज की इन सब यथार्थवादी सीमाओं को पार करने पर ही दिखाई देगा[1] ।"

साहित्य को मनोरंजन मानने के अभिप्राय से वाजपेयी जी सहमत नहीं है । वे मनोरंजन को साहित्य का गौण उद्देश्य ही मानते हैं । युग-प्रतिनिधि साहित्य में मनोरंजन के लिए बहुत कम स्थान ही वे देखते हैं । यह तो दूसरी बात है कि उत्कृष्ट कृतियों के अध्ययन से हमारा मनोरंजन भी होता है । उसका प्रमुख उद्देश्य उससे भी बृहत्तर कुछ है । "पाठकों के मनोरंजन या उनकी रुचि-तृप्ति के लिए अपने लक्ष्य से बाहर जाकर सामग्री जुटाने की स्थिति में कोई भी कलाकार नहीं पड़ना चाहता[2] ।" "रूप" या सौंदर्य की सृष्टि द्वारा उच्च कोटि के लौकिक या अलौकिक आनन्द का उद्रेक ही साहित्य और कलाओं का लक्ष्य है[3] ।" सौंदर्य को वाजपेयी जी आनंद सृष्टि का सर्वोत्तम साधन मान लेते हैं । यही आनन्द भारतीय आचार्यों का रस है । साहित्य का लक्ष्य तो रस-सृष्टि है, यह सर्वमान्य तथ्य है । वाजपेयी जी भी यही मानते हैं कि भावानुभूति से प्रेरित होकर रस का उद्रेक करना काव्य का प्रयोजन है । इसके अतिरिक्त साहित्य का कोई दूसरा उद्देश्य नहीं हो सकता । कोई कृति किसी दूसरी कृति के निर्माण में या नयी साहित्यिक रुचि एवं दृष्टि के निर्माण में बिलकुल सहायक नहीं हुई तो भी कोई हानि नहीं है । "क्योंकि साहित्यिक लेखन का कार्य स्वत: एक उद्देश्य भी है । उसका अपना सुख और परितोष भी होता है । ऐसी स्थिति में उसे किसी अन्य उद्देश्य का परतंत्र मानना आवश्यक या अनिवार्य नहीं[4] । यहां साहित्य का कोई उद्देश्य नहीं बताया गया है तो भी "सुख" और परितोष शब्दों के प्रयोग में इसका उद्देश्य

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.48
2. वही, पृ.195-96
3. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.4
4. आधुनिक साहित्य (भूमिका), पृ.20

सहज ही सन्निविष्ट है । किसी उपयोगितावादी तुला पर साहित्य को तोलने की प्रवृत्ति वे अनुचित मानते हैं । साहित्य उनकी दृष्टि में निश्चय ही समय और समाज की स्थूल उपयोगिताओं से ऊपर की वस्तु है । उसकी परीक्षा के लिए उपयोगिता से अधिक मोटे मानदण्ड का आधार ग्रहण करना चाहिए ।

उपयोगितावाद के घेरे में साहित्य को बद्ध रखना न चाहते हुए भी वाजपेयी जी के विचार में साहित्य का उद्देश्य जीवन केलिए उपयोगी होना है । उसका लक्ष्य स्वस्थ, उल्लासपूर्ण एवं प्रगतिशील भावनाओं का उद्रेक करना होता है । केवल कौतूहल उत्पन्न करने से साहित्य का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता । वाजपेयी जी हमारे साहित्य को ऐसी उत्कृष्ट रचनाओं के भण्डार के रूप में देखना चाहते हैं जिनमें हमारे देश की तात्कालिक और वास्तविक स्थितियों का उल्लेख हो और जो व्यापक समाज की वस्तु बन सकें । साहित्य का लक्ष्य सांस्कृतिक उत्थान भी है । इस लक्ष्य-सिद्धि के इच्छुक साहित्यकार को ऐसा चरित्र प्रस्तुत करना है जिनसे तत्कालीन समाज और जीवन को कोई उदात्त प्रेरणा प्राप्त होती है । उसमें जीवन के विकासोन्मुख पक्ष को प्रमुखता देते हुए ऐसे पात्रों की सृष्टि करनी है जिनका कोई सामाजिक आदर्श या लक्ष्य हो । समाज के राष्ट्रीय जीवन का चित्रण भी वे साहित्य केलिए आवश्यक समझते हैं । वे मानते हैं कि वर्तमान युग में साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप का विशेष महत्व है । वे हमें स्मरण दिलाते हैं कि इस समय जब कि हमने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, हमारे स्वार्थ भारतीय जनता के ही स्वार्थ है और व्यक्ति तथा समूह के रूप में इस जन-समाज का विकास ही हमारा विकास है । इसलिए वे मानते हैं कि हमारा सारा लक्ष्य भारतीय जनतंत्र की नैतिक और भौतिक उन्नति ही हो सकता है । रचनात्मक जनतंत्र को अपने देश में कार्यान्वित करना हमारा पहला लक्ष्य है । एशिया और आफ्रिका के साम्राज्य-शासित देशों को अपनी सारी हमदर्दी देना और

उन्हें साम्राज्यशाही के भार से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध रहने का कार्य तो हमारे विकास से संबद्ध है । साथ ही "ऐटम-सभ्यता" की विभीषिका से संसार को त्राण दिलाने का भारी दायित्व भी हम पर है । वाजपेयी जी का विश्वास है कि हिन्दी साहित्यिकों की सारी प्रतिभा इनकी पूर्ति में लग सकती है[1] । इस प्रकार राष्ट्र-जीवन के लिए साहित्य की महती उपयोगिता की ओर वाजपेयी जी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं ।

साहित्य के इस उपयोगितावादी पक्ष को वाजपेयी जी जीवन के शाश्वत सौंदर्य से अभिन्न मानते हैं । यही कारण है कि सैद्धांतिक भूमि पर वे इसकी उपयोगिता पर ध्यान नहीं देते, किंतु व्यावहारिक तौर पर इसे अनिवार्य रूप से महत्वपूर्ण मान लेते हैं । उनका दृढ विश्वास है कि "काव्य के समस्त उपकरणों का प्रयोजन जीवन-सौंदर्य की कला हमारे हृदय में खिला देना है । ..... उनकी संपूर्ण सुधरता और विन्यास तभी सार्थक होगा जब वे इस जीवन-सौंदर्य के उपेत हैं । यही काव्यकला और जीवन-सौंदर्य की अनन्यता है[2] ।" यहाँ सौंदर्योन्मेष काव्य का चरम उद्देश्य कहा गया है । जहाँ रसोद्रेक को साहित्य का उद्देश्य माना गया है वहाँ सौंदर्य माध्यम बन जाता है । साहित्य के इस द्विमुखी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे प्रमाणित करते हैं कि समाज के सामयिक प्रभावों का आकलन करने के साथ ही सार्वभौम एवं शाश्वत जीवन मूल्यों से भी उसका घनिष्ठ संबंध रहता है ।

काव्य द्वारा जिस सौंदर्य के उद्घाटन की ओर लेखक ने संकेत किया है उसका पूरा आभास निराला के काव्य में उन्हें होता है । वाजपेयी जी के विचार में निराला के व्यक्तित्व का एक पहलू ऐसा भी है

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.25-26
2. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.179

जिसमें व्यापक जीवन-धारा के सौंदर्य का सन्निवेश है, जिसमें ओज के साथ एक सुकोमल सौहार्द का समाहार है । सौंदर्य की ये प्रतिमाएँ उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवनानुभव से संघटित की हैं जिनका पुष्ट रूप उनके काव्य में भी समाहित है । सचेतन जीवन-परमाणुओं को संघटित करने एवं उन्हें दृढ बनाने तथा युग की प्रगतियों से परिचित होने एवं रचनात्मक शक्तियों का संग्रह करने का जो महान लक्ष्य काव्य का होता है उसके निर्वाह में निराला जी को वे बहुत अधिक सफल मानते हैं । वे देखते हैं कि कला की जो भंगिमाएं हैं, प्रकाश रेखाओं की जैसी सूक्ष्म अथच मनोरम जो गतियाँ हैं वे निराला में हैं और हिन्दी में ये विशेषताएं कम उपलब्ध होती है[1] । व्यापक जीवन का प्रखर प्रवाह एवं अतिशय संयम वे उनके काव्य में दर्शाते हैं ।

साहित्य और जीवन

वाजपेयी जी साहित्य का जीवन से घनिष्ठ संबंध मानते हैं । "कला कला केलिए" वाले सिद्धांत का उन्होंने विरोध किया है । उनके विचार में साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन सापेक्ष है । जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रांति है, जीवन सापेक्ष कला के लिए कला सिद्धांत है[2] ।" जीवन के बाहर साहित्य की कोई सत्ता नहीं है । जीवन के कई स्वरूप होते हैं । जीवन व्यक्ति या समाज का हो सकता है, साथ ही राष्ट्र और विश्व का भी हो सकता है । व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों का वे साहित्य में कोई महत्व नहीं मानते । व्यक्तिवादिता साहित्य में पनप नहीं सकती । साहित्य का सम्बन्ध अधिकतर जीवन की सामान्य अनुभूतियों से होता है । वाजपेयी जी के मत में

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.18।

साहित्य जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपों का जीता-जागता चित्र है । ..... वह समाज की श्रेष्ठतम संस्कृति का द्योतक है - मानवता की स्थायी निधि है । इन सबके अतिरिक्त वह एक स्वतंत्र कलावस्तु है । वाणी और मानव-भावना का साकार वैभव है[1] ।" यहाँ भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों को वाजपेयी ने महत्व दिया है । साहित्य में दोनों का सुन्दर सामंजस्य वे आवश्यक समझते हैं । व्यक्ति को वे ज़रूर महत्व देते हैं, किंतु व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर लिखा गया साहित्य उनके मत में निरीह-निर्माण है जो स्थायी नहीं होता । साहित्य केवल व्यक्तिगत भावों के प्रदर्शन की भूमि नहीं हो सकता[2] ।" असाधारण या अल्पसंख्यक वर्ग की अपेक्षा लोक-सामान्य का जीवन चित्रण वे साहित्य के लिए अभिकाम्य मानते हैं ।

रस-सिद्धांत की व्याख्या भी यह बात उन्होंने स्पष्ट की है कि साहित्य का संबंध सामाजिक जीवन से है । रस सिद्धांत सामाजिक है । व्यक्ति की निजी अलग सत्ता और विशेषताएँ साधारणीकरण व्यापार में नि:शेष हो जाती हैं । वर्तमान प्रगतिशील समाज में प्राचीन और स्थिर सिद्धांतों से बढकर प्रगतिशील जीवन-प्रवाह का ही वे स्वागत करते हैं । समाज की परिवर्तित परिस्थितियों एवं विकस्वर शक्तियों का स्पष्ट रूप साहित्य में सहज रूप से उभरना चाहिए । साहित्य द्वारा सदैव जीवंत, मौलिक एवं तेज़ विचारों का प्रकाशन होना चाहिए । गौरवपूर्ण अतीत की प्रस्तुति साहित्य को सुशोभन एवं गौरवास्पद बना सकती है किंतु उसे युग का अनिवार्य काव्य नहीं कहा जा सकता । उत्कृष्ट काव्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है[3] ।" युगीन वास्तविकता की गहराइयों से गुज़रकर, प्रगतिशील तत्वों का उद्घाटन करने से ही कलाकार के सामाजिक दायित्व का सही निर्वाह हो सकेगा । सामाजिक यथार्थ से उसका निकटतम संपर्क

---

1. साहित्यिक साहित्य, पृ.139

होना चाहिए । वाजपेयी जी युग-तत्व को प्रगतिशील साहित्य का प्रमुख सूत्र मानते हैं । इसके लिए परिवर्तन के क्रम को समझने, नवीन समस्याओं के संपर्क में आने एवं नवीन ज्ञान का उपयोग करने की जागरूक दृष्टि अपेक्षित है[1] । प्रगतिशीलता समय-सापेक्ष होने के कारण विगत क्षणों की अपेक्षा समाज की वर्तमान गतिविधियों में ही प्रगति की रेखा अधिक स्पष्ट हो उठती है । अत: यह वे आवश्यक समझते हैं कि साहित्य का संबंध वर्तमान परिस्थितियों से कभी विच्छिन्न न रह जाय । साहित्य पर युगीन प्रभावों की अनिवार्यता का वाजपेयी जी ने बार-बार उल्लेख किया है । जिस युग में जितने अधिक बलशाली उद्वेलन जिस दिशा में उठेंगे, उन उद्वेलनों को लेकर उतने ही महान साहित्यकार के जन्म लेने की संभावना है । उस दिशा में होगी[2] । अन्यत्र भी उन्होंने यों प्रकट किया है - "देश, काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है । कवि की दृष्टि तो और भी तीव्र और ग्राहिकाशक्ति सजग रहती है, इसलिए सच्चे कवि और साहित्यकार प्राय: प्रगतिशील ही हुआ करते हैं[3] ।" किंतु इसका यह अर्थ कदापि व्यंजित नहीं होता कि सामाजिक प्रभावों को ग्रहण करने मात्र से कोई उत्कृष्ट साहित्यकार बन पाता है । साहित्यकार को सृजनात्मक प्रतिभा से संपन्न एवं समृद्ध होना चाहिए । समय और उसकी सामूहिक प्रेरणा द्वारा संचालित होते हुए भी कवि की स्वतंत्र जीवन-कल्पना है । कवि जितना महान होगा, उसकी कल्पना समय के स्थूल प्रभावों से उतनी ही निरपेक्ष रहती है । यही कारण है कि एक ही युग की परिस्थितियों का भिन्न-भिन्न प्रभाव कलाकार पर पड़ता है । कलाकार के निजी दृष्टिकोण का विशेष महत्व रहता है । "कोई भी दो महान कवि एक से उपादानों को लेकर नहीं चलते, सबमें विचारों की कुछ न कुछ भिन्नता दिखाई देती है । सबकी सौंदर्य-सामग्री अपनी-अपनी विशेषता रखती है । सब अपने-अपने युग के भाव, भाषा और साधन

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.360
2. वही, पृ.366
3. वही, पृ.434

प्रसाधनों से प्रभावित हुए है[1]।" वे यह भी मानते हैं कि महान से महान कृतियाँ भी युग विकास की सीमाओं से परिचालित होने को बाध्य होती है[2]।"

समाज का कौन-सा रूप साहित्य के लिए उपादेय है, यह भी वाजपेयी जी के विचारों से स्पष्ट होता है । वे साहित्य में समाज के स्वस्थ, विकासोन्मुख स्वरूप को उजागर करने का आग्रह करते हैं । समाज की जीवंत चेतना ही साहित्य में प्रस्फुटित होती है । समाज के गंभीर एवं महत्वपूर्ण जो भी भाव हैं, उनसे साहित्य का अटूट संबंध होना चाहिए, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के मूल्यवान एवं सारभूत अंशों को ग्रहण करने की कलात्मक कुशलता से कलाकार को अनुगृहीत होना है । साहित्य में ऐसी कोई भी प्रवृत्ति वाँछनीय नहीं जो समाज के प्रति अनास्था अविश्वास पैदा कर, जीवन के प्रति निराशा एवं वितृष्णा उत्पन्न कर उसकी सहज प्रकृति में रोडा अटका देती है, किंतु उसके द्वारा ऐसी भावनाओं का पोषण होना चाहिए जिनसे सफल एवं सार्थक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलती है । इसी आधार पर उन्होने बताया है कि "उच्च साहित्य किसी भी समय असामयिक या अनुपयोगी नहीं हो सकता । वह स्थायी संस्कृति और सौंदर्य का उपादान है[3]।" प्रसाद-साहित्य को वे इसी कोटि में रखते हैं । "कामायनी" में जिन मानव मूल्यों की स्थापना की गई है उनका महत्व वे चिरंतन मानते हैं । प्रच्छन्न प्रेमवर्णनों द्वारा प्रसाद के व्यक्तित्व का जो पूर्ण उद्घाटन कामायनी में हुआ है वह स्वत: काव्य को एक अपूर्व स्वस्थता और विशालता प्रदान करता है, यही वाजपेयी जी की राय है । वे मानते हैं कि "साहित्य में जीवन की वास्तविक रचना करनी होती है, अत: उसकी प्रगतिशीलता की माप जीवन की सफलता और असफलता

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.333-34
2. वही, पृ.38

आधार पर होगी । भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही उसके मुख्य मापदण्ड होंगे[1] । व्यापक जीवन के मधुर एवं तिक्त अनुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति अपने सभी प्रकार के तनावों एवं संघर्षों का सही रूप उपस्थित करते हुए, साहित्य में होना वे आवश्यक समझते हैं । विचार में साहित्य तो एक सात्विक जीवन है । वह कठिन तपस्या और महान यज्ञ है । जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतंत्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की वह भावभूमि है । वहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है । उस उच्च स्तर से जितने क्रिया-कलाप होते हैं, आत्म-प्रेरणा से होते हैं[2] । ऐसी आत्म-प्रेरणा के सहज परिणाम के रूप जिस साहित्य का उत्सर्जन होता है उसकी दिगंतगामिनी पुकार युग को नहीं, युगों को अपने नैसर्गिक आह्वान से चकित और विस्मृतकर देती है[3] ।

साहित्य में चिरंतन तत्व के समावेश का कारण उसकी कलात्मकता है । कलात्मकता का संबंध किसी विशेष युग तक सीमित नहीं रहता । सभी युगों में समान रूप से कलात्मक कृति का उपयोग किया जा सकता है । मानव के चिरंतन भावों से जब तक साहित्य का संबंध रहेगा तब तक साहित्य का भी चिरंतन महत्व रहेगा । मार्क्सवादी सिद्धांत के आधार पर यह निर्णय लेना वे बिलकुल असंगत एवं असत्य मानते हैं कि पुराने साहित्य की वर्तमान जीवन में कोई उपयोगिता नहीं । कोई बाह्य प्रभाव साहित्य के चिरंतन महत्व को नहीं घटा सकता । यह तो विरोधाभास लग सकता है कि एक ओर जहाँ साहित्य समाज की प्रगतिशीलता, राष्ट्रीय चेतना या युग-प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ दूसरी ओर उसका संबंध जीवन के चिरंतन तत्वों से भी रहता है । किंतु यही उसकी प्रमुख विशेषता है कि सामयिक प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी वह शाश्वत प्रतिष्ठा प्राप्त

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.164
2. वही, पृ.133
3. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ.3।

करता है । साहित्यकार के लिए सामयिक जीवन वहाँ तक उपयोगी है जहाँ तक सर्वकालीन जीवन कल्पना में वह सहायता पहुँचाता है । समाज के स्थायी आदर्श उसका अक्षर तत्व है और परिवर्तनशील आदर्श क्षर अथवा स्थूल उपकरण हैं । दोनों अंशों की पहचान उसके लिए अपेक्षित है । साहित्य द्वारा अभिव्यक्त सौंदर्य सामयिक प्रभावों से संपृक्त रहने के साथ ही युगों के लिए भी आस्वाद्य हुए बिना रह नहीं सकता । यही सौंदर्य की विशिष्टता है और यही सौंदर्य चेतना साहित्य को सभी दृष्टियों से श्लाघनीय बना देती है । साहित्य के ऐसे स्वरूप को वाजपेयी जी महत्व देते हैं । इसीलिए दृढतापूर्वक वे स्थापित करते हैं कि साहित्य का महत्व सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक होने के साथ ही सामाजिक प्रेरणाओं एवं प्रभावों से भी समन्वित रहता है । इसी दृष्टिकोण के आधार पर वाजपेयीजी ने रस के सामाजिक एवं शाश्वत उपकरणों का उल्लेख करते हुए रस को एक प्रगतिशील स्थायी सामाजिक आदर्श पर अधिष्ठित मान लिया है ।

साहित्य और जीवन का घनिष्ठ संबंध मानते हुए भी वाजपेयी जी इसके अधिक सीधे व प्रत्यक्ष सम्बन्ध का समर्थन नहीं करते । यह संबंध अधिक स्थूल हो जाने पर रचना की कलात्मकता अथवा काव्यात्मकता नष्ट होजाती है।[1]

श्रेष्ठ साहित्य तो वह है जिसमें कवि कल्पना का पूरा पाचन हो पाता है तथा रचयिता के भावों के साथ उसके सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सामर्थ्य का पूरा योग हो पाता है । लेकिन सीधी और तत्कालीन प्रेरणाओं से प्रभूत रचनाओं में इसका अवकाश नहीं रहता । सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, गया प्रसाद सनेही आदि की रचनाओं में यही प्रत्यक्षता वे देखते हैं । अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को इस प्रकार राजनीतिक सत्ता या सामाजिक आख्यानों" की सीमा में बाँध देने की यह प्रवृत्ति वे

---

1. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ.23

शोभनीय नहीं मानते, क्योंकि "साहित्य कोरी राजनीति नहीं है, न वह राजनीतिक भावना का उच्छ्वास मात्र है । साहित्य वास्तव में कवि की भावसत्ता के साथ उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है[1]।" कवि के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के संस्कार उनके काव्य पर भी पड़ते हैं, किंतु कविता उन संस्कारों का संग्रह न होकर समय और समाज के घेरे में बंधे हुए कवि की स्वतंत्र जीवन-कल्पना, उसकी असाधारण अनुभूति है[1]।"

साहित्य और सामाजिक जीवन की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी का ध्यान उन तथ्यों पर भी गया है जो इन दोनों का अंतर स्पष्ट करते हैं । वे स्पष्ट करते हैं "जीवन तो एक धारा प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूंदें एकत्र की जाती हैं । जीवन के अनन्त आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक-वितरण करते हैं[2]।" जीवन के स्थूल यथार्थ और साहित्य के सूक्ष्म कलात्मक धरातल में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनकी अपनी विशेषताएं हैं । साहित्य से बिलकुल असंपृक्त जीवन का जो क्षेत्र है वह तो रूखा, कटु एवं नीरस है । उसमें रस का संचार करने, उसको सरल सुबोध एवं सुगम बनाने में साहित्य की सुष्टु, सुरम्य एवं मोहक कल्पनाएं सहायक होती हैं । साहित्य का कार्य अवर्णनीय, अतुलनीय एवं अप्रमेय है । जीवन की कठोर वास्तविकताओं से जूझनेवाला मनुष्य साहित्य के स्वस्थ, शांत एवं सरस वातावरण में सांत्वना पाता है । साहित्य के इस चिरंतन व्यापक स्वरूप की ओर संकेत करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं, "साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएं, जो अनंत जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं । जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है । जीवन यदि संपूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है, तभी तो उसका नाम साहित्य है, तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सामर्थ्यवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्ग-दृष्टा भी रहता आया है[3]।" साहित्य के सार्वलौकिक एवं चिरंतन स्वरूप का जो उद्घाटन यहाँ हुआ है वह निश्चय ही वाजपेयी जी की प्रौढ, गंभीर एवं

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.17
2. आधुनिक साहित्य, पृ.430
3. वही,

अनुभवी दृष्टि का परिचायक है । विशुद्ध सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश से अनुगृहीत उनकी सुलझी हुई विश्लेषणात्मक दृष्टि साहित्य के अपूर्व मुग्धकारी मनोहर स्वरूप की झाँकियाँ अत्यधिक सहज, सरल एवं प्रभावात्मक ढंग से यहाँ प्रस्तुत की हैं । वे स्पष्ट करते हैं कि समाज की सजग, सशक्त एवं स्वस्थ चेतना की अभिव्यक्ति होने की वजह से साहित्य सामाजिक वस्तु है जिसमें राष्ट्र-जीवन भी प्रतिबिंबित हो उठता है । युग-विशेष के प्रकृष्ट सामाजिक सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही युग-युगों की मानवता को भी प्रतिबिंबित करने के कारण एक ओर वह युग-सत्य के प्रस्तोता एवं प्रयोक्ता हैं तो दूसरी ओर शाश्वत सत्य का सर्वाधिक समर्थ उद्घोषक भी है ।

राष्ट्रीयता :

वाजपेयी जी ने समाज से एक कदम आगे राष्ट्र-जीवन से साहित्य का संबंध स्थापित किया है । हिन्दी समीक्षा के विकास के साथ-साथ उसमें राष्ट्रीय दृष्टि का भी विकास परिलक्षित होता है । आधुनिक काल के आरंभ में ही रचनात्मक साहित्य में राष्ट्र-प्रेम समन्वित भावनाओं का जीवंत चित्रण करने की, भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने भरसक चेष्टा की, तो भी समीक्षा राष्ट्रीयता से बिलकुल दूर रही । समीक्षा में, प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित साहित्यिक प्रतिमानों का ही प्रयोग होता रहा । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय इतना तो हुआ कि साहित्य की गरिमा का आधार सामयिक उपयोगिता माना गया । सामयिक आदर्शों का आधार ग्रहण करके साहित्य की परख की जाने लगी । इसी समीक्षा-पद्धति का अधिक प्रौढ एवं विकसित रूप

शुक्लजी में हम पाते हैं । किंतु सामयिक आदर्श से बढ़कर मानवीय आदर्शों से साहित्य को समृद्ध कर रस-भूमि पर उसकी व्याख्या करने की ओर ही शुक्लजी ने अधिक ध्यान दिया । उनकी समीक्षा में सामयिक आदर्श मानवीय आदर्शों का रूप ग्रहण करते हैं । देश-प्रेम विषयक उद्गार उनकी समीक्षाओं में काफी सुनाई पड़ते हैं । किंतु सामयिक आदर्शों और मानवीय आदर्शों के बीच की राष्ट्रीय भूमि जो है उसका विकास एवं पुष्टि उनकी समीक्षाओं में नहीं हो पायी है । शुक्लजी की तलस्पर्शी दृष्टि उससे भी एकदम आगे पहुंच गई थी ।

वाजपेयी जी की समीक्षाओं में राष्ट्र-जीवन से साहित्य के संबंध के विषय में काफी चर्चा हुई है । जिस साहित्य के द उदय एवं विकास के मूल में व्यापक राष्ट्रीय जागरण की बहुत बडी भूमिका रहती है, जिस पर समय-समय पर "सर्वतोव्यापी सक्रिय राष्ट्रीयता" का सर्वांगीण प्रभाव पड़ता रहा है उसकी परख राष्ट्रीय आधार से अलग रखकर करना वे असंभव समझते हैं । हमारी अव्याहत राष्ट्रीय चेतना का महत्व घोषित करते हुए वे स्पष्ट बताते हैं कि "हमारे इस युग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है तथा इससे भिन्न वह कुछ और हो भी नहीं सकती थी ।"[1] इस राष्ट्रीय जागृति की हलचल के प्रति मौन रहनेवाले लेखकों को सचेत करते हुए उन्होंने बताया कि "यह सोचना भी असंभव है कि जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय मुक्ति का जीवन-मरण संग्राम चल रहा हो, उस समय हमारे कल्पनाशील कवि और लेखक उससे कुछ भी प्रेरणाग्रहण करें, बल्कि उसके प्रति विमुख और अन्यमनस्क होकर रहें ।"[2] राष्ट्रीय संघर्ष के जिस सजीव एवं सक्रिय वातावरण में हिन्दी साहित्य पनपा और फूला-फला, जो अव्याहत राष्ट्रीय चेतना हमारे साहित्य में शक्ति, ओज एवं स्फूर्ति का

---

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ.21-22
2. वही, पृ.22

संचार करती रही उसे वे उस साहित्य की समीक्षा की दृष्टि से भी विशेष मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण स्थापित करते हैं। वाजपेयी जी के इस दृष्टिकोण का ऐतिहासिक महत्व भी है क्योंकि उनकी पूर्ववर्ती समीक्षाओं में इतने व्यापक रूप से इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श नहीं हुआ था। अतएव उनके लिए यह कभी क्षम्य नहीं है कि पवित्र काव्य-मंदिर में प्रकाशित राष्ट्रीय-चेतना के दीपक की ज्योति कभी मंद पड़ जाय या बुझ जाय। दृढ स्वरों में वे घोषित करते हैं कि यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियों को नहीं समझते तो वे किसी भी वर्ग के हो या न हो तत्काल हमारी साहित्यिक परंपरा से अलग कर दिए जाने चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हो।[1]" हमारे साहित्य पर पश्चिमी प्रभाव का अतिरेक उन्हें अहितकर लगता है। उनका यही विचार है कि यद्यपि दूसरों से बहुत कुछ ग्रहण करना है तो भी उसके पीछे अंधे की नाई नहीं भटकना चाहिए। अपनी निजी उपलब्धियों पर गौरव का अनुभव करना उसको सुरक्षित रखना हमारा फर्ज है। प्रगति या सुधार के नाम पर अपने अस्तित्व को भी भूल बैठना लज्जा की बात है,। खतरनाक भी। हिन्दी साहित्य में पश्चिमी संस्कार का जो अमित प्रभाव लक्षित हो रहा है, अंधानुकरण की जो प्रवृत्ति यहाँ ज़ोरों पर चल रही है, इसका वे पुरजोर विरोध करते हैं। उनके विचार में "अनुकरण की वृत्ति ही असांस्कृतिक है, और उससे राष्ट्रीय मनोभावों और जीवन-स्थितियों का प्रदर्शन उस राष्ट्र का साहित्य ही कर सकता है और तभी राष्ट्रीय संस्कृतियों का आदान-प्रदान और समन्वय भी संभव होगा। एक नकल करके दूसरा राष्ट्र उसके प्रति अपना आदर-भाव नहीं प्रकट कर सकता, न नकल के द्वारा कोई दूसरी समस्या हल हो सकती है[3]।"

---

1. आधुनिक साहित्य - भूमिका, पृ.50
2. वही, पृ.239

प्रत्येक देश की अपनी प्रकृति, अपनी सभ्यता एवं अपना संस्कार होते हैं। भाषा और साहित्य अपने-अपने देश, जाति, काल एवं वातावरण के विशिष्ट परिवेश में बनते-पनपते है। सब का अपना अलग स्वरूप होता है जिससे प्रत्येक हा निजी अस्तित्व प्रमाणित होता है। इसलिए किसी भी देश के साहित्य-संबंधी विचार, किसी दूसरे देश के साहित्य पर पूर्णत: ज्यों का त्यों लागू होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी बात की ओर वाजपेयी जी ने भी संकेत किया है - "पश्चिम की नयी साहित्यिक कृतियाँ और प्रगतियाँ हमारे लिए नमूने का काम नहीं दे सकतीं। क्योंकि पश्चिमी राष्ट्र विकास के प्रफुल्ल दिवस देख चुके हैं, उनका साहित्य भी पूर्ण समृद्धि पर पहुँच चुकने के बाद आज नये-नये प्रयोगों और रचना प्रणालियों के चक्कर में पड रहा है। ..... हमारी नवीन राष्ट्रीय चेतना और संस्कृति अभी अपनी निर्माणावस्था में है, इसे नये प्रतिभा-जल से निरंतर सींचते-रहना और संपूर्ण राष्ट्रीय एकाग्रता और अध्यवसाय से इसकी रक्षा और संवर्द्धन करना हमारे लिए आवश्यक है।"[1] अपनी राष्ट्रीय सत्ता का मर्म समझने केलिए, राष्ट्र की वर्तमान नाडी-गति की सही पहचान के लिए, उनकी राष्ट्रीय भावना को विकसित करने योग्य सजग दृष्टि की ज़रूरत वे आवश्यक समझते हैं। उनकी राष्ट्रीय भावना पर्याप्त विकसित एवं पुष्ट है। इसलिए उनकी दृष्टि में राम और कृष्ण भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के सुपक्व फल है। भक्तिकाव्य के मूल्यांकन के लिए राष्ट्रीय आधार ग्रहणकिए जाने का भी यही कारण है। छायावाद को वे राष्ट्रीय इतिहास की सु-स्पष्ट धारणाओं से उत्पन्न मानते हैं। छायावाद ही नहीं, बल्कि पूर्ववर्ती संपूर्ण हिन्दी-साहित्य उन की दृष्टि में हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की अमिट धारा है। राष्ट्रीयता के रंग में रंजित साहित्य-कला का वे हार्दिक स्वागत करते हैं। प्रेमचंद में उच्च कोटि के कला-सौष्ठव का अभाव दर्शाते हुए भी उनकी देन को महत्वपूर्ण माना जाने का यही कारण है कि

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.50-51 //

वे राष्ट्रीय शक्ति के महान उपासक थे। राष्ट्रीयता की धारा को वे सामान्य मनुष्यधारा मानकर पूरे विश्वास के साथ राष्ट्र धर्म को मनुष्य-धर्म के रूप में ग्रहण कर लेते हैं[1]।" किंतु वैयक्तिक या वर्गगत प्रतिक्रियाओं में निहित वास्तविकता का अवलंब लेकर राष्ट्रीय स्तर का काव्य उत्पन्न नहीं होता। सार्वजनीनता और सामूहिकता ही उसके उपादान बन सकते हैं[2]।" राष्ट्रीय इतिहास एवं राष्ट्रीय परंपरा का अनुशीलन भी साहित्य-निर्माण के लिए आवश्यक है। भारत के प्राचीन साहित्यिक विकास का निदर्शन उपस्थित करते हुए वे सिद्ध करते हैं कि "भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में जो एकता अंतर्निहित है वह हमारी राष्ट्रीय एकता का अक्षय प्रेरणा स्रोत रहा है और रहना चाहिए[3]।" और यह हमारे राष्ट्र की अखण्ड चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्येक देश एवं जाति के साहित्य तथा संस्कृति की स्वतंत्र सत्ता होती है। भारतीय साहित्य की राष्ट्रीय परंपरा पर दृढ विश्वास प्रकट करते हुए वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि "भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की उपज है, अतएव उस साहित्य के मानदण्ड भी यथासंभव राष्ट्रीय होने चाहिए। ..... ज्ञान का आलोक हमें जिस किसी दिशा से प्राप्त हो, ले ही लेना चाहिए। परन्तु मौलिक सिद्धांत राष्ट्रीय ही रहने चाहिए[4]।" हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो जाने की वजह से हिन्दी के साहित्यकारों पर जो बहुत बडी जिम्मेदारी आयी हुई है, वाजपेयी जी उस ओर लेखकों और समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। इसके लिए महान राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय जीवन एवं उसकी प्रगति पर अडिग आस्था रखनेवाले साहित्यकारों की आवश्यकता उन्हें महसूस होती है। हमारी अव्याहत राष्ट्रीय परंपरा को सुरक्षित रखने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए वे बताते हैं कि हिन्दी साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य का

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.129-30.
2. वही, पृ.249
3. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.132
4. वही, पृ.136

दायित्व पूरा करना है । यह तभी संभव होगा जब हिन्दी के लेखक सारे राष्ट्र की धरोहर को अपनी धरोहर समझे और ऐसे साहित्य के निर्माण का उद्योग करें जो राष्ट्र के विकासोन्मुख गतिविधि का प्रतिनिधि साहित्य हो ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि राष्ट्रीय भावना से भूरिशः परिचालित है । हिन्दी साहित्य के विकास में परिव्याप्त राष्ट्रीय चेतना का दिग्दर्शन करते हुए उन्होंने समग्र हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन राष्ट्रीय कसौटी पर करने की माँग की है । साहित्य की परख के लिए सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय मूल्य-मान वे बहुतही आवश्यक समझते हैं । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद यहाँ का जो राष्ट्रीय परिवेश रहा, उसमें एक नये युग के उदय के योग्य सभी उपादान सन्निविष्ट थे । किंतु उस नये परिवेश से लाभान्वित होकर उच्च कोटि के स्तरीय साहित्य के सृजन की ओर साहित्यकारों का ध्यान नहीं गया । व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं एवं उद्गारों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति के बलवती हो जाने के फलस्वरूप राष्ट्रीय परिवेश से कवियों एवं लेखकों का लगाव छूट गया । उच्च कोटि के साहित्य में कोई न कोई उत्कृष्ट नैतिक मान अवश्य रहता है जो राष्ट्रीय दायित्व से संपन्न रहता है ।

स्पष्ट है, वाजपेयी जी ने साहित्य-समीक्षा केलिए राष्ट्रीय-भावना का व्यापक आधार ग्रहण किया है । राष्ट्रीयता का मतलब उनके विचार में राजनीति कभी नहीं है । उनकी राष्ट्रीय धारणा स्थूल या संकीर्ण नहीं है, बल्कि अत्यंत सूक्ष्म एवं व्यापक है । राजनीति और राष्ट्रीयता एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं । राजनीति की प्रेरणा कभी

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ॰138-139

शाश्वत या सार्व जनिक नहीं नहीं हो सकती । उसकी व्याप्ति भी सीमित है जब कि काव्य की व्यापकता की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती । राजनीति के सीमित, स्थूल, तात्कालिक प्रेरणा ग्राहण करने से श्रेष्ठ काव्य के लिए अपेक्षित व्यापकता रचना में नहीं आ पाती । किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के कतिपय पहलुओं को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देना अथवा इस आन्दोलन की तात्कालिक प्रतिक्रिया में कोई रचना प्रस्तुत कर देना कवि की भावना और कल्पना का अधूरा प्रयास ही कहा जायगा । इतनी प्रत्यक्षता काव्य साहित्य के लिए लाभकर नहीं होती[1] ।" अधिक स्थूल एवं प्रत्यक्ष चित्रण में रस का संचार करने की क्षमता अधिक नहीं रहती । राजनीति से अनावश्यक रूप से संबद्ध कर देने से साहित्य का निजी स्वरूप नष्ट हो जाता है । इसीलिए वाजपेयी जी ने बताया है - "साहित्य कोरी राजनीति नहीं है, न वह राजनीतिक भावना का उच्छ्वास मात्र है । साहित्य वास्तव में कवि की भाव-सत्ता के साथ उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है[2] ।" सामयिक राष्ट्रीयता की प्रेरणा एवं प्रभाव साधारण स्तर की अधिकांश रचनाओं में प्राप्त होती है । किंतु वाजपेयी जी द्वारा प्रयुक्त राष्ट्रीय शब्द इससे अधिक व्यापक अर्थ रखता है । वे उन राष्ट्रीय भावनाओं को ही महत्व देते हैं जो सांस्कृतिक भूमियों का भी स्पर्श करती हैं । "केवल राष्ट्रीयता की भावना देश और समाज के सांस्कृतिक जीवन के बहुमुखी पहलुओं का स्पर्श नहीं करती और एक बडी सीमा तक एकांगी बनी रहती है[3] ।" वे काव्य में राष्ट्रीयता की ऐसी भावनाओं का समावेश चाहते हैं जो महान निर्माण की प्रेरणा एवं ओजस्विता प्रदान करने में समर्थ हो ।

---

1. आधुनिक साहित्य (भूमिका), पृ.23
2. वही, पृ.23
3. वही, पृ.27

साहित्यकार से वे युग को नहीं, युगों को अपने नैसर्गिक आह्वान से चकित और विस्मित कर देनेवाली दिगंतगामिनी पुकार अथवा विद्रोही स्वर की आशा करते हैं । इसी ओर ध्यान दिलाते हुए वे कहते हैं "हमें मिलना था गांधीजी की ज्वलंत दार्शनिकता, प्रखर साम्यवाणी और अबाध क्रियाशीलता का तेजस्वी काव्य-प्रतिरूप"[1]। उनकी राष्ट्रीयता के स्वरूप की व्यापकता यहाँ स्पष्ट होती है । राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण कुछ पंक्तियों प्रस्तुत करने मात्र से कवियों का राष्ट्रीय दायित्व पूरा नहीं होता प्रत्येक पंक्ति में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वर्तमान स्थिति के वास्तविक स्वरूप से अवगत होकर, अपने कर्तव्यों के प्रति बोधवान रहकर क्रियाशील हो जाने की प्रेरणा उनसे मिल जाय । कथनी और करनी के बीच की खाई को समाप्त करने की क्षमता उनमें होनी चाहिए । कोरी राजनीति से दूर रहना ही साहित्य के लिए अच्छा है । राष्ट्रीय संस्कृति को निश्चल एवं शाश्वत रूप में समझने में सहायक रहनेवाली उग्र राष्ट्रीयता भी साहित्य के लिए वे अभीष्ट नहीं मानते[2]।"

साहित्य को अंतर्राष्ट्रीय वस्तु मानते हुए उसके संबंध में कई तरह के विचार वाजपेयी जी ने प्रकट किए हैं । ऐसी राष्ट्रीयता से साहित्य का संबंध नहीं है जो स्थूल एवं परतंत्र हो । उसका संबंध देश से न होकर समस्त विश्व की नीति से मानते हुए उसे अधिक व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित करने के पक्ष में भी काफी चर्चा होती रही है । इस प्रकार के विचारों के समर्थकों का यही दावा है कि साहित्य में ऐसी बातों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए जिनका संबंध समस्त राष्ट्र-मंडल से है । वाजपेयी जी साहित्य में इस प्रकार की अंतर्राष्ट्रीयता की आवश्यकता

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.31-32
2. नया साहित्य: नए प्रश्न, पृ.168-69

नहीं समझते । उनके विचार में साहित्य पहले राष्ट्रीय वस्तु है, अंतर्राष्ट्रीय वह बाद में ही हो सकता है । साहित्य में निहित सार्वभौमिकता का गुण उपलब्ध करने के लिए राष्ट्रीय माध्यम आवश्यक है । राष्ट्रीय विशेषता ही वह माध्यम है जो साहित्य को व्यक्तित्व प्रदान करता है और जिससे कला में सार्वभौमिकता का महान गुण समाविष्ट हो जाता है । विशिष्ट व्यक्तित्व के अभाव में कला सार्वभौमिक नहीं हो पाती और इससे साहित्य में कलात्मक एवं राष्ट्रीय मूल्य भी न रह जाएगा । सीमित अंतर्राष्ट्रीयता से साहित्य को बचाये रखना ही वाजपेयी जी श्रेयस्कर समझते हैं ।

वाजपेयी जी की राष्ट्रीयता-विषयक चर्चा में हम देखते हैं कि एक ओर जहाँ उन्होंने सामयिक राष्ट्रीयता से दूर रहने की बात कही है तो दूसरी ओर कला को सार्वभौमिक बनाने के लिए राष्ट्रीय विशेषताओं से उसे संपृक्त रखने का आग्रह भी प्रकट किया है । ये दोनों विचार परस्पर विरोधी लगेंगे लेकिन सूक्ष्म आकलन करने पर ही उनकी राष्ट्रीयता का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है । उनकी दृष्टि में सच्ची राष्ट्रीय कविताएं वे हैं जिनमें देश-प्रेम के रंग में रंगी हुई, देश के गौरव के सभी आख्यानों को बडी तत्परता के साथ अपनायी हुई भावनाएँ व्यक्त की गई हैं । ऐसी कविताओं में विदेशीपन की झलक कहीं देखने को नहीं मिलती । सोहनलाल द्विवेदी की रचनाओं में राष्ट्रीयता का जो पुट अभिव्याप्त है उसमें वे ये सभी गुण दर्शाते हैं । उनकी कविता की प्रशंसा में वे लिखते हैं - यहाँ राष्ट्रीयता से मेरा आशय स्वदेश-प्रेम की व्यापक भावना से है[1] ।" स्वदेश-प्रेम या राष्ट्र-प्रेम को वे मानव-प्रेम का ही दूसरा नाम मानते है[2] ।" वे विश्वास करते हैं कि "विकासोन्मुख राष्ट्रीय साहित्य

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.147
2. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.133

जन-समाज की वस्तु होता है, वह किसी संस्था या उसके सदस्यों द्वारा नियमित और निर्यन्त्रित नहीं हो सकता, चाहे वह संस्था या उसके सदस्य कितने ही महान हो।[1]" उनकी दृष्टि में आधुनिक हिन्दी कविता को राष्ट्रीय चेतना की प्रतिनिधि कला कहा जा सकता है क्यों कि रचनाओं के साहित्यिक विन्यास या सौंदर्य के रूप-पक्ष में ही नहीं, भावों, विचारों, संवेदनाओं और जीवन-दृष्टियों के वस्तु-पक्ष में भी वह उल्लेखनीय ऊँचाइयों पर पहुँच चुकी है[2]।" राष्ट्रीयता की व्यापक भावना को वाजपेयी जी ने मानवता की महोन्नत भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। उसका ऐसा उदात्त स्वरूप उन्होंने प्रस्तुत किया है कि स्थूलता, सामयिकता, संकीर्णता जैसे समस्त बंधनों का उसमें स्वाहा होकर एक उच्चतर अनुभूति मात्र शेष रह जाती है। ऐसी राष्ट्रीयता का उन्होंने बार-बार आग्रह किया है और अपनी समीक्षाओं में उनका यह आग्रह उत्तरोत्तर बढता ही गया है। साहित्यकारों को उनके राष्ट्रीय दायित्व के प्रति उन्होंने कई बार बोधवान कराया है। राष्ट्रीयता का यह स्वस्थ एवं उदार रूप उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ।

वाजपेयी जी प्रसाद और निराला की राष्ट्रीय भावना के प्रशंसक रहे हैं। द्विवेदीकालीन राष्ट्रीयतावाद और छायावादी मानव ऐक्य की भावनाओं का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उन्होंने गुप्त जी, प्रसादजी एवं निराला जी की देशप्रेम संबंधी कविताओं का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन तीनों कवियों के राष्ट्र-गीतों की तुलना करते हुए वे स्थापित करते हैं कि गुप्तजी की कविता में देश की एक स्थूल चौहद्दी कायम करके उसी की विशेषताओं का अधिक आग्रह के साथ उल्लेख है, प्रसाद में कुछ स्थानों पर इस चौहद्दी के रहते हुए भी उनका गीत कोई भी देश-प्रेमी अपने देश के सम्बन्ध में गा सकता है तथा निराला की

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.22।

पंक्तियां, स्थूल देश-प्रेम से बिलकुल दूर रहकर प्राकृतिक और ज्ञानजन्य मानव ऐक्य का निर्देश करती हैं।[1]" गुप्तजी की स्थूल दृष्टि का वे समर्थन नहीं कर पाते। "भारत-भारती" में राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा वे साम्प्रदायिक भावना के अधिक दर्शन करते हैं जबकि "जयद्रथवध" को इस दृष्टि से अधिक सफल माना गया है। इस कथन में भी स्पष्ट है कि वे राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना से असंपृक्त रहने का आग्रह करते हैं। राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्रसाद के नाटकों में वे दर्शाते हैं। निराला के काव्य को हिन्दी का राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व करने में पूर्णत: समर्थ माना गया है। उनकी कविता में वे यह विशेषता देखते हैं कि राष्ट्रीय माध्यम से ही वे अपनी कविता को राष्ट्र के सामने रखना चाहते हैं। उनके काव्य को सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आदर्शमय प्रेरणा से परिचालित मानते हुए वे सिद्ध करते हैं कि राष्ट्रीय दृष्टि से एक नवोन्मेष के युग में काव्य-रचना करने का पूरा प्रमाण वे देते हैं। भारत की सुषमा और सौंदर्य के साथ उसके प्रति आत्मसमर्पण और कर्तव्यनिष्ठा के भाव निराला के आरंभिक काव्य में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। "माता" और "जननी" शब्द का प्रयोग उन्होंने इसी राष्ट्र मूर्ति के लिए अधिकतर किया है[2]।" इन सभी मान्यताओं से यही स्पष्ट होता है कि वाजपेयी जी प्रगति के प्रेरक तत्वों को किसी भी स्रोत से ग्रहण करने के पक्ष में है, किन्तु उनके विचार में यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि सर्वत्र हमारा निजी अस्तित्व स्वस्थ, स्पष्ट एवं सुरक्षित रहें।

साहित्य और राष्ट्रीयता के संबंध पर वाजपेयी जी के विचार अब स्पष्ट हुए। राष्ट्रीय भूमि से भी एक कदम आगे बढ़कर वे साहित्य को देश कालातीत व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं। साहित्य के

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.23-24
2. कवि निराला. प.204

विस्तृत धरातल पर देश-काल की सुविधाओं का मोह छोड देना वे आवश्यक समझते है । संपूर्ण सौरमण्डल तक उसकी इयत्ता है[1]।" वे मानते हैं कि साहित्य और जीवन का स्वभाव-सिद्ध संबंध सर्वथा मंगलमय है । जीवन की स्वच्छन्द धारा ही जहाँ बंधी हुई है, वहाँ साहित्य तो शिंकजे में जकडा ही रहेगा[2]।" यही नहीं, उनको यह भी विश्वास है कि महान कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं । सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्व है, जितना वह उनके विराट, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है[3]।" राष्ट्र-प्रेम पाने मानव प्रेम की उत्कृष्ट भावना को उद्दीप्त रखने केलिए वे चरित्र और आचरण की आवश्यकता अथवा महान् आदर्शों के पीछे जीवन के क्षुद्र स्वार्थों को मिटा देने की साधना आवश्यक समझते हैं । इस उद्देश्य को फलवत् बनाने के लिए आज के जनवादी लेखकों मे वे व्यक्तिगत त्याग एवं कष्ट सहिष्णुता अपनाने का आग्रह करते हैं ।

साहित्यकार का दायित्व

साहित्यकार के लिए उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति वाजपेयी जी कभी शोभनीय नहीं मानते । इसका कारण यह है कि "कोरे उपदेशों से कदाचित् कोई समस्या हल नहीं होती । शायद उपदेशक तथ्य से दूर भी रहा करता है । उसकी दृष्टि समस्या के भीतर प्रवेश नहीं करती । प्राय: वह ऊपर ही ऊपर कुछ देखता है[4]।" वाजपेयी जी के विचार में

1. आधुनिक साहित्य, पृ,427
2. वही, पृ·428
3. वही, पृ·430
4. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, प·2।

देश की राष्ट्रीय चेतना के विकास में साहित्यकार महान भूमिका अदा कर सकते हैं । किंतु यह राष्ट्रीय चेतना देश की बहिर्मुखी उन्नति केलिए प्रयत्नशील रहना मात्र नहीं है । साहित्यकारों एवं कलाकारों के सन्दर्भ में राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप इतना व्यापक है कि देश की प्रगति के लिए बदलती हुई परिस्थितियों से संघर्ष करने के साथ ही साथ सामाजिक जीवन में और वैयक्तिक जीवन में न्याय और स्वतंत्रता की माँग करने का महान कार्य भी इसके अंतर्गत आ जाता है । नये विचारों में अपने को भी देने के बदले इतिहास के उज्ज्वल आदर्शों एवं मान्यताओं को भी आत्मसात् करते हुए नवीन उपलब्धियों को उन्हें नये समाज के सम्मुख रख देना है ।

समाज के प्रति, कला के प्रति अपने प्रति साहित्यकार की जो प्रतिबद्धता है उसे स्पष्ट करने के लिए ही वाजपेयी जी ने साहित्य और राजनीति के संबंध की चर्चा की है । उनके विचार में राजनीति का लक्ष्य जनसमाज के बाहरी जीवन के हितों को देखना, उनकी रक्षा करना और उनका संवर्द्धन करना है जब कि साहित्यिक का लक्ष्य समाज को ऐसी प्रेरणा देना है कि स्वयं अपने हितों और अधिकारों को समझ सकें और अपने दायित्वों के प्रति सजग हो सकें । साहित्यिक प्रक्रिया के मूल में सार्वजनिकता का भाव निहित रहने के कारण साहित्य और कलाओं का क्षेत्र समाज और व्यक्ति की भावनाओं के परिष्कार और उन्नयन का है जब कि राजनीति का क्षेत्र संघटित जन आन्दोलन का क्षेत्र है ।[1] साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि "उसकी आत्मा रस मानवमात्र की वह आनन्दात्मक प्रतिक्रिया है जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर उसे उपलब्ध होती है । अन्य व्यावहारिक क्षेत्रों में स्वार्थ का लक्ष्य रह सकता है, ईर्ष्या और द्वेष के भाव स्थान पा सकते हैं, पर सृष्टि के समय साहित्यिक-स्रष्टा में ऐसी किसी संकीर्ण वस्तु के लिए स्थान नहीं रह सकता । अन्यथा, उसकी कृति भावात्मक नहीं होगी । वह साहित्यिक न होगा, और चाहे जो कुछ हो ।[2]

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, प॰22

वाजपेयी जी ने साहित्य का संबंध आध्यात्मिकता से भी स्थापित किया है । आध्यात्मिकता से यही अभिप्राय है कि सृजन के क्षणों में सृजक की दृष्टि उदार, गंभीर व व्यापक मानवीय भावनाओं से समन्वित रहती है । सच्चे साहित्य का श्रेय इतना स्वच्छ एवं पवित्र रहता है कि सारी कटुता, मलिनता एवं स्वार्थपरता के कलंक वहाँ मिट जाते हैं । अत: वाजपेयी जी बताते हैं कि स्वार्थपरता को हटाकर ही हम राजनीति और साहित्य को समीप ला सकते हैं । भावात्मक भूमिका पर ही ये दोनों वस्तुएं समान लक्ष्य और दायित्व का परिचय दे सकती हैं ।" उस भावात्मक और प्रेरणात्मक वस्तु का नाम साहित्य है जिसके द्वारा जन समाज के लिए प्रेरणादायक सामग्री प्रदान करने का प्रयास सफल हो सकता है । किंतु यह कार्य कुछ पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने से या कुछ लेख लिख देने से अथवा राजनैतिक दलों के साथ मिलकर कुछ निरर्थक बकने से संभव नहीं होगा । इसके लिए साहित्यकार को राष्ट्रनिर्माण के स्थायी तत्वों से अवगत रहना है । वाजपेयी जी देखते हैं कि स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय जीवन की प्रशस्त भूमिका तैयार करने में मार्क्सवादी या मनोविश्लेषणवादी विचारधारा सहायक नहीं हो सकती । भारतीय साहित्य की नवीनता, विभिन्न साहित्य शैलियों का विकास मात्र पश्चिम के अनुकरण पर आधृत नहीं है । उसके लिए स्वतंत्र साधना की ज़रूरत है । वाजपेयी जी पश्चिम की उपलब्धियों का कभी निषेध नहीं करते, किंतु वे चाहते हैं कि भारतीय जीवन की दार्शनिकता में संजोकर, भारत के राष्ट्रीय आदर्शों और दार्शनिक भूमिकाओं को केन्द्र में रखकर ही विदेशी वस्तुओं को ग्रहण किया जाय । भारतीय समाज और भारतीय संस्कृति के निर्बाध विकास केलिए ऐसा समन्वयवादी दृष्टिकोण वे अत्यंत आवश्यक समझते हैं । राजनीतिज्ञों को ही देश के राष्ट्रीय विकास का संपूर्ण आधार मान लेना खतरनाक है । राजनीति तो राष्ट्रीय जीवन का एक अंग मात्र है । राजनीतिक नेता और विधायक केवल एक माध्यम है जिनका कर्तव्य और कार्य जन समाज के

विकास और उन्नति के साधन जुटाना है । माध्यम को मौलिक वस्तु और साधन को साध्य मान लेने पर ही राजनीतिक एकाधिकार का सूत्रपात होता है ।[1] राजनीति के कलुषित वातावरण और उससे उत्पन्न होनेवाली विघटनकारी प्रवृत्तियों से अपनी और अपने देश की रक्षा करना वे आज के साहित्यकारों का बड़ा दायित्व मानते हैं ।

स्वतंत्रता के उपरांत साहित्यिकों की जो स्थिति रही है, उन्हें जिन जिन समस्याओं से जूझना पड़ा है, किन-किन प्रकारों से एक नये राष्ट्र के निर्माण में साहित्यकार अपना योग अदा कर सकते हैं आदि बातों पर भी वाजपेयी जी ने विचार किया है ।

काव्य और दर्शन

काव्य पर दर्शन के प्रभाव के विषय में वाजपेयी जी का विचार यह है कि स्वच्छ, सहज एवं गंभीर काव्य का सृजन वही कर सकता है जो कोरे दार्शनिक चिंतन से प्रेरित होने के बदले मानव अनुभूतियों के संपर्क में आवें । वही कविधर्म का निर्वाह करने में, कवि के स्तर को बनाये रखने में समर्थ रहेगा । युग की मतवादी दृष्टियों का गुलाम बनकर अपनी प्रतिभा का अपव्यय करना वे किसी भी कवि के लिए, चाहे वे जितने ही उच्च स्तर के क्यों न हों शोभनीय नहीं मानते । सदैव वे इसी विचार के समर्थक रहे हैं कि युग की विभिन्न प्रतिक्रियाओं में भी, सभी प्रकार के खिंचावों अथवा प्रत्याक्रमणों का अतिक्रमण कर कविता के सहज सौंदर्य को सुरक्षित रखने में ही बुद्धिमानी है । पंत, प्रसाद, निराला आदि के काव्य के विवेचन में यही दृष्टिकोण वाजपेयी जी ने अपनाया है ।

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ.26

त-काव्य पर विभिन्न दर्शनों का प्रभाव

गांधीवाद एवं मार्क्सवाद के बाद जब पंत की आस्था अरविन्द र्शन की ओर रही तब किसी भी दर्शन की गुलामी न स्वीकार करने ा आग्रह वाजपेयी जी ने प्रकट किया था । किसी भी दर्शन का अपनेक्षित भाव अने मन का काम करने से कवि को विरत करता है, यहीं उनका वश्वास है । निर्बन्ध एवं मुक्त हृदय से प्रसूत विचारों की ही मूल्यवत्ता है, ाश्वत सत्ता है, यह बात उन्होंने सदैव स्मरण दिलायी है । वे स्पष्ट ोषित करते हैं कि कोई भी एकांतिक तत्वदर्शन जितनी मात्रा में व्यक्ति ो लाभ पहुंचा सकता है, काव्य को नहीं । एक विशिष्ट विचार सरणी ो पकड लेने से रचना में साम्प्रदायिकता और अतिवाद के आने की संभावना हती है, काव्य एक विशेष प्रणाली में प्रवाहित होने लगता है, जीवन की हुमुखी अभिव्यक्ति बाधित हो जाती है ।" लोकजीवन की बहुमुखी रणाओं को ग्रहण करना वे आवश्यक समझते हैं । दर्शन और कविता के श्यमान द्वन्द्व को दूर रखकर, दोनों की पृथक् सरणियों को मिलाकर एक ोने देने में ही कविता की सार्थकता वे मानते हैं । पंत के "परिवर्तन" एक औदात्य और दर्शन की तटस्थता वे देखते हैं । "युगवाणी" की वताओं में दर्शन के अधिक प्रभाव के कारण स्वच्छन्दता एवं सहजता का भाव उन्हें खटकता है । कोरी गद्यात्मकता का प्रमाण देते हुए कुछ कविताओं ा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है जिनका दार्शनिक प्रयोग कविता को नराकार बना देता है । उन्होंने इसे निराकार दार्शनिकता कहा है । न कविताओं में अनुभूति का स्फुरण न होने के कारण वाजपेयी जी ने न्हें काव्य की रूपात्मकता को संवारने में असमर्थ बताया है । दार्शनिक ोध से उन्मुक्त होने के कारण "अनामिक के कवि" (निराला) तथा आचार्य द्विवेदी के प्रति" (महावीर प्रसाद द्विवेदी) नामक कविताओं को

· कवि सुमित्रानन्दन पंत, पृ·56

वे सहज काव्य की कोटि में स्थान देते हैं । यथार्थ चित्रण में भी वे उन्हें सफल मानते हैं । रवीन्द्र के प्रति, अरविन्द के प्रति, मर्यादा पुरुषोत्तम आदि में भावसंपत्ति का अभाव देखते हैं । किंतु "त्रिवेणी" को अधिक काव्यात्मक माना गया है ।

दर्शन और कविता के बीच आवश्यक संतुलन स्थिर रखने में पंत को वे असमर्थ पाते हैं । दर्शन की किसी भी ज़मीन पर दृढ़ता से पैर न ज़माने के कारण ही यह त्रुटि उनमें आ पाई है जिसके फलस्वरूप उसे अपने व्यक्तित्व को साथ एकमेक करने में वे सफल नहीं हो सके । फिर भी पंत को समर्थ प्रतिभा, सक्षम कल्पना, अतिशय संवेदनशील और भावप्रवण हृदय तथा चिंतनशील व्यक्तित्व के धनी समझने में वाजपेयी जी कोई हानि नहीं मानते क्योंकि पल्लवकालीन रचनाओं में उनके कवि व्यक्तित्व की पूर्ण झलक उन्हें प्राप्त होती है । उनकी यह धारणा है कि अपने लिए चिर परिचित एवं मनोनुकूल क्षेत्र से कहकर नूतन सरणियों के पीछे पड़ने के परिणामस्वरूप ही आजीवन दर्शन की पगडंडियों पर उन्हें भटकते रहना पड़ा ।

निराला-काव्य पर दर्शन का प्रभाव

काव्य में दर्शन का समावेश वाजपेयी जी को तभी मान्य रहा जब वह कविता की राह से चलकर कवि की सृजनात्मक चेतना एवं व्यक्तित्व में अंतर्भूत होकर अभिव्यक्त होता है । जहाँ ऐसा होता है वहाँ कविता अधिक प्रौढ़, भास्वर एवं गरिमामय हो उठती है, किंतु जहाँ ऐसा नहीं होता, कविता की क्षति होती है । यही कारण है कि वे निराला को आधुनिक युग के प्रथम दार्शनिक कवि होने का गौरव प्रदान करते हैं और प्रसाद को भी बहुत कुछ इस क्षेत्र में आदर्श मानते हैं । किंतु उनकी कविताओं में जहाँ उन्हें दर्शन भारस्वरूप प्रतीत हुआ वहाँ उसे व्यक्त करने में भी न हिचकते थे ।

निराला-काव्य में लक्षित दार्शनिक स्वरूप के विविध रूपों की ओर वाजपेयी जी ने संकेत किया है । उन्हे मूलत: ज्ञानमार्गी दर्शन के अनुयायी मानते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि निराला की करुणा, प्रेम ओजस्विता, समर्पण भावना तथा आत्मबोध एक विशाल समन्वय में समाहित हो गये हैं जो वस्तुत: उनके समाहित व्यक्तित्व और उनकी अद्वैत दृष्टि का परिचायक है । वे मानते हैं कि विराट सत्ता के प्रति संकेत जहाँ उनके ज्ञान-पक्ष को सूचित करता है वहाँ "मा", "देवि" आदि संबोधन मातृशक्ति का माहात्म्य प्रदर्शित करते हैं । अहं तत्व के साथ प्रवाहित होनेवाली आत्मनिवेदन और विनय की अजस्र धारा, वासनारहित, समर्पणशील, आत्मतत्व और परमात्मतत्व के घनिष्ठ संबंध को सूचित करनेवाली "तुम और मैं" जैसी कविताएं, ज्ञान, भक्ति एवं कर्मयोग के समन्वय के साथ ही उनकी एकात्मकता प्रतिपादित करनेवाली "पंचवटी-प्रसंग" जैसी कविता आदि के आधार पर वाजपेयी जी निराला को अद्वैतवादी भूमिका पर एक महान समन्वय के पुरस्कर्ता के नाम से अभिहित करना उचित समझते हैं ।

निराला के छायावाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि मुक्तक छन्दों में निराला का दार्शनिक छायावाद विराट सत्ता और शाश्वत ज्योति के रूप में व्यक्त हुआ है । अमर विराम (जागरण), माता (पंचवटी प्रसंग), श्यामा (एक बार बस और नाच तू श्यामा) आदि शब्दों द्वारा कवि उस शाश्वत ज्योति की व्यंजना करते हैं जिसे वाजपेयी उनके छायावाद का एक पहलू मानते हैं । "वासना की मुक्ति-मुक्ता" के पद में मुक्ति के रूप में वासना का जो परिष्कार माना गया है उसी परिष्कार को वे निराला के छायावाद की विशेषता मानते हैं । वाजपेयी के विचार में निराला के चैतन्य की इकाई वही शाश्वत ज्योति है जो उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक, कलात्मक विचारों के मूल में हैं । उनके मुक्तक काव्य में लक्षित स्वच्छन्द कल्पना का सहज प्रवाह

तथा उनके शृंगारवर्णनों की दार्शनिक तटस्थता दोनों वाजपेयी जी की दृष्टि में अतिशय सराहनीय है । मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ भाषा-गांभीर्य से भी समन्वित "राम की शक्तिपूजा" एवं "तुलसीदास" हिन्दी में अपने ढंग के अकेले उदाहरण माने गए हैं । केवल गुणों के दर्शन वे नहीं करते, जहाँ-जहाँ कुछ खटकते हैं, उनकी ओर भी संकेत किया गया है । अतिरंजित वर्णन तथा यथार्थ चित्रण का बाहुल्य "कुकुरमुत्ता" और "खजोहरा" में देखे गए हैं । "पंचवटी प्रसंग" जैसे उदाहरणों द्वारा वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि निराला यद्यपि सिद्धांत की भूमिका पर मायामोहरहित प्रशांत ज्ञान का स्वरूप-निर्देश करते हैं, परंतु कर्म और व्यवहार के क्षेत्र में वे मातृशक्ति के प्रति प्रणत होने के अपने अभीष्ट को सूचित करते हैं । संक्षेप में निराला काव्य की दार्शनिकता के विषय में वाजपेयी जी की मान्यताएं ये हैं - "निराला का ज्ञान, भक्ति और कर्मसंबंधी निर्देश भारतीय वेदांत के अतिशय अनुरूप है । उनकी आध्यात्मिक चेतना केवल आध्यात्मिक भूमिका में सीमित न रहकर पूर्णत: मानवतावादी और मानववादी हो गई है । मातृशक्ति के प्रति संपूर्ण समर्पण और बलिदान की भावना के साथ ही अदम्य जीवनाभिलाषा और कर्मोन्मुखता भी उनमें दिखाई देती है । इस बात की ओर भी वे इशारा करते हैं कि आध्यात्मिक प्रेम के उदात्त स्वरूप के चित्रण के साथ ही निराला ने प्रिय यामिनी जागी, नामक कविता में पति के शयन-कक्ष से लौटी हुई गृहिणी को 'प्रिय-स्नेह की जयमाल', "वासना की मुक्ति" और 'त्याग में तागी हुई मुक्ता" कहकर लौकिक प्रेम को भी महान महिमा से मंडित किया है । "बादल-राग", 'वह तोड़ती पत्थर' आदि में वे निराला के जीवन-दर्शन के विद्रोही पक्ष के दर्शन करते हैं । उनकी यथार्थोन्मुख भावनाओं और प्रवृत्तियों को वे उनकी सांस्कृतिक चेतना के विघटन की द्योतक मानते हैं । अंतत: निराला-काव्य के दार्शनिक पक्ष के चार चरणों की ओर लेखक ने संकेत किया है -

प्रथम चरण समृद्ध और सशक्त अद्वैतवादी दर्शन का, जिसके अंतरंग से उनकी मानवतावादी दृष्टि का उन्मेष हुआ है । द्वितीय चरण में एक ओर उनकी सशक्त आध्यात्मिकता है तो दूसरी ओर उनके निजी जीवन के अनुभवों से प्रभावित उनकी व्यंग्यात्मक दृष्टि है । तृतीय चरण निराला की विघटित दार्शनिकता का चरण है जहाँ हास्य और विनोद के माध्यम से जीवन संबंधी कुरूप प्रतिक्रियाएं व्यक्त हुई हैं । चतुर्थ चरण में फिर से आध्यात्मिक दर्शन की ओर उन्मुख होना ।

"अप्सरा" और "अलका" में दर्शित भावात्मक और आदर्शवादी दृष्टि तथा "बिलेसुर बकरिहा" एवं "कुल्ली भाट" में दर्शित व्यंग्यात्मक दृष्टि के आधार पर बदलती हुई दार्शनिक दृष्टि का परिचय देनेवाले निराला के कथा-साहित्य की ओर भी वाजपेयी जी ने संकेत किया है । मूल रूप से उन्हे भारतीय दर्शन का अनुयायी मानते हुए लेखक ने यही निष्कर्ष निकाला है कि निराला का स्वच्छन्दतावाद सर्वत्र एक दार्शनिक आभा से समन्वित है, वह कल्पनामूलक न होकर चिंतन की प्रेरणाओं से संवलित है । उनके गीतों में पूर्णता है और उनकी परिणति उच्चतर मानसिक भूमिका पर हुई है । वाजपेयी जी के अनुसार इसी अर्थ में उनके गीत छायावादी या रहस्यवादी कहे जा सकते हैं अन्यथा ये मूलत: रसवादी हैं । इतना ही नहीं, अंतिम अनुबंध जहाँ एक ओर समस्त गीत को एक दार्शनिक स्तर पर ले जाता है वहाँ दूसरी ओर यह कलात्मक सौष्ठव, अन्विति या समाहार की प्रक्रिया को भी पूरा करता है ।

प्रसाद की दार्शनिकता

शैव दर्शन का मंथन कर उसे अपने व्यक्तित्व अथवा काव्य में अंतर्भूत कर देनेवाले प्रसाद को भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक चेतना के

सशक्त संवाहक के रूप में वाजपेयी जी देखते हैं । उनके विचार में, विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण ही "चित्राधार" में चित्रित प्रकृति-प्रेम के स्वरूप में भी विशिष्टता है । इसमें उनका प्रेम रमणीयता से है जिसके प्रति रतिभावना, जिज्ञासा वृत्ति दोनों लक्षित हैं । इसमें व्यंजित जिज्ञासाएँ ही आगे प्रसाद के, प्रेम-प्रधान शृंगारी कवियों से ऊपर उठकर, उच्चतर रहस्यात्मक अनुभूतियों को अभिव्यंजित करने में सहायक हुई है । "प्रेम-पथिक" में बाह्य-प्रकृति की रमणीयता के साथ-साथ प्रेम की रमणीयता को भी चित्रित करने के मूल में भी वे यही वृत्ति देखते हैं । "आँसू" की रहस्यात्मकता उनकी दृष्टि में यह है कि संपूर्ण प्रत्यक्ष चित्रण में आवृत्त एक परोक्ष रहस्यात्मक या आध्यात्मिक ध्वनि भी सुनाई पड़ती है । दृश्यमान मानव-जीवन के अंतर्गत ही अलौकिक झाँकी का आभास उन्हें होता है । दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टियों से मानव को जीवन-संघर्ष के लिए उद्यत कर देनेवाले धर्म की रूढियों से छूटकर आत्मा की अमरता की सीख देनेवाले, गुलाबी आँसुओं से सांसारिक स्थिति को देखनेवाले प्रसाद के दृष्टिकोण को किसी भी अर्थ में जीवन से विमुख करने का साधन वे नहीं मानते । "कामायनी" में श्रद्धा और बुद्धि के संतुलन का जो संकेत हुआ है उसके आधार पर वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि प्रसाद की दृष्टि समन्वय चाहती है और वे संघर्षात्मक जीवन-दर्शन के अनुयायी नहीं है । कर्म, ज्ञान और भावना के समन्वय के इच्छुक प्रसाद की संतुलित दृष्टि की सराहना करते हुए वे बताते हैं कि उन्होंने नवीन संघर्ष से उत्पन्न भौतिक विकासवादी दर्शन को पूर्ण स्वीकृति नहीं दी है । बुद्धि की अति और उसके अवश्यंभावी परिणामों का प्रतिषेध वे प्रसाद की मूल आध्यात्मिक विचारणा के अनुकूल ही मानते हैं ।

महादेवी पर यद्यपि वाजपेयी जी ने विस्तार से नहीं लिखा है तो भी यह बात मान ली है कि बौद्ध दर्शन, सांख्य तथा वेदांत की दीप्ति लेकर महादेवी ने अपने काव्य को भास्वर बनाया है ।

दर्शन के बोझ से जहाँ-कहाँ क्लिष्टता आ गयी है उस ओर भी उन्होंने संकेत किया है । अस्पष्टता को काव्य का गुण न मानकर चित्रण की दुर्बलता ही मानी गयी है । "साध्यगीत" में लक्षित दार्शनिक एकाग्रता उनकी दृष्टि में निश्चय ही उच्च कोटि की है, किंतु काव्य उपादान को वे उतना पुष्ट नहीं मानते ।

साहित्य के तत्व

अनुभूति

साहित्य का प्रेरक तत्व वाजपेयी जी के विचार में आत्मानुभूति है । लेकिन "आत्मानुभूति" शब्द के निश्चयार्थक न होने की वजह से वे अनुभूति शब्द ही पर्याप्त समझते हैं । वे मानते हैं कि स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्यसृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती । काव्य में अनुभूति की व्यापकता स्पष्ट करने के लिए उन्होंने ध्वनिसिद्धांत का सहारा लिया है । अनुभूति का महत्व व्यक्त करते हुए वे बताते हैं कि अनुभूति ही वह शक्ति है जो काव्य की संपूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करती है । संपूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है । अनुभूति के स्वरूप, भेद आदि पर विचार करने केलिए उन्होंने अभिव्यंजनावादी क्रोचे के विचारों का भी प्रतिपादन किया है । क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है । अनुभूति आत्मिक व्यापार का परिणाम है और अभिव्यक्ति क्षमता से हीन अनुभूति को वे मानसिक जमुहाई मानते हैं । क्रोचे के मत में अनुभूति, अभिव्यक्ति और काव्य ये तीनों शब्द समानार्थी हैं, इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है । अनुभूति का समरस होना अनिवार्य है, एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है[2] ।

1. आधुनिक साहित्य, पृ·438

भारतीय आचार्यों ने भी समस्त काव्य-शैलियों और काव्य-स्वरूपों में अनुभूति की अखण्ड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी । इस प्रकार क्रोचे के विचार और भारतीय साहित्यशास्त्रियों के अनुभूति विषयक विचार प्रस्तुत करते हुए वाजपेयी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुभूति एक अखण्ड सत्ता है[1] ।" अनुभूति के आधार पर ही काव्य के व्यक्तिगत (Subjecti और वस्तुगत (Objective) जैसे वर्गीकरण वे अनुचित मानते हैं । इस विचार को वे कोरी भ्रांति बतलाते हैं क्योंकि व्यक्तिगत अनुभूति से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नहीं, अतएव उन्हें तो काव्य की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती[2] ।" रसों के आधार पर तुलना करके किसी कृति को श्रेष्ठ या निकृष्ट प्रमाणित करने की प्रवृत्ति को भी वे कृत्रिम मानते हैं क्योंकि सभी रसों में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है[3] ।" अनुभूति की अजस्र एकरूपता की दृष्टि से सभी कलारूपों में काव्यत्व की भूमि पर वे समानता दर्शाते हैं ।

अनुभूति विशेष के प्रकाशन के लिए रचयिता की योग्यता, रुचि व सामर्थ्य के उपयुक्त कोई भी माध्यम अपनाया जा सकता है । किंतु "प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है । हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छन्द के स्थान पर दूसरा छन्द रखकर "आदर्श अभिव्यक्ति" नहीं कर सकते । आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी[4] ।" काव्य में अभिव्यक्ति का स्थान निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा है - "अवश्य कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है, किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौंदर्यानुभूति की शक्ति-मात्रा

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.442
2. वही, पृ.442
3. वही, पृ.442
4. वही, पृ.443

और कीमतीपन में अन्दर हुआ करता है, और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है । इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस रचना से प्राप्त होता है, इसलिए काव्य-विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है[1] ।"
एक अन्य स्थान पर लिखा है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता के न रहने पर भी काव्य काव्य ही माना जाएगा, लेकिन वास्तविक अनुभूति के अभाव में काव्यसृजन हो ही नहीं सकता । वाजपेयी जी का समन्वयवादी दृष्टिकोण यहाँ भी स्पष्ट है । काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति के सामंजस्य को वे महत्व देते हैं । उनकी दृष्टि में अभिव्यक्ति वही श्रेष्ठ है जो अनुभूतिपूर्ण हो । इसीलिए वे समझते हैं कि "अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए भी दोनों की अंतरंग अनन्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता[2] ।"

कल्पना और अनुभूति का काव्य में कार्य-कारण संबंध माना जाता है । अनुभूति या भावना काव्य का प्रेरक तत्व है - उस की मूलभूत सत्ता है । कल्पना अनुभूति का क्रियाशील स्वरूप है । व्यावहारिक दृष्टि से कल्पना और अनुभूति में यह भेद माना जाने पर भी तत्वत: दोनों में एकरूपता है[3] ।" कला-दर्शन में कल्पना शब्द काव्य-सृष्टि में आद्यंत व्याप्त रहनेवाली संपूर्ण प्रक्रिया का द्योतक है । अनुभूति ही उसका मूल है और वह रूपात्मक अभिव्यंजना में परिणत होती है । इस प्रक्रिया में गतिमान तत्व अनुभूति है और इस प्रकार कल्पना अनुभूति से अभिव्यंजना तक विस्तृत है । इसी आधार पर चलकर क्रोचे ने कला-दर्शन में अनुभूति और कल्पना अथवा स्वयंप्रकाशज्ञान और अभिव्यंजना की एकात्मता और अभिन्नता स्थापित की है[4] ।"

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.434
2. वही, पृ.443

वाजपेयी जी अभिव्यक्ति को अनुभूति का सहज परिणाम मानते हैं । उसे वे काव्य में मूल्य और महत्व की स्थापना करनेवाला प्रमुख उपादान मानते हैं । उनके मत में "वह वस्तु जो कल्पना के विविध अंगों और मानस छवियों का नियमन और एकान्वय करती है, अनुभूति कहलाती है । अतएव अनुभूति काव्य का निर्णायक और केन्द्रीय तत्व है जिसका धारण और विन्यास काव्य-कल्पना तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूपों में होता है । इस भावात्मक अनुभूति में मानव व्यक्तित्व और मानवता के ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते हैं जिनसे काव्य में मूल्य और महत्व की प्रतिष्ठा होती है ।[1]" अनुभूति में वे तीन तत्वों का सन्निवेश पाते हैं §1§ वह वस्तु जो अनुभव का विषय है, §2§ विषयी या आत्मा जो अनुभव करती है और §3§ विषय और विषयी के संघात से उत्पन्न अनुभव या संवेदन । वे बताते हैं कि इन तीन तत्वों का संयोग अनुभूति के निर्माण में होने के कारण उसके स्वरूप और वैशिष्ट्य में असंख्य भेदों का होना स्वाभाविक है, परन्तु काव्यात्मक अनुभूति अत्यंत उच्च स्तर का अनुभव होने के कारण बहुत कुछ समरस और समरूप भी हुआ करती है ।

अनुभूति का क्रियाशील स्वरूप होने की वजह से कल्पना में वे समस्त विशेषताएं विद्यमान हैं जो अनुभूति में निहित है । काव्य वही श्रेष्ठ माना जाएगा जिसमें कल्पना-व्यापार, अनुभूति या भावना से अनुशासित रहता है । इस अनुशासन के अभाव में कल्पना के अतिरेक से मानव-बिंबों और मानस-छवियों का स्वतंत्र आकलन होने लगता है जिससे काव्य में असंतुलन आ जाता है । इस कारण से कल्पना का अतिरेक किसी भी काव्य के लिए शोभनीय नहीं माना जा सकता । वाजपेयी जी के विचार में "काव्यानुभूति स्वत: एक अखण्ड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खण्ड-व्यापार या वाद से जोडने की कोई आवश्यकता नहीं । .....

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.147

..... वह साहित्य की मूल आत्मा है।[1]" इन्द्रिय आधार पर नहीं होने के कारण वे उसे नित्य और शाश्वत मानते हैं।

अनुभूति-लोक के चिरंतन, शाश्वत स्वरूप पर दृष्टि डालते हुए वे लिखते हैं - "कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करनेवाली आत्मप्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर कल्पना व्यापार का संचालन करती है, जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुक्त वर्णमयता में समस्त वर्णभेद, वर्गभेद और वादभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूतिलोक नित्य और शाश्वत है। चिरंतन विकास की त्वरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जायगी।[2]"

"अनुभूति" शब्द को प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित "प्रेतिभा" शब्द का ही एक नवीन रूप माना जा सकता है। आचार्य मम्मट के मत में शक्ति-निपुणता, अध्ययन और अभ्यास काव्य के हेतु हैं[3] भामट मण्डी आदि ने भी प्रतिभा को काव्य का हेतु[4] माना है। वाजपेयीजी ने अनुभूति के साथ कल्पना को भी जोड़कर भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का समन्वित रूप उपस्थित किया। उसके स्थिर एवं गतिशील रूपों का प्रतिपादन कर उन्होंने अनुभूति के निरूपण में मनोवैज्ञानिक दृष्टि अपनायी है। व्युत्पत्ति, अभ्यास जैसे बाह्य तत्वों का स्वतंत्र अस्तित्व उन्होंने नहीं स्वीकार किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त "अनुभूति" शब्द इतना व्यापक है कि उसमें सभी बाह्य तत्वों का अंतर्भाव हो जाता है। बाह्य तत्वों की आवश्यकता के प्रति बोधवान होते हुए भी वे साहित्य का संबंध जीवन के अंतरंग तत्वों से स्थापित करते हैं। काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का महत्व निर्विवाद है। प्रयोगावादी रचनाओं की आलोचना करते हुए वे व्यक्त करते हैं -

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.444
2. वही, पृ.444

"कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है । वह उनके साथ खिलवाड नहीं कर सकता । उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परंपरा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है[1]।" काव्य के भावगत एवं भाषागत संस्कारों तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबंध रखनेवाले तत्वों को ही काव्य-सृजन के लिए वे अपेक्षित मानते हैं । भावपक्ष के अंतर्गत अनुभूति और भाषापक्ष के अंतर्गत अभिव्यक्ति सहज ही समाविष्ट है ।

कल्पना

साहित्य और जीवन के संबंध के उल्लेख में वाजपेयी जी ने "कल्पना" की भी चर्चा की है । साहित्य में जीवन के विविध रूपों की अभिव्यक्ति एक विशेष प्रकार से होती है । इस प्रकार को वे कल्पना-प्रकार" कहते हैं[2]।" उनके विचार में केवल कल्पना के माध्यम द्वारा ही मानव जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य में हो सकती है । उसी को वे काव्य या साहित्य का एकमात्र नियामक तत्व घोषित करते हैं । इस विवेचन में कल्पना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं - "कल्पना का स्वरूप सर्वसम्मति से रूपात्मक माना गया है । रूप की सत्ता भावाश्रित होती है । अतएव साहित्य भी भावाश्रित रूप ही है । इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य में कोई दूसरी वस्तु-सत्ता रह ही नहीं सकती[3]।" इस प्रकार वाजपेयी जी साहित्य में वस्तु-पक्ष और रूप-पक्ष को एक दूसरे से अनुस्यूत मानते हैं । अपने व्यापक अर्थ में रूप या भावाश्रित रूप एक मनोवैज्ञानिक पदार्थ है जिसके विविध उन्मेष स्वप्न, दिवास्वप्न, बाल-कल्पना तथा साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में देखे जाते हैं । साहित्य में

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.76
2. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.3
3. वही, पृ.3

इनकी विशेष प्रकृति सार्वजनीन बनने की रही है[1]।" रूप तो उन्होंने अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। रूप-पक्ष को सार्वभौमिक महत्व प्रदान करते हुए वे लिखते हैं कि "कल्पना तो व्यक्ति करता है, पर "रूप" बहुजन-संवेद्य होता है। इसी कारण इस "रूप" तत्व में श्रुति-संगति अनुक्रम तथा बौद्धिक ग्राह्यता की बहुमुखी सामग्री रहा करती है। यह सारी सामग्री शब्दों का परिधान धारण कर उपस्थित होती है, अतएव शब्दरहित "रूप" की अपेक्षा यह शाब्दिक "रूप" अपनी विशेषताएँ रखने को बाध्य है[2]।"

रूप, भाव, कल्पना सब का महत्व वाजपेयी जी की इस विवेचना में स्पष्ट होता है। कल्पना को वे अनुभूति का क्रियमाण रूप मानते हैं। उसकी श्रेष्ठता-हीनता अनुभूति की श्रेष्ठता-हीनता पर अधिष्ठित है। अनुभूति की सारी विशेषताएँ कल्पना में भी विद्यमान रहती हैं। अनुभूति अस्पष्ट और हल्की है तो उससे उत्पन्न होनेवाली कल्पना भी अस्पष्ट और विशृंखल होगी[3]।" काव्य में कल्पना का विशेष महत्व तो है किंतु उसका भी अतिरेक काव्य के लिए दोष बन जाता है, काव्य को कृत्रिम बना देता है। उसमें असंतुलन लाता है[4]।" कल्पना की अवास्तविक उडान वे काव्य केलिए अनिष्टकारी मानते हैं।

वाजपेयी जी भाव को हृदयग्राही बनानेवाली कल्पना को ही कवि-कल्पना मानते हैं। भावविरहित कल्पना उनकी दृष्टि में कवि-कल्पना नहीं है। उसे भावों की सहचरी होनी चाहिए। क्लिष्ट कल्पनाओं से मुक्त रहने में ही कविता का चमत्कार निहित है।

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.3
2. वही, पृ.3-4
3. वही, पृ.147

उनकी दृष्टि में कल्पना केवल शैली में ही नहीं, विषय में भी हो सकती है । जहाँ कल्पना की शक्ति अजेय- उसका नवनवोन्मेष अप्रतिम हो वहाँ काव्य अधिक रमणीय रहता है । प्रेम और सौंदर्य की सूक्ष्म, मानसिक विवृत्ति के साथ आध्यात्मिक उड़ान भरने में, कहीं हल्की मोदमय, कहीं मधुर रसमय भावाभिव्यक्ति करने में कहीं गूढ, रहस्यमय सृष्टि करने में भी कल्पना समर्थ होती है ।

"प्रयोगवादी रचनाएं" नामक लेख में वाजपेयी जी ने दिनकर, हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत, बच्चन आदि की कविताओं का उदाहरण प्रस्तुत कर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि छायावादी कविताओं में अनुभूति और कल्पना का उन्मेष अन्य कवियों की अपेक्षा कितना अधिक है । छायावादी युग को सामाजिक और साहित्यिक परंपराओं के विरुद्ध विद्रोह का युग मानते हुए वे स्थापित करते हैं कि "व्यक्ति के नवीन स्वातंत्र्य और मानव के नवीन महत्व की अनुभूतियाँ इस युग के काव्य-साहित्य को नवीन उल्लास और नया आत्मबल प्रदान करती है । गांधीजी द्वारा जगायी गयी नयी राष्ट्रीय चेतना का वेग भी इन अनुभूतियों के मूल में है[1]।" छायावादी काव्य में यद्यपि मुख्य रूप से प्रगीतात्मक काव्य-शैली ग्रहण की ~~मुख्य रूप से प्रगीतात्मक काव्य-शैली ग्रहण की~~ गयी तो भी प्रसाद के भावनाप्रधान नाटकों और कामायनी के समृद्ध आख्यानों में उसका विस्तार दर्शनीय है । कई उल्लेखनीय विशेषताएं इनकी अनुभूतियों में वे देखते हैं । इनमें कवि की भावना का परिपूर्ण प्रकाशन तथा कवि के व्यक्तित्व का पूरा प्रतिबिंब लक्षित होता है । कवि की अनुभूति बिना व्यवधान के अपने अनुरूप कल्पना का वरण करती है और निर्व्याज आत्माभिव्यक्ति में परिणत होती है । संगीत के स्वरों की भाँति प्रगीत के शब्द भी कवि की भावना-

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.148

झाइयों के परिचायक होते हैं और इस प्रकार शब्द और अर्थ, छन्द और लय, रूप और निरूप्य में एक अविच्छेद संबंध बन जाता है । प्रगीत काव्य के माध्यम से कवि की भावना या अनुभूति अनुरूप कल्पना में परिणत होकर सुन्दरतम काव्यरूप में अभिव्यंजित होता है । छायावाद युग की अनुभूतियों के लिए इस माध्यम का अच्छा से अच्छा उपयोग किया गया ।[1] छायावादी कवियों की अनुभूति और कल्पना के स्वरूपों में और उनके साहित्यिक निर्माण में वड्सवर्थ, कीट्स, शेली जैसे अंग्रेज़ी कवियों से एक बडी हद तक समानता भी उन्हें परिलक्षित होती है । "निराला की कल्पनाएं उनके भावों की सहचरी हैं । वे सुशीला स्त्रियों की भाँति पति के पीछे पीछे चलती है । इसलिए उनका काव्य पुरुष काव्य है[2] ।

पंत के काव्य के विवेचन में वाजपेयी जी ने "कल्पना" की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है । कल्पना को वे पंत की कविता का मेरुदण्ड, उनकी काव्य-सृष्टि का मापदण्ड मानते हैं । उनके काव्य की जो विशेषता है, उनके आकर्षण का जो रहस्य है, उनकी विविध मुखी रचनाओं में रमणीयता का संचार करनेवाली जो शक्ति है सबका सारा श्रेय वे उनकी काव्यधारा में आद्यंत अबाध गति से व्याप्त कल्पना को देते हैं । कोरी कल्पना की बाल्य-सुलभ रंगीन उडानोंसे लेकर अत्यंत तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियों के चित्रण तक में पंत का विकास-क्रम वे देखते हैं । "गुंजन", "ज्योत्स्ना" आदि में उनकी समृद्ध एवं पुष्ट कल्पना-शक्ति के साथ रमणीक साथ ही गंभीर अनुभूतियों का सम्यक् योग हो सका है । प्रेम और सौंदर्य की सूक्ष्म मानसिक विवृत्ति तक में उनकी कल्पना समर्थ हुई है और कहीं कहीं आध्यात्मिक स्तरों का संस्पर्श भी उसमें आ पाया है । इस प्रकृष्ट कल्पना शक्ति के धनी होने की वजह से ही वे स्वच्छन्द होकर व्यापक,

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.149
2. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.180

निलेप सृष्टि करने में सफल हो पाये हैं । "उनकी कल्पना के साथ कोमल एवं मार्जित रुचि मिलकर उनकी कविता को रमणीय अथच आकर्षक वेश-भूषा से सज्जित करती । यह साज-सज्जा आधुनिक हिन्दी में और कहीं नहीं देख पड़ती । पंत जी की इस रुचि से हिन्दी खड़ीबोली को ईप्सित फल प्राप्त हुए हैं - सरस सार्थक शब्दसृष्टि, मृदुल छन्द और सुन्दर प्रशस्त भाषा ।"[1]

काव्य में किसी भी तत्व का अतिरेक वाजपेयी जी को ठीक नहीं जाँचता । किसी तत्व का समावेश केवल उसी हद तक वे आवश्यक मानते हैं जहाँ तक काव्य का कलात्मक सौष्ठव बढाने में, उसकी साहित्यिक गरिमा उजागर करने में समर्थ हो । कल्पना के गुणों पर प्रकाश डालने के साथ ही उसकी अधिकता से होनेवाली हानि की ओर भी उन्होंने संकेत किया है । "कल्पना का अतिरेक जीवन का संपर्क छोड़कर एकांतिक हो जाता है । किंतु पंतजी की कल्पना वैसी प्राय: कम ही है । वह अनेक बार दिव्य ज्योति दिखाती, यदा-कदा विद्युत चकाचौंध उत्पन्न करती, पर गड्ढे में प्राय: कभी नहीं गिराती ।" वाजपेयी जी सौंदर्यान्वेषी है । ऐसे तत्वों का ही वे समर्थन करते हैं जो सौंदर्यानुभूति जगाने में समर्थ हो । काव्य में कल्पना की भूमिका अवश्य वे महत्वपूर्ण मानते थे, किंतु उसकी अतिशयता का उन्होंने विरोध किया । उनका विश्वास था कि कल्पना की अतिशयता से कृति वायवी हो जाती है, उसकी भावान्विति खो जाती है । कल्पना की उर्वरता एवं उडान कृति को निरीह बनाने में ही सहायक होगी । कल्पना की भूमिका उस हद तक वे आवश्यक समझते थे जहाँ तक वह भावतत्व का अतिक्रमण न कर बैठे, प्रभावान्विति में बाधक न हो । महादेवी की कविता की चर्चा में भी उनकी इसी सौंदर्यान्वेषी दृष्टि का पता चलता है । यद्यपि महादेवी के काव्य में छायावाद-युग की समस्त विशेषताएँ नहीं मिलतीं

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.187

तो भी एक विशेषता-कल्पना का बाहुल्य उसमें दीखता है । वे प्रकृति के एक-एक रूप या उसकी एक-एक वृत्ति को साकार व्यक्तित्व देकर उनके व्यापारों की कल्पना करती है, जिनमें उनकी समृद्ध कल्पनाशीलता प्रकट हुई है[1] ।" किंतु उनकी कल्पनाओं की एक विशेषता भी वे देखते हैं कि वे कल्पनाएं सब जगह सीधे और चोट करनेवाली नहीं, उनका प्रत्यक्ष रूप सहज आंखों के सामने नहीं आता । कहीं-कहीं तो उन प्रतीकों का वह कल्पित व्यापार हमारे सौंदर्य-संस्कारों के प्रतिकूल पड़ जाता है और कहीं-कहीं वह इतना क्लिष्ट होता है कि वह ईप्सित सौंदर्य की झांकी नहीं पा सकते[2] ।" कल्पना की यह प्रकृति काव्य के लिए वे काम्य नहीं मानते । उनके विचार में कल्पना की समृद्धि या बहुलता अटूट श्रृंखला के रूप में होनी चाहिए और उसकी एकतानता एवं व्याप्ति सदैव बनी रहनी चाहिए । लेकिन "महादेवी की अनुभूतियां अतिशय अंतर्मुख हैं, उन अनुभूतियों को कल्पनात्मक रूप देने में भी उन्होंने सामान्य कल्पना-पद्धति से काम न लेकर प्रतीकात्मक कल्पनाओं और रूपकों का उपयोग किया है । इस कारण देवी जी की कविताओं में कल्पना का स्वाभाविक प्रयोग और रूप-सृष्टि की सहज सुलभता कम है । महादेवी जी की समृद्ध किंतु प्रतीकात्मक कल्पना-योजना के साथ-साथ चलने में पाठक को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है । उनकी रूप-सृष्टि या रचना अतिशय आभरणयुक्त और अलंकृत हो गयी है, उनके मूलवर्ती संवेदनों तक सबकी पहुंच नहीं हो पाती[3] ।" इस प्रकार वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि छायावाद युग की अनुभूतियों में राष्ट्रीय-जागृति की प्रभाती ध्वनि है, करुणा का विराग राग है, आशा और उत्तरदायित्व के मनोरम स्मृति-चिह्न है, दार्शनिक अनुभूतियों की कल्पना है और मानव-जीवन के उदात्त पहलू हैं जो भूले हुए गौरव की पुनरावृत्ति का पथ निर्देश करते हैं, परिस्थितियों पर मानवता की विजय का संदेश देते हैं । परंतु ये समस्त अनुभूतियां अधिकतर प्रगीत काव्य के माध्यम से व्यक्त हुई है[4] ।"

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.204
2. वही, पृ.204
3. [illegible]

भाषा

भाषा हमारे विचारों के आदान-प्रदान का शाश्वत एवं सर्वोत्तम माध्यम मानी जाती है । किंतु वह माध्यम तभी बन सकती है जब उसमें विचारों को सही रूप में संपूर्णता से ग्रहण करने एवं उसी रूप में उतारने की क्षमता हो । साधारण व्यवहार के क्षेत्र में मात्र अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा का प्रयोग किया जा सकता है । इसके लिए व्याकरण संबंधी नियमों पर ध्यान देने की आवश्यकता है ही नहीं । किंतु साहित्यिक क्षेत्र में भाषा पर विचार करते समय उस की प्रकृति, उसके स्वभाव से संबद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर भी ध्यान देना पड़ता है । वाजपेयी जी भाषा के प्रति बहुत ही उदारता बरतने के पक्षपाती हैं । रत्नाकर के भाषा-विवेचन में उन्होंने यह व्यक्त भी किया है । "भाषाओं की भी आत्मा होती है अथवा उनके जीवन की भी एक गति होती है । प्रत्येक भाषा की प्रगति का एक क्रम होता है, जो सूक्ष्म दृष्टि से देखा जा सकता है । भाषा केवल हमारे भावों तथा विचारों का वाहन नहीं है, जो ठोंक पीटकर सर्वसमय काम में लाई जा सके । उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व और वातावरण भी होता है । हमारी ही तरह उसकी भी शक्ति इच्छा और संस्कार होते हैं ।" परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से भाषा की जो विविध आकृतियाँ बनती-पनपती रहती हैं उन्हें पहचानना कवि अथवा समीक्षक के लिए वे उपयोगी एवं आवश्यक मानते हैं । यह धारणा ठीक नहीं कि सभी भाषाएँ, सभी वेशों और सब कामों में लगाई जा सकती है ।

किसी भी भाषा की सही परख तभी संभव है जब उसकी सहज प्रकृति से भली-भाँति अवगत हो । साहित्यिक कृतियों के समान उसकी भाषा को भी समय का साथ देने में, जीवन की सहचरी बनने में पूर्णत: समर्थ होनी चाहिए । वाजपेयी जी के विचार में एक ही भाषा के

अंतर्गत आनेवाली विभिन्न बोलियों में समानता दर्शाकर दोनों को मिला-जुलाकर प्रयुक्त करने से दोनों की सहज प्रकृति नष्ट हो जाती है एवं प्रगति भी रुक जाती है । खिचड़ी भाषा के प्रयोग से दोनों भाषाओं के शब्द-सौंदर्य से हाथ धोना पड़ता है, रचना का स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है । युगानुरूप भाषा के प्रयोग में भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं महावीर प्रसाद द्विवेदी को वे बहुत अधिक समर्थ मानते हैं ।

प्रत्येक भाषा का अपना जो संस्कार होता है, उसकी चिर दिन की जो अभ्यस्त भंगिमाएँ होती हैं उनसे उत्पन्न होनेवाले सौंदर्य का शाश्वत महत्व रहता है । किंतु सापेक्षिक होने के कारण सौंदर्य का स्वरूप चिरंतन होने के साथ ही परिवर्तनशील भी है । बदलती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में बननेवाली उसकी जो विभिन्न आकृतियाँ होती हैं उन्हीं के द्वारा उनका चलित सौंदर्य प्रस्फुटित होता है । भाषा के इस स्थिर सौंदर्य एवं चलित सौंदर्य में चलित सौंदर्य को ही वाजपेयीजी भी प्रमुख मानते हैं क्योंकि परिस्थिति की उपज होने की वजह से भाषा में परिवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता । इसलिए वे प्रत्येक कवि के लिए यह सामर्थ्य आवश्यक मानते हैं कि भाषा का नवीन रूप-विन्यास करके उसे आधुनिक जीवन की सहचरी बनाने के साथ ही उसकी पूर्वसंचित कांति सुरक्षित रखने की ओर भी वे विशेष ध्यान दें । उनके विचार में भाषा की सफलता अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करने में निहित है । इस दृष्टि से शब्दों का शुद्ध सामयिक, सार्थ और सुन्दर प्रयोग को वे विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं[1] । इनमें शब्दों की शुद्धि का संबंध व्यवस्थित व्याकरण से, सामयिक प्रयोग से मतलब स्वाभाविक एवं प्रसंगानुकूल शब्द-चयन की चातुरी से तथा सार्थक पद-विन्यास से अभिप्राय उर्वर कल्पनाशक्ति के सम्यक योग से निर्मित पदों से है । पदों का सुन्दर प्रयोग वह है जो संगीत [illegible]च्चारण[illegible], व्याकरण कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहा[illegible]ता से संघटित हो,

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.50

जिसके श्रवनन मात्र से अनुरूप अर्थसत्ता प्रकट हो और जो वाक्य-विन्यास का प्रकृत अभिन्न अंग बनकर वहीं निवास करने लगे[1]।" द्विवेदी जी की भाषा के स्वरूप पर भी इस प्रसंग में प्रकाश डाला गया है। उसका तत्कालीन स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि "द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रूस है। उनकी भाषा में कोई संगीत नहीं - केवल उच्चारण का ओज है, जो भाषण-कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी-कभी खाली चली जाती हैं - असर नहीं करतीं, परंतु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों को पुष्ट करते हैं। जैसे इस प्रदेश की छोटी "लखौरी" ईंटें दृढता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे-छोटे वाक्य भी बन पडे हैं[2]।" इस प्रकार की भाषा को अधिक असरदार न मानते हुए भी वे यह आशा करते हैं कि "जब कभी अवसर आएगा (हम समझते हैं कि शीघ्र ही आवेगा) तब द्विवेदी जी की भाषा का चमत्कार देखने को मिलेगा। वह सरल, रूक्ष अभिव्यक्ति, जिसके गर्भ से गहन विचारों की परंपरा फूट निकलेगी, हिन्दी के क्षेत्र में एक दर्शनीय वस्तु होगी[3]।"

परंपरा-प्राप्त भाषा की अपेक्षा नवीन प्रयोगों से युक्त भाषा को वाजपेयी जी अधिक महत्व देते हैं। विषय एवं वातावरण के अनुकूल प्रयुक्त होनेवाली भाषा ही अधिक सजीव, सप्राण एवं प्रभावोत्पादक होती है। उसमें विविधता तो हो सकती है, किंतु विशृंखलता या अतिशय अलंकृति नहीं होनी चाहिए। व्रजभाषा-साहित्य का शृंगार करनेवालों में रत्नाकर को सर्वप्रमुख मानते हुए वाजपेयी जी ने व्यक्त किया है कि उन्होंने काशी की बोली से शब्द ले-लेकर व्रजभाषा के साँचे में ढाला दिया, संस्कृत की

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.50
2. वही, पृ.61

पदावली का व्रज की बोली में गूंथ दिया । तथा दुरूह पद जालों का प्रयोग करते हुए भी अपनी भाषा को क्लिष्ट और अग्राह्य न बनने की ओर विशेष ध्यान दिया । रत्नाकर को भक्तों और शृंगारियों के बीच की कडी मानते हुए वे बताते हैं कि भाषा-सौंदर्य, संगीत और छन्द संघटन में - कविता के कलापक्ष की सुंदरता में - रत्नाकर की तुलना अंग्रेज़ कवि टेनिसन से की जा सकती है[1]।" भाषा-चमत्कार और छन्दों की रमणीयता स्थापित करने में वे दोनों को कुशल मानते हैं । गुप्तजी की भाषा-संबंधिनी साधना भी उत्कृष्ट कोटि की मानी गयी है ।

नवीन युग का सन्देश देने एवं साहित्यिक विकास के लिए यदि प्रचलित प्रणालियों को तोडना पडे, तो वाजपेयी जी उसमें कोई हानि नहीं देखते, बल्कि उसे अनिवार्य और उपयोगी मानते हैं । रचना को युगीन मनोवृत्ति के अनुकूल प्रस्तुत करने के हामी हैं, वे । भारतीय काव्यशास्त्र में भाषा की तीन शक्तियां मानी गयी हैं - अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना और उनमें व्यंजना-शक्ति की खूब प्रशंसा हुई है । ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ बताया गया है । किंतु मात्र किसी एक भेद को प्रमुखता देने की प्रवृत्ति वाजपेयी जी को ठीक नहीं जँचती । विषय एवं उद्देश्य के उपयुक्त किसी भी शक्ति को ग्रहण करना ही वे उपादेय समझते हैं । किसी को भी अनावश्यक महत्व देने की प्रवृत्ति उन्हें मान्य नहीं । उनके मत में ध्वनि और अभिधा काव्यवस्तु के भेद नहीं है, केवल काव्य-प्रणाली के भेद हैं । हमें प्रत्येक प्रणाली को प्रश्रय देना चाहिए न कि किसी एक को । ..... ये अभिव्यक्ति की प्रणालियां मात्र हैं । काव्य वस्तु ही महत्वपूर्ण है[2]।" नैसर्गिक अदम्यता से युक्त नवीन काव्य के लिए परंपरा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का अनुसरण करते चलना वे असंभव मानते हैं । उनकी राय में अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है । यद्यपि व्यंग्यात्मक

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.64

प्रयोग से काव्य-चातुरी बढ़ती है तो भी प्रत्येक अवसर पर इसे वे अभीष्ट नहीं मानते । लाक्षणिकता के विषय में भी उनकी यही धारणा रही कि उसकी अति काव्य के धारावाहिक सौंदर्य में बाधा उपस्थित करती है । वे अभिधार्थक शब्दों के सौंदर्य को ही लक्षणा और व्यंजना का आधार मानते हैं तथा लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों की निष्पत्ति के लिए सटीक शब्दों का प्रयोग आवश्यक समझते हैं । उनके विचार में लक्ष्यार्थ वही श्रेष्ठ है जो काव्य से आप ही आप प्रकट होता है ।

"सूरसागर" में इसके कई निदर्शन आप ढूंढ निकालते हैं, उसमें वर्णित वेणु-गीत के पदों का माहात्म्य सिद्ध करते हुए वे बताते हैं कि कवि ने इस प्रसंग को लेकर इतनी नवीन उद्भावनाएँ की है कि इस विषय में निश्शंक होकर हम कह सकते हैं कि वह संगीत के रस से सिक्त तो थे ही, वंशी की उस ध्वनि से पूर्ण परिचित थे जो नाम रूप से भगवान का आख्यान करने में लगी हुई है[1] । इस प्रसंग का जैसा प्रभावपूर्ण विवेचन वाजपेयी जी ने किया है वह उनके विचारों की प्रौढ़ता का सहज परिणाम है । जो बाँस की बांसुरी कृष्ण को अपने वश में कर कृष्ण केलिए सर्वाधिक प्रिय गोपिकाओं की भी अवहेलना करने में समर्थ है उसे वे बिलकुल असाधारण बाँसुरी समझते हैं । नाम-महिमा के वर्णन में तन्मयता प्रदर्शित करने में तुलसी की ही भाँति सूर के इस कार्य को भी वाजपेयी जी महत्व देते हैं कि सूर ने कृष्ण की वंशी को नाम का प्रतीक मानकर काव्य-जगत् में एक नयी दुनियाँ की सृष्टि की है । उनकी दृष्टि में अधिक प्रभावात्मक सूर की वंशी है । इसका कारण भी वे स्पष्ट करते हैं । कारण यह कि तुलसी की नाम की महिमा बुद्धिग्राह्य है, किंतु सूर की वंशी की महिमा प्रत्यक्ष है । उनके विचार में तुलसी का

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.129

नाम-माहात्म्य, भक्तों के लिए मान्य है, परंतु सूर की वंशी-ध्वनि अधिक व्यापक क्षेत्र में, अधिक सरस रीति से अधिक स्पष्ट प्रभाव दिखाती है[1]।" वाजपेयी जी में चिंतन की जो गहराई है तथ्य के सूक्ष्म विवेचन की जो क्षमता है उसका उत्तम निदर्शन इन पंक्तियों में मिलता है। उनका विश्वास है कि भक्त जनों केलिए तो तुलसी की नाम-महिमा, और सूर की मुरली-माधुरी दोनों समान रूप से मूल्यवान होते हुए भी काव्य के विचार से सूर के पदों के प्रति ही लोकरुचि अधिक रहेगी। कारण भी वे यह बताते हैं कि तुलसी के नाम-गुणगान में निश्छल उद्गारों का एक स्वच्छ प्रवाह है और विश्वास की ऐसी लयकारी तरंग है जो बिना सूचना दिए ही अपनी ओर खींच लेती है, किंतु सूर की वंशी-ध्वनि में वह मोहिनी लय है जिसमें स्वेच्छा से ही जीव लीन होते, स्वेच्छा से ही तन्मय हो जाते हैं[2]।"

"काव्य के लिए प्रयोजनीय शब्द ही काव्यभाषा का निर्माण करते हैं और भाषा की भंगिमाएँ और चमत्कृतियाँ ही अभिव्यंजना कही जाती है। ..... वर्णों की चारुता से लेकर शब्दों के रूप सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य का आकलन करते हुए कवि अपनी भाषा-प्रतिमा का निर्माण करता है जिससे अभिव्यंजना का संपूर्ण सौंदर्य प्रस्फुटित होता है[3]।" वाजपेयी जी के मत में काव्यभाषा का आदर्श रूप वह है जो कवि के वक्तव्य को उत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त कर सके तथा श्रेष्ठ कवि साहित्यिक भाषा और लोकभाषा के बीच के द्वन्द्व को पहचानकर अपने काव्य में दोनों प्रकार की भाषाओं के अतिवाद से विनिर्मुक्त एक शालीन भाषा का विन्यास करते हैं। होमर और वर्जिल, दांते, शेक्सपीयर, कालिदास आदि की भाषा को उन्होंने शिष्ट भाषा मान ली है। उनके विचार में किसी एक प्रकार की भाषा को आदर्श मानने से कविता की सीमाएँ संकीर्ण हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप काव्य की भावभूमि भी एक छोटे घेरे में समाप्त हो जाती है।

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.130
2. वही, पृ.131
3. कवि निराला, पृ.102

विभिन्न युगों की काव्यभाषाओं की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वाजपेयी जी इस विषय में यह निष्कर्ष निकालते हैं कि काव्यभाषा सामान्य भाषा से अधिक व्यापक, व्यंजक, चमत्कारपूर्ण और परिष्कृत होती है । वह सदा विषय और भाव का अनुसरण करती है । अतिशय कृत्रिमता, अतिशय सामान्यता दोनों काव्यभाषा में वर्जित है । उनके विचार में सरल, कठिन दोनों प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता काव्य भाषा में होनी चाहिए । शेक्सपीयर के शब्द-भण्डार को इस दृष्टि से वे अंग्रेज़ी के समस्त कवियों से विशालतर मानते हैं । विषयानुरूपता, विस्तार और वैविध्य उनकी भाषा के गुण माने गए हैं ।

छायावादी कवियों में निराला की काव्यभाषा में अनेक प्रकार की भिन्नताएं दर्शायी गयी हैं । प्रयोगों का बाहुल्य उन्हींमें अधिक दीखता है । अपने विचारों की स्पष्ट अभिव्यंजना के लिए प्रसाद प्रसाद निराला जैसे रचनात्मक प्रतिभा के कलाकारों द्वारा नियमभंग होना वे उनकी विद्रोही प्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल ही मानते हैं । कालिदास को वे प्रसाद की काव्य भाषा के आदर्श मानते हैं । कालिदास की सी प्रसन्न-परिष्कृत, सुगम सरल एवं अकृत्रिम भाषा का प्रयोग संपूर्ण प्रसाद-साहित्य में वे देखते हैं । वाजपेयी जी की राय में "सरल" और समासरहित भाषा को काव्योपयुक्त बनाना भाषा-संबंधी सबसे बडी साधना है । कृत्रिमता के सारे अवरोधों को दूर कर बोलचाल के समीप की भाषा को काव्यात्मक सौंदर्य प्रदान करना श्रेष्ठ प्रतिभा और अध्यवसाय द्वारा ही संभव है । ..... सरल और अकृत्रिम, भाषा का परिधान पहन कर कविता-कामिनी अधिक सुन्दर और सामाजिक बन जाती है ।[1]" प्रसाद की भाषा में ये सारे गुण वे पाते हैं भावों का सहज सौंदर्य, आत्मीयता, सहजता आदि से समन्वित प्रसाद की प्रसाद-गुण संपन्न भाषा में समरसता का तत्व भी समाविष्ट है जिसको

---

1. कवि निराला, पृ.87

वाजपेयी जी उनकी सराहनीय विशेषता मानते हैं । उनकी दृष्टि में वर्जित शब्दों का प्रयोग प्रसाद की अपेक्षा पंत की काव्य भाषा में अधिक हुआ है । पंत ने "सूक्ष्म और रोमांटिक" काव्य-भाषा का प्रतिमान अपनाया है । परिष्कृत होते हुए भी उसमें शब्द-राशि बहुत सीमित है जब कि प्रसाद ने हिन्दी की समग्र शब्दावली का आधार ग्रहण किया है । पश्चिमी प्रतिमानों को दृष्टि में रखते हुए अपनी भाषा का निर्माण करने के कारण, चमत्कृत एवं सौष्ठवपूर्ण होते हुए भी लोकसामान्यता का अभाव वे उसमें दर्शाते हैं । यद्यपि अपनी सौंदर्यान्वेषी दृष्टि से पंत ने भाषा को नये साँचे में ढालने में सफलता प्राप्त की है तो भी वाजपेयी जी उसे विविध भावस्थितियों के प्रकाशन के लिए अपर्याप्त ठहराते हैं ।

महादेवी वर्मा की काव्यभाषा की प्रवृत्ति वे प्रसाद की तरह की मानते हैं । प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर उनको सहज रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति उनमें उन्हें लक्षित होती है । देशज शब्दों का प्रयोग प्रसाद को अपेक्षा महादेवी में वे अधिक पाते हैं । निराला की भाषा पर वे जयदेव, रवीन्द्र, तुलसी आदि का प्रभाव दर्शाते हैं । सामासिक पदावली से युक्त संस्कृत बहुल भाषा की शैली पर जयदेव का प्रभाव, संस्कृत व हिन्दी के मणि-कांचन योग से युक्त सरल, प्रसादगुणयुक्त शैली पर तुलसी का प्रभाव, तथा संगीतात्मक ध्वनियों में रवीन्द्र का प्रभाव वे मानते हैं । उनके गेयपदों की भाषा में एक प्रकार की समरसता, मुक्त-छन्द के प्रगीतों में सामान्य गतिशीलता एवं प्रवाहमयता तथा छन्दबद्ध प्रगीतों में लोकभाषा के माधुर्य एवं चारुता समन्विता भाषा के दर्शन होते हैं। दीर्घ प्रगीतों में संस्कृतनिष्ठ सामान्य दोनों प्रकार का प्रयोग वे देखते हैं । तुलसीदास, राम की शक्तिपूजा जैसे आख्यानक काव्यों की भाषा को वाजपेयी जी ने निराला की काव्यभाषा का आयास साध्य-रूप मान लिया है । उसमें प्रयुक्त भाषा को उदात्त कहना उन्हें संगत नहीं लगता क्योंकि उनकी राय में [illegible] उदात्त भाषा का गुण नहीं है । पंचवटी-प्रसंग की भाषा में

आसपास की प्राकृतिक सुषमा भी प्रतिबिंबित हो जाती है । हास्य-व्यंग्य की कविताओं में भी मिश्रित उर्दू -मिश्रित चलती हुई भाषा का जो प्रयोग हुआ है उसे वाजपेयी जी ने निराला की मौलिक कल्पना मानी है । उनकी इस प्रकार की रचनाओं को भाषा की भूमिका पर वे अधिक अर्थपूर्ण मानते हैं । निराला-काव्य में भाषा की अव्यवस्था की शिकायत करनेवाले विद्वानों को बोधवान् बनाते हुए वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि निराला अनेक भाषा-प्रतिमानों के सर्जक है । उनके गीतों, प्रगीत रचनाओं वर्णनात्मक कृतियों, आख्यानक और हास्य-विनोद के प्रसंगों में भाषा के स्वतंत्र रूपों का विधान किया गया है । यह रूप-विधान अव्यवस्था नहीं है, वरन् यह कवि निराला की भाषा-विषयक वह अधिकार-साधना है जो हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है ।" उनकी भाषा में लक्षित दुरूहता का कारण वाजपेयी के अनुसार शब्दावली की क्लिष्टता न होकर उनकी संश्लेषण और संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति है । इस प्रवृत्ति याने कम से कम शब्दों में अधिकाधिक आशयों को समाविष्ट करने की प्रवृत्ति को वे कला की दृष्टि से काव्य का सर्वस्वीकृत लक्षण तथा भाषा की शक्ति की उन्नायक एक स्वागत योग्य विशेषता मानते हैं । हिन्दी को असंख्य नये शब्दों द्वारा समृद्ध बनाने में निराला का महत्वपूर्ण योगदान वे मानते हैं । विविध भाषा-प्रतिमानों को अपनानेवाले निराला की काव्यभाषा में बाहरी दृष्टि से अव्यवस्था और नियमहीनता के दर्शन होते हुए भी विषयानुरूप भावनिर्माण में निराला की शक्ति वे अप्रतिम स्थापित करते हैं । छन्दानुरूप भाषा का विन्यास, राग-रागिनियों का यथेष्ट ध्यान आदि ज़रूर वे प्रशंसनीय मानते हैं । उनके काव्यों में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त संस्कृत-हिन्दी मिश्रित भाषा, हिन्दी उर्दू मिश्रित भाषा, प्रयोगात्मक भाषा, विशुद्ध खड़ीबोली आदि का विवेचन करते हुए लेखक इस ओर भी इशारा करते हैं कि शब्द-संगीत पर अधिक ध्यान देने के कारण कहीं-कहीं कविता के अर्थ-पक्ष की उपेक्षा हो

गयी है । "यौवन मद की बाढ नदी की, किसे देख झुकती है" वाली पंक्ति में नदी की बाढ का "झुकना" प्रयोग भाषा की दृष्टि से वे असंगत मानते हैं । उसी प्रकार "संध्या सुन्दरी" के "सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा" में सिर्फ शब्द उनकी दृष्टि में भावानुरूप नहीं है । हे मेरे अभिनन्दन वन्दन, हे मेरे क्रन्दन आदि प्रयोगों को भी वे शब्दार्थ की दृष्टि से समीचीन नहीं मानते । अंत में वे इस निर्णय पर पहुंचते हैंकि ऐसे असंगत प्रयोग केवल निराला के ही दोष नहीं है, संपूर्ण स्वच्छन्दतावादी काव्य की भाषा-योजना में सदैव शब्दार्थ का सटीक प्रयोग नहीं हुआ, यह इसकाव्यधारा की एक मूलभूत कमज़ोरी है[1] ।"

शैली

भाषा, शैली दोनों के विवेचन में यह बात स्पष्ट होती है कि वाजपेयी जी शब्दों को ही अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं । उनके विचार में "कला-विवेचन में शैली वह संपूर्ण संघटना है जो काव्य को कवि व्यक्तित्व के माध्यम से एक स्वतंत्र और समग्र सौंदर्य प्रदान करती है[2] ।" वे उसे कवि के व्यक्तित्व और उसकी सर्जना-शक्ति का संपूर्ण प्रतिबिंब मानते हैं इसे काव्य का बहिरंग पक्ष ही माना जाता है । किंतु वाजपेयी जी काव्य के इन अंतरंग-बहिरंग जैसे भेदों के भ्रम में नहीं पडना चाहते । उनकी दृष्टि में "काव्य में बहिरंग और अंतरंग का भेद नहीं है । सार्थक सुप्रयुक्त शब्द, यथायोग्य छन्द ये सब भावों के अभिन्न अंग हैं । बाह्य और अंतरंग यहाँ कुछ नहीं । भावों को स्वरूप देनेवाले शब्द ही काव्य में सब कुछ हैं अन्यथा भावों की सत्ता ही कहाँ रहती[3] ? शैली-प्रयोग में वे रचयिता की पूर्ण

---

1. कवि निराला, पृ.98
2. वही, पृ.104

स्वतंत्रता के समर्थक हैं । रचयिता के लिए अपनी-अपनी रुचि एवं क्षमता के अनुसार कोई भी शैली ग्रहण करने की स्वतंत्रता वे चाहते हैं । "शैली से उनका आशय भावात्मक, विनोदात्मक, व्यंग्यात्मक अथवा मधुर, प्रासादिक और ओजस्वी आदि उज्ज्वल शैलियों से है । किसी लेखक को किसी न किसी विशेष शैली के प्रयोग के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता । अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुसार वह एक या अनेक शैलियों को ग्रहण कर सकता है । कवि को उसकी गृहीत शैली की भूमिका पर ही परखना समीक्षक का कर्तव्य हो जाता है ।"[1]

वाजपेयी जी के मत में युगीन प्रवृत्तियाँ ही शैली-भेद का मुख्य आधार है । "विभिन्न युगों में कवियों की अनुभूति और कल्पना नए-नए काव्य-रूपों और काव्य-शैलियों की सृष्टि करती रहती है । साहित्य के इतिहास में अनुभूति की क्षीणता के युग भी आए हैं और उसकी सफलता के भी । अनुभूति में कभी-कभी बाह्य-जगत् के स्वरूपों का ग्रहण अधिक तीव्रता और मनोयोग से हुआ है और अनेक अवसरों पर कवियों की अंतरात्मा का उल्लास ही अधिक प्रखरता के साथ फूट निकला है । शैलियों की भिन्नता का कारण यही भिन्न प्रवृत्तियाँ है ।"[2] वे बुद्धि-ग्राह्य शैली की अपेक्षा प्रत्यक्ष शैली को अधिक मार्मिक मानते हैं । काव्य की शैली ज़बर्दस्ती से हम पर अधिकार करती है और इस प्रकार हमें उनसे अपना निकटतम संपर्क स्थापित करा देती है[3] ।" वाजपेयी जी अनावश्यक ऐश्वर्य या अलंकार के उपासक नहीं है । परिश्रम-साध्य, ऐश्वर्यशालिनी एवं असाधारण अलंकृति की अपेक्षा सर्वजनसुलभ, सरल, नई, स्पष्टतर शैलियाँ उन्हें अधिक भाती हैं । महादेवी की कविता के विषय में उनकी यही राय है कि "जैसे बाहरी

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.6
2. वही, पृ.147
3. महाकवि सूरदास, प.130

प्रकाशन में, वैसे ही भीतरी विन्यास में भी महादेवी जी की कृतियाँ ऐश्वर्यशालिनी और परिश्रम-साध्य हैं । सर्वजन सुलभ वे कभी नहीं नहीं[1] ।"

गुप्तजी की कविताओं में निराला या प्रसाद की अपेक्षा स्थूलता एवं उपदेशात्मकता के अधिक दर्शन होते हुए भी उनकी रचनाओं में आद्यंत व्याप्त सरलता एवं स्पष्टता की वे प्रशंसा करते हैं । गुप्त जी की काव्य-साधना पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं - "सरल अभिव्यक्ति उनकी सबसे प्रथम और सबसे प्रधान विशेषता है । यही उस व्यापक प्रभाव का उद्गम है, जो गुप्तजी की काव्यधारा में सर्वत्र देखे पड़ता है, यह कविता को लोक-सामान्य भावभूमि में लाकर प्रतिष्ठित करने का सबसे बडा साधन है । यही सरलता सारग्रहण में सबसे अधिक समर्थ होती है, इसी केन्द्र से महती शक्ति की सृष्टि होती है और नवीन काव्य-युगों का निर्माण होता है[2] ।"

रमणीयता का थोडा अभाव, भाषा के विषय के कुछ अनियमित होते हुए भी द्विवेदी जी की शैली को इस अर्थ में अवश्य महत्वपूर्ण मानते हैं कि उनके आरंभिक पद्यों में स्वच्छ सपाट शैली अवश्य प्रयुक्त हुई है जिसमें संस्कृत का-सा दूरान्वय दोष या उस तरह की अर्थ-क्लिष्टता नहीं है । मस्तिष्क लडाकर अर्थ निकालने का झगडा हमें नहीं करना पड़ता[3] ।"

भावना के अधिक अलंकृत रूप की अपेक्षा उसके अधिक सच्चे, अनलंकृत रूप को ही वाजपेयी जी महत्व देते हैं । रत्नाकर के काव्य के छन्दों की चर्चा करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि अद्भुतीय चमत्कार की सृष्टि कर सुधी संचार करनेवाली श्रमलभ्य कला-शैली काव्य का चरम लाभ नहीं है । मध्यम श्रेणी के सौंदर्यप्रिय कवि वास्तविक काव्य-भावना के अभाव की पूर्ति करने तथा अपना उत्कर्ष साधन करने केलिए ही इस शैली का प्रयोग करते हैं[4] ।"

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.सं., पृ.25
2. वही, पृ.68
3. वही, पृ.42
4. वही, पृ.65

इस प्रकार वाजपेयी जी की शैली-विषयक मान्यताओं से स्पष्ट होता है कि वे क्लिष्ट, दुरूह-अलंकृत शैली से बढकर सीधी, सरल, स्पष्ट एवं स्वच्छ शैली के हिमायती हैं । यद्यपि ऐश्वर्य एवं असाधारण चमत्कार से युक्त शैली साहित्यिक इतिहास में स्थायित्व प्राप्त करने की दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान है तथापि वाजपेयी जी को पुरानी प्रणालियों से मुक्त, स्वच्छन्द, सरल शैली ही अधिक भाती है । अल्पसंख्य की प्रतिनिधि रहनेवाली कला की अपेक्षा सभी प्रकार के पाठकों के लिए सहज संवेद्य स्पष्टतर एवं नूतन शैली का ही वे आग्रह करते हैं जो वर्तमान जगत् एवं उसकी परिस्थितियों से गहरा संबंध रखती हो । ऐसी सूक्ष्म एवं व्यापक शैली ही प्रभावोत्पादक रहेगी, यही उनका विश्वास है ।

छन्द

छन्दों की चर्चा वाजपेयी ने बहुत कम स्थानों पर की है । अभिव्यंजना की प्रणाली पर ध्यान देते हुए भी काव्य-वस्तु को ही अधिक महत्व दिए जाने से उनकी दृष्टि सदैव प्रमुख रूप से प्रतिपाद्य विषय पर ही अधिक रही है । इसका अर्थ यह नहीं है कि अभिव्यक्ति-कुशलता का आकलन उन्होंने किया ही नहीं । प्रसंगानुसार उस पर भी प्रकाश डाला गया है । स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति वाजपेयी जी भी कविता-कामिनी को छन्दों के कठघरे से मुक्त करने के पक्षपाती हैं । काव्य और छन्द को दो पृथक् तत्वों के रूप में वे नहीं मानते । और इसलिए उनकी स्वतंत्र सत्ता भी उन्हें अमान्य है । भावपक्ष एवं शैली-पक्ष के नाम से काव्य के विभाजन और विवेचन को भी अनावश्यक मानते है । कारण यह है कि "नयी काव्य-रूढियाँ उत्पन्न हो जाती है और क्रमशः छन्द वह कठघरा बन जाता है जिसमें कविता-कामिनी बन्दिनी हो जाती है ।" और इसी परवशता से उसे मुक्त कर खुली हवा में स्वच्छन्द विचरण करने देने का श्रेय वाजपेयी निराला को देते हैं । जिस प्रकार युगीन प्रवृत्तियों के अनुकूल शैलियों में भेद हुआ करता

उसी प्रकार छन्द भी युगानुकूल परिवर्तित होता रहता है । निराला के मुक्त-छन्द का स्वागत करते हुए वे बताते हैं "पुरानी कोठियों और महलों से (जो दूसरे वातावरण में बने ले) बाहर निकल आना भी कभी क्रांति कहला सकता है, और नये आवास बनाकर रहना भी नये वातावरण का निर्माण करना कहा जा सकता है । ठीक यही बात निराला के मुक्त छन्द और उनकी छन्दात्मक रचनाओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है।[1]" निराला-काव्य में उनके मुक्त-छन्द के प्रयोग से जो स्वच्छता, प्रवाह एवं गांभीर्य के दर्शन होते हैं उन्हें वे बिलकुल अनुपम मानते हैं । वाजपेयी जी की स्वच्छन्द दृष्टि निराला के स्वच्छन्द प्रयोगों का महत्व पहचानने में देर नहीं करती । भाषा-प्रयोग-विषयक उनकी स्वतंत्रता की ओर दृष्टिपात करते हुए वे लिखते हैं - "मुक्त-छन्द के कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसकी कविता में सुकुमार प्रसाधन, कल्पना की बारीकी और अनावश्यक आभरण या अलंकार नहीं । कहीं लटें बिखरी हों, कहीं खुली धूप में मुंह तमतमाया हो । स्वच्छन्दता का जो अबाध स्वरूप निराला जी की रचनाओं में देखा जाता है, उसकी तुलना इस युग के किसी दूसरे कवि से नहीं हो सकती[2] ।"

रत्नाकर की कविता की विवेचना में यह बात स्पष्ट हुई है कि छन्दयुक्त रचना में पद-पद पर गहन संगीत की ध्वनि प्रकट होती रहेगी । छन्दों का जो सौंदर्य है उसका कारण शब्दों का ही सौंदर्य नहीं है, बल्कि घटनाजन्य सौंदर्य की पंक्ति-पंक्ति को एक से दूसरी की सन्निधि की, और उस सन्निधि में सन्निहित संगीत की बात है[3] ।" किसी भी रचना में प्रयुक्त छन्दों की बहुलता के आधार पर न होकर उसमें अभिव्यंजित भावों की

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.29
2. कवि निराला, पृ.170
3. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.65

तीव्रता के आधार पर ही वाजपेयी जी उस रचना का मूल्यांकन करते हैं। बहुलता में भावानुकूलता भी वे आवश्यक समझते हैं। भावानुकूलता से उनका तात्पर्य केवल भावना की क्षिप्र दीर्घ गति से नहीं, उस संपूर्ण वातावरण से है जिसे उपस्थित करने में छंद की शक्ति लगनी चाहिए। केवल छंद की चमत्कृत गति से ही कविता द्युतिमती हो उठती है। भावना का प्रसार अथवा पौरुष प्रदर्शित करने में कविता छन्द बहुत ही उपयोगी है। गहरी अंतर्दृष्टि के धनी कवि ही इसका प्रयोग कर सकता है। इसकेलिए मुक्तछंद का प्रयोग और भी सफलता से किया जा सकता है।

छन्दों की कारीगरी और संगीतात्मकता रत्नाकर में विशेषत: उनके कवित्त में आकर्षक ढंग से प्रकट होती है। भाषा-सौंदर्य, संगीत और छन्द-संघटन में वाजपेयी जी उन्हें बेजोड मानते हैं। भाषा-चमत्कार और छंदों की रमणीयता स्थापित करने में इनकी कुशलता वे निश्चय ही सराहनीय स्थापित करते हैं।

हम देखते हैं कि छन्दों के संबंध में वाजपेयी जी की यही मान्यता है कि उनका एक स्वतंत्र दृढ अस्तित्व हुआ करता है और वे भावानुकूल परिवर्तन प्राप्त करने में समर्थ भी हैं। मुक्त छन्द को वे सभी दृष्टियों से श्लाघनीय स्थापित करते हैं।

अलंकार

अलंकार का, काव्य में अनावश्यक महत्व वाजपेयी जी नहीं मानते। उन्होंने उसे काव्य के लिए अहितकर ही माना है। रसवादियों का अलंकारविरोध वे वास्तविक नहीं मानते। भविष्य के साहित्य में अलंकारों की प्रधानता कम करने का आग्रह करते हुए वे कभी कभी कल्पना करते हैं कि

साहित्य के परमोच्च स्तर पर पहुँचकर अलंकारों को छोड देना पडेगा । "अलंकार को वे काव्य-साधना की पहली सीढी मानते हैं । उनके मत में मूर्तिपूजा की भाँति अलंकार भी चरमसाधना नहीं, चरम सिद्धि तो है ही नहीं ।[1]" कविता को उसकी सहज प्रकृति में किसी प्रकार के अनावश्यक आभरण या अलंकार के बिना प्रस्तुत करना ही उनके लिए अभीष्ट है । इसीलिए वे विश्वास करते हैं कि "कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलंकार-विहीन हो जाती है, वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है । उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे संप्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं[2]।" संसार के महान रचनाकारों की ओर संकेत करते हुए वे स्थापित करते हैंकि "उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही काम करते हैं जो दूध में पानी । उनसे कविता फीकी पड़ जाती है, वह अपनी सत्यस्वरूप खोकर नकली आवरण धारण करती है और अनेक प्रकार से पतित होती है[3]।"

वाजपेयी जी ने जहाँ एक ओर रसवादियों के अलौकिकता विषयक विचारों का परिष्कार किया है वहीं दूसरी ओर अति अलंकरण की प्रवृत्ति का विरोध भी किया है । किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि विरोध करने की उनकी प्रवृत्ति रही है । उन्होंने विरोध वहीं प्रकट किया है जहाँ साहित्य के शुद्ध स्वरूप की प्रगति को आघात पहुँचता है । काव्य-मतों की जर्जर रूढ़ियों का विरोध करके उनके स्वस्थ, स्पष्ट एवं उपयोगी रूप की प्रतिष्ठा करना ही उनके सभी विचारों का मूल उद्देश्य रहा है । अलंकार-संप्रदाय का रूढ या ह्रासोन्मुख रूप उन्हें कभी हेय नहीं, किन्तु उसके उपयोगी रूप को उन्होंने भी स्वीकार किया है ।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.103
2. वही, पृ.103
3. वही, पृ.104

निष्कर्ष

वाजपेयी जी के साहित्य-तत्व-विश्लेषण से संबद्ध इस अध्याय में यह बात स्पष्ट की गयी है कि साहित्य-सिद्धांतों के विषय में उनकी जानकारी काफी व्यापक थी । रस-सिद्धांत, ध्वनिमत एवं अभिव्यंजनावाद विषयक उनकी उपपत्तियाँ यही सिद्ध करती हैं कि उनका दृष्टिकोण भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधाराओं के मूल्यवान अंशों से ओत: प्रोत था । समन्वयात्मकता उनकी उल्लेखनीय विशेषता थी । अनुभूति, कल्पना, अलंकार एवं छन्दविषयक उनकी मान्यताएँ तथा उन मान्यताओं पर अधिष्ठित उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में उनकी स्वच्छन्द दृष्टि स्पष्ट झलकती है । सैद्धांतिक समीक्षा-क्षेत्र में यद्यपि उनकी उपलब्धियाँ सीमित हैं, फिर भी उनकी समस्त स्थापनाएं नए चिंतन के उत्कृष्ट दृष्टान्त हैं जिनसे वे नए समीक्षाशास्त्र की पीठिका प्रस्तुत कर पाए हैं ।

तीसरा अध्याय

साहित्य-रूप : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलू

साहित्य-रूप : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलू

काव्य

वाजपेयी जी यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से कला का वर्गीकरण असंभव मानते हैं तो भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने काव्य के विविध भेदों को स्वीकार किया है । भारतीय साहित्यशास्त्र की कई मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी सभी उपपत्तियाँ उन्हें मान्य नहीं हैं । काव्य को वे अखण्ड व्यापार मानते हैं । उनका यह विचार मौलिक तो नहीं है, भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों सिद्धांतों में काव्य की अखण्ड सत्ता स्वीकार की गयी है । पश्चिम में जहाँ कल्पना को अधिक महत्व दिया गया है वहाँ भारतीय विचारधारा में अनुभूति या भावात्मकता के प्रति अधिक आस्था प्रकट की गयी है । दोनों सिद्धांतों की तुलना करते हुए वे लिखते हैं -

"पश्चिम के विचारानुसार काव्य एक अखण्ड व्यापार है जिसमें साध्य और साधन, विषय और विषयी, वस्तु-चित्रण और भाव-निरूपण पृथक्-पृथक् नहीं होते । एक ही कल्पना व्यापार समस्त काव्य में व्याप्त होता है । वही किसी कृति को काव्यत्व देता है । भारतीय विचारधारा के अनुसार काव्य की भावसत्ता ही उसकी आत्मा होती है, वस्तु-वर्णन और चरित्र-निरूपण भी भावानुयायी ही होते हैं । इस प्रकार भारतीय दृष्टि अनुभूति पर आश्रित है तो पश्चिमी दृष्टि कल्पना या सौन्दर्य का अधिक आग्रह करती है ।[1]" स्पष्ट है, वाजपेयी जी की विचारधारा में इन दोनों तत्वों का समन्वय हो गया है । अनुभूति एवं सौंदर्य दोनों को काव्य में वे यथोचित महत्व देते हैं । काव्य में रस का महत्व स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि 'जिन स्थलों पर विभावादि से रस की व्यंजना बिना किसी व्यवधान के होती है, वे रस-ध्वनि कहलाते हैं और उनमें श्रेष्ठ काव्यत्व माना जाता है । वाजपेयी जी की समीक्षाओं में सर्वत्र एक बात यह दृष्टिगत होती है कि काव्य-दृष्टि की ही उनमें प्रमुखता रही है ।

वाजपेयी जी के विचार में कविता का वास्तविक तथ्य-निरूपण करने का एकमात्र उपाय नवीन एवं स्वतंत्र बुद्धि से साहित्यिक मनोविज्ञान का अनुशीलन है । सूरदास की स्वच्छ भक्ति-भावना का मूल्यांकन वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करते हैं । उनके काव्य में वे एक साथ ही श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी, अत्यंत मनोरम रूप और भाव-सृष्टि इन तीनों विशेषताओं के दर्शन करते हैं । स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन, घटनाक्रम का आभास साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य की परिपूर्ण झलक वे केवल सूरदास में ही देखते हैं । मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर ही कथा के विकास के सम्मिश्रण में वे सूरदास को सर्वाधिक सफल

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ. 124

स्थापित करते हैं । कृष्ण के संपूर्ण बाल-चरित पर मुग्ध होने के कारण वे सूर को मुक्तक गीतों के अंतर्गत सारे कथासूत्र की रक्षा करने में समर्थ मानते हैं ।

स्वाभाविकता में अलौकिकता का विन्यास सूरदास की मुख्य साधना होते हुए भी इस साधना में कहीं-कहीं कवि की असफलता की ओर लेखक ने इशारा किया है । उन की दृष्टि में कोरी और स्थूल श्रृंगारिकता के कारण कुछ स्थलों पर उनका रहस्यात्मक पक्ष नीचे दब गया है । इन स्थलों में वे सूरदास के काव्य की आंशिक सफलता ही मानते हैं क्योंकि सफलता के स्थल असफलता से कहीं अधिक हैं । काव्य-चरित्रों में शील - शक्ति-सौंदर्य को अनिवार्य मानने की शुक्लजी की जो धारणा है उसे वाजपेयी जी भ्रामक मानते हैं । उनका दृष्टिकोण इससे भिन्न है । उनकी दृष्टि में यह भ्रांति कला की विवेचना में अत्यधिक बाधक हुई है । शक्ति-शील सौंदर्य के महत्व का वे निषेध नहीं करते, वरन् रस विशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना ही उनके मत में काव्य का लक्ष्य है । इस लक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पड़ता है । उनके विचार में कलाएँ रूपवती होने के साथ ही अरूप की भी अभिव्यक्ति कर सकती हैं । भारतीय विचारधारा में इस प्रवृत्ति की प्रधानता दर्शाते हुए वे बताते हैं कि जो ब्रह्म रूप और अरूप दोनों के ऊपर अनिर्वचनीय है उसका भी कविता की प्रणाली से निर्वचन करने की चेष्टा यहाँ बहुत समय से की जा रही है । भारत की भावनाधारा इतनी अधिक रहस्यमयी है कि कृष्ण का अवतार रूप में न केवल सगुण भगवान की वरन् सगुण-निर्गुण के ऊपर जो परात्पर परब्रह्म है उनकी लीला भी हुई है । अवश्य ही यदि कृष्णकाव्य से कृष्ण के भक्तों की तृप्ति होती है, तो तभी होती है, जब उस काव्य में रूप की ही नहीं,

रूप अरूप दोनों की और दोनों के परे जो तत्व है, उसकी भी व्यंजना होती है[1]।"

सूर के काव्य वाजपेयी जी उत्तम कविता के गुणों से विभूषित एवं साहित्य-कला का परिष्कार करने में समर्थ घोषित करते हैं। सूर की अनन्य तन्मयता तथा मधुर भाव की उपासना को वे कविता की श्रेष्ठ विभूति मानते हैं। सूर का सबसे बडा शुभ कार्य वाजपेयी जी की दृष्टि में यह है कि उन्होंने सीमा के स्थान पर निस्सीम सौंदर्य की झलक दिखाकर हमारे साहित्यशास्त्र की आँखें खोल दीं। काव्य और कलाओं के क्षेत्र में सूर के प्रयोगों को उत्तमोत्तम मानते हुए वाजपेयी जी कहते हैं कि जब सूर ने अपनी तूलिका उठाई, उन्होंने विनय के पदों में "सूरसागर" की भक्तिमयी आधारभूमि विशेष चमत्कार के साथ तैयार की और उस पर कृष्ण की श्रृंगारमयी मूर्ति अपनी संपूर्ण श्री-शोभा के साथ अंकित की। चित्रकला के ये रंग हिन्दी में सूर द्वारा आविष्कृत है, इन पर सूर की छाप लगी है, इस छाप से वे पहचाने जाते हैं[2]।" कला के श्रेष्ठ गुणों का निर्वाह करने में वाजपेयी जी सूरदास को सर्वथा सफल मानते हैं। उनके विचार में कला की सार्थकता, उसका तत्व पारदर्शी जनों को प्राप्त होने के साथ ही उसका सामान्य आनन्द सर्वसुलभ बन जाने में है। सूरदास में वे यह गुण देखते हैं। सूरदास की सफलता वे इसी में मानते हैं कि आदि के विनय के पदों में भगवान के महत्व का संकेत है तो बाद में उन्हीं कृष्ण रूप की प्रतिमा बुद्धि और हृदय को स्पृहणीय बन जाती है। वे बताते हैं कि यद्यपि कृष्ण की लोक-लीलाओं में अद्भुत और अलौकिक का मिश्रण अरुचिकर लगता है और "सर्वम् कृष्णमयम् जगत्" की भावना से हम सूर के काव्य से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकते तो भी सूर के बाल-वर्णन में

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.83-84
2. वही, पृ.88

बालक की क्रीडा का रस ले सकते हैं तथा व्रज मण्डल के रास-रसिक, क्रीडाकार कृष्ण और मथुरा के कर्तव्य-परायण, अनंत-विरही कृष्ण की तुलना करके कवि की विस्तारमयी भावना पर मुग्ध हो सकते हैं । वाजपेयी जी की दृष्टि में काव्य और कलाएँ जितना कुछ हमारी भावनाओं का मार्जन और प्रक्षालन कर सकती है सूर का काव्य उससे किसी अंश में कम नहीं करता । वे सूर के काव्य में तल्लीनता और व्यापक सौंदर्य भावना के दर्शन करते हैं । इसके अतिरिक्त सूर के काव्य में जो अलौकिक अध्यात्म है वह अधिकारियों केलिए सदैव सुरक्षित है ।[1]"

नव नव प्राकृतिक चित्रणों से बढ़कर भावना का विस्तार करके उसे कृष्णमय बनाने में संलग्न सूरदास के कवि कर्म की सराहना करते हुए वाजपेयीजी प्रमाणित करते हैं कि सदैव एक आश्चर्यजनक ऊँचे स्तर पर एक अलौकिक मन-स्थिति बनाकर भावनाओं के क्षेत्र में विचरण करनेवाले सूरदास जैसे कवियों को सामान्य समीक्षाकार ठीक-ठीक नहीं समझ सकते । वे पूछते हैं कि "एक परम रमणीय, अपरिचित सी परिस्थिति की सृष्टि करके उसमें अद्वैत भाव से आत्मा को रमा देना जिनके कवि-कर्म का बाना था, वे लोक-चित्रण की क्या चिंता करते ? वाजपेयी जी का कथन है कि कोरी कविता से बढकर आत्मा की भूख मिटाने में संलग्न सूरदास की कविता में लोक-चित्रण की खोज करने की ज़रूरत नहीं । केवल यही देखना है कि वे कवि-कर्म कहाँ तक निभा सके । कवि का कर्म है, अनुभूतियों की अभिव्यक्ति । निरी अनुभूति नहीं, अनुभवों से ग्रस्त अनुभूति । सूर जैसे भक्त के लिए अनुभूति और अनुभव दोनों कृष्ण की उपासना से संबद्ध रहे । इसलिए अपनी आत्मा को, कृष्ण के रंग में रंगी हुई आत्मा को अभिव्यक्ति देने में वे कहाँ तक सफल हुए, यही देखना है । जब हम इस की जाँच करते हैं

---

1. महाकवि सूरदास, पृ.89

तो स्पष्ट होता है कि सूर अपने क्षेत्र में सूर ही रहे, पूरी ईमानदारी से वे अपना दायित्व पूरा कर सके । इसी आधार पर वाजपेयी जी बताते हैं कि प्रबंध में तुलसी ने जिन बातों को वाणी दी वे ही बातें सूर द्वारा मुक्तक में प्रस्तुत की गई ।

वाजपेयी जी के विचार में "लोक-जीवन, सांस्कृतिक चेतना दोनों का सामंजस्य जिस कवि में जितना अधिक होगा उसकी कविता उतनी उत्कृष्ट मानी जाएगी । काव्य में सामूहिक संस्कृति के उन्नयन का लक्ष्य आवश्यक है । ऐसे आदर्शों की योजना जो कविता को जन-समाज की वस्तु मानकर सामूहिक जीवन और सामाजिक संस्कृति को केन्द्र में रखकर उसका उन्नयन करनेवाली अभिलाषा और शक्ति रखती हो, सच्ची काव्य-योजना है[1] इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए वाजपेयी जी ने निराला के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का आकलन किया है । मानव संस्कृति का उच्च आदर्श, लोक-जीवन का व्यापक परिचय एवं अनुभव दोनों निराला के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग रहे हैं । अपने जीवन में मानसिक चेतना पर गहरा आघात पहुंचानेवाली कई घटनाओं का यद्यपि उन्हें सामना करना पड़ा तो भी कभी वे चंचल नहीं हुए, अडिग आस्था एवं अदम्य साहस उनके पथ-प्रदर्शक रहे । इस ओर संकेत करते हुए वाजपेयी जी बताते हैं - "निराला जी शुरू से अपना रास्ता निर्धारित करके चले थे और चलते रहे । वे अदम्य साहसी थे । उन्हें अपना रास्ता नहीं बदलना पडा । समस्त युगीन उत्तरदायित्वों को अपने व्यक्तित्व में समेटकर रख लेने की तैयारी उनके सिवा किसी अन्य आधुनिक कवि में नहीं पायी जाती । यह उनकी शक्ति का अजस्र स्रोत है ।"[2] निराला जी कृतियों का प्रमाण देकर

---

1. कवि निराला, पृ.194
2. वही, पृ.194

वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि वे जनता के वास्तविक जीवन के सर्वाधिक निकट रहे और सांस्कृतिक भूमि पर भी सुदृढ रहे । स्वच्छन्दतावादी चेतना का सहज स्वरूप उनमें दर्शाते हैं । जीवन से विच्छिन्नता उनके काव्य में वे कभी नहीं देखते । बाह्यजीवन की प्रतिरोधी प्रवृत्तियों का प्रभाव उनके काव्य में भी लक्षित है जिनके प्रभाव से एक ओर आत्मशक्ति का अमोघ असर अभिव्यजित करनेवाली "राम की शक्तिपूजा", "तुलसीदास" जैसी कृतियाँ प्रस्तुत की गयीं तो दूसरी ओर "कुकुरमुत्ता" जैसी व्यंग्यात्मक कविता भी लिखी गयी । यद्यपि इन व्यंग्यात्मक रचनाओं को कई लोग प्रगतिवादी कहते हैं तो भी वाजपेयी जी उनमें कोई वाद नहीं मानते । प्रगतिशील नए समाज के प्रति उनमें सहानुभूति अवश्य रही जिसके फलस्वरूप ही युग की सामाजिक विषमताओं एवं विकृतियों पर व्यंग्य करने में सफल हुए ।

महाकाव्य ---- साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, कुणाल, कृष्णायन

वाजपेयीजी ने महाकाव्य के तीन लक्षण माने हैं "प्रथम, रचना का प्रबन्धात्मक या सर्गबद्ध होना, द्वितीय उसकी शैली का गांभीर्य और तृतीय उसमें वर्णित विषय की व्यापकता और महत्व ।"[1] अन्य सभी विशेषताओं का, इन्हीं तीन गुणों में वे अंतर्भाव कर देते हैं । आचार्य शुक्ल जी के विचार भी इससे मिलते जुलते हैं । शुक्लजी के विचार में सम्बन्ध-निर्वाह, कथा के गंभीर एवं मार्मिक स्थलों की पहचान तथा दृश्यों की स्थानगत विशेषता प्रबन्धकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं[2] । वाजपेयी जी के मत में जीवन के अनेक स्वरूपों और उसकी अनेक स्थितियों को महाकाव्य में स्थान मिलता है । चरित्रों के विभिन्न आदर्श उसमें रहा करते हैं ।

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.105
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.210

महाकाव्य में स्वभावत: वस्तु चित्रण की प्रमुखता होती है । वस्तुओं का समारोहपूर्ण विशद वर्णन होने पर काव्य में एक औदात्य आ जाता है ।[1] वे मानते हैं कि महाकाव्य के साथ राष्ट्रीय उत्कर्ष का संस्कार जुड़ा रहता है उसमें युग की सर्वोच्च राष्ट्रीय चेतना तथा विकास की झलक मिलती है । उनकी दृष्टि में वह राष्ट्रीय जीवन और आदर्शों का प्रतिबिंब माना जा सकता है । काव्य में राष्ट्रीय जीवन के उत्साह देखने के इच्छुक होने के कारण वे वीर-चरित्र को महाकाव्य के लिए उपयुक्त एवं करुणापूर्ण चरित्र को अनुपयुक्त बताते हैं । प्रेमाख्यानों में महाकाव्योचित औदात्य वे नहीं मानते । क्योंकि उनके विचार में महाकाव्य की रचना जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह, सभ्यता के उद्गम, संगम, प्रलय, किसी महच्चरित के विराट् उत्कर्ष अथवा आत्मतत्व के किसी चिर अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने केलिए की जाती है । काव्य-रचना में परंपरागत मान्यताओं का ज्यों का त्यों समर्थन वे नहीं करते और न पूर्ण उपेक्षा भी । "साकेत" में कैकेई का पूर्ण परिवर्तन जो कवि ने अंकित किया है उसे वे भावनापूर्ण होते हुए भी महाकाव्य की उदात्त परंपरा के उपयुक्त नहीं मानते[2] । किंतु महाकाव्यों की चरित्र-संबंधी क्रमगत मान्यता में परिवर्तन स्वीकार भी किया है । राष्ट्र और युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति के स्मृति-चिह्न वे सर्वप्रथम गुप्त जी में ही पाते हैं । "मानस" के जैसे उच्च कोटि के चारित्र्य के दर्शन यद्यपि वे गुप्त-काव्य में नहीं करते तो भी उसमें लक्षित नैतिक मर्यादा और तज्जन्य आदर्शवाद को ज़रूर प्रशंसनीय मानते हैं । वाक्चातुरी का जो अपूर्व चमत्कार "साकेत" में दिखाया गया है उसे कवि की प्रतिभा का प्रमाण मानते हुए भी सर्वत्र यह चमत्कार महाकाव्योचित नहीं मानते । शास्त्रीय और ऐतिहासिक परंपरा-पालन तथा घटना-चक्र का अनावश्यक विस्तार भी "साकेत" के लिए हानिकर माना गया है ।

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.129
2. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी. प.82

जीवन की गहनता तक पहुँचने में गुप्तजी को वे पूर्णत: समर्थ नहीं मानते । फिर भी व्रजभाषा और पुरानी हिन्दी के स्थान पर खड़ीबोली का प्रयोग, मानव की ईश्वरता का निरूपण, राम और सीता के स्थान पर भरत और ऊर्मिला के जीवन-सूत्रों से कथा-तंतु का निर्माण, नये युग की मानव-महत्व की सामाजिक कल्पना, नये व्यक्तिवाद और समत्व का आदर्श महाकाव्य की वीररस प्रधान पद्धति की उपेक्षा धीरोदात्त नायक की गरिमा और उत्कर्ष के स्थान पर अधिक सरल और मनोरम मानवीय भावों की योजना आदि के आधार पर "साकेत" में आधुनिकता का समावेश वे पर्याप्त मात्रा में पाते हैं । साहित्य-जगत् में काव्य के सम्मान, हिन्दी के ऐतिहासिक विकास में उसकी देन एवं उसमें युग-चेतना के नवोन्मेष को देखते हुए वे उसे युग का प्रतिनिधि ग्रंथ न मानते हुए भी आधुनिक हिन्दी का युग-प्रवर्तक महाकाव्य मानना सर्वथा समीचीन समझते हैं । वे बताते हैं कि "साकेत" के द्वारा अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना-शक्तियों से संपुष्ट होकर हिन्दी का, खासकर खड़ीबोली का शब्द-भण्डार काफी बृहत्तर हो पाया है ।

प्रसाद-काव्य की समीक्षा में कृति के अंतरंग में प्रवेश कर उसकी आंतरिक विशिष्टताओं को पहचानने का प्रयास वाजपेयी जी में लक्षित होता है । उनके विचार में कोई भी कृति मात्र इस आधार पर महाकाव्यों की कोटि से बहिष्कृत नहीं की जानी चाहिए कि शास्त्रीय लक्षणों का पूरा निर्वाह उस कृति में नहीं हो पाता । युग का प्रतिनिधित्व कर, मानवता का महान सन्देश उपस्थित करने में जो कृति समर्थ निकलती है उसमें महाकाव्य के लिए अपेक्षित सभी गुण सहज रूप से समाविष्ट होते हैं । वाजपेयी जी ने युग की पीठिका पर रखकर "कामायनी" की परीक्षा की है । "कामायनी" छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों की चरम परिणति है जहाँ आकर एक प्रमुख साहित्यिक आन्दोलन के सहसा अवसान की सूचना मिलती है ।

छायावादी आन्दोलन की समस्त भावगत एवं शिल्पगत संभावनाएं इस प्रतिनिधि महाकाव्य में समग्र रूप से दृष्टिगत होती हैं । "कामायनी" के विरोध में उठी हुई समस्त युक्तियों का सशक्त उत्तर वाजपेयी जी ने दिया है । प्रसाद और उनकी काव्य-प्रवृत्तियों की सार्थकता सिद्ध करने के लिए जिन-जिन तर्कों का आधार ग्रहण किया जा सकता है उन सबको उन्होंने अकाट्य ढंग से प्रस्तुत किया है । अपनी संवेदनशील दृष्टि एवं सजग चिंतन-शक्ति से उन्होंने "कामायनी" का सम्यक् आकलन किया है । आचार्य जी कहते हैं कि प्रसाद जी ने भावुकता का विरोध किया, वास्तविवाद एवं वस्तुतंत्र का प्रवर्तन किया और दार्शनिक दृष्टि से निष्ठावान यथार्थवादी कवि रहे । वे बताते हैं कि आधुनिक युग की प्रतिनिधि रचना होने के कारण उन लोगों को इसका अनुशीलन करने में कठिनाई महसूस होगी जो आधुनिक युग की अनेकानेक जटिलताओं असंगतियों, विरोधाभासों एवं संघर्षों से अनभिज्ञ रहता हो । युगीन चेतना के चित्रण से ही कृति में जीवंतता आ जाती है । उनकी राय में मनु को आधुनिक युग का प्रतिनिधि चरित्र माना जा सकता है क्यों कि आधुनिक युग के मानव को जिन-जिन विकट परिस्थितियों से गुज़रना पड़ता है वे सब के सब मनु के जीवन में आ जाते हैं । मनु के माध्यम से मानवीय वृत्तियों का विश्लेषण "कामायनी" में मुख्य रूप से हुआ है । अहं पर आश्रित मनु के व्यक्तित्व पर दर्शन एवं मनोविज्ञान का प्रभाव रहता है । यद्यपि "कामायनी" के अंतिम चार सर्गों में दार्शनिक सिद्धांतों की बहुलता है तो भी मात्र उसी आधार पर उसे दार्शनिक कृति मानना उचित नहीं क्योंकि यह महाकाव्य कोरे दर्शन के प्रतिपादन तक सीमित नहीं है । भावों का जो सौष्ठव, कवि का जो महत्तर उद्देश्य इसके मूल में है वही इसे श्रेष्ठ काव्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । इसी ओर संकेत करते हुए वाजपेयी जी ने बताया है कि "काव्य का प्रयोजन भावानुभूति से प्रेरित होकर रस का उद्रेक करना है ।"[1]

---

1. जयशंकर प्रसाद, पृ.११

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समरसता सिद्धांत की प्रतिष्ठा और उसके द्वारा आनन्द प्राप्ति के महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कवि को अंतिम चार सर्गों में दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण अधिक करना पडा है । वाजपेयी जी ने सप्रमाण स्थापित किया है कि "कामायनी" मात्र शैव-दर्शन का काव्य नहीं, उनकी दार्शनिक उपपत्तियाँ जीवनानुभूति से अनुप्रेरित हैं ।

एक महान काव्य के लिए अपेक्षित तत्वों को ध्यान में रखकर ही वाजपेयी जी ने "कामायनी" के शिल्प-विधान का विवेचन किया है । आनन्दवाद की प्रतिष्ठा द्वारा संपूर्ण काव्य को सुखांत बनाने की प्रवृत्ति की वे बडी प्रशंसा करते है । आधुनिक युग के संदर्भ में ही आपने पूरे काव्य का आकलन किया है । इसलिए इसके महाकाव्यत्व में वे सन्देह नहीं प्रकट करते और उसके लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शिल्प पर भी ध्यान दिया है । "कामायणी" का जैसा विद्वत्तापूर्ण विवेचन वाजपेयी जी ने प्रस्तुत किया है उससे भारतीय साहित्यशास्त्र सम्बन्धी उनके व्यापक ज्ञान का परिचय मिलता है । इस विवेचन द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है कि मात्र लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर किसी भी कृति का मूल्यांकन उचित नहीं है । परंपरागत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी "कामायनी" को वे युग का प्रतिनिधि महाकाव्य घोषित करते हैं । कविता की आंतरिक विशिष्टताओं की दृष्टि से कामायनी को वे कालजयी कृति मानते हैं ।

दिनकर के "कुरुक्षेत्र" में युद्ध की समस्या पर विचार करते हुए वाजपेयी जी बताते हैं कि युद्ध केलिए युद्ध की वरेण्यता और शक्ति का निरपेक्ष गान आज की स्थिति में मानवतावादी या समाजवादी सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता । उनके विचार में "कुरुक्षेत्र" में युद्ध-सम्बन्धी आधुनिक वास्तविकता का यथेष्ट आकलन नहीं है, न उसमें युद्ध-विषयक नई समाजवादी दृष्टि का ही पूरा निरूपण है । गाँधीजी की अहिंसा-

प्रक्रिया की स्थापना भी वे कवि का लक्ष्य नहीं मानते । किन्तु उनकी राय में कवि की वीरदर्पपूर्ण उक्ति तथा तथ उनके शंकालु एवं निर्वेदपूर्ण हृदय की झांकी आधुनिक सामान्य मानव के हृदय का सच्चा स्वरूप उपस्थित करता है । वाजपेयी जी "कुरुक्षेत्र" को एक उत्कृष्ट कृति तो नहीं मानते, लेकिन न्याय और समता के लिए क्रांति करने का जो आह्वान कवि ने दिया है उसका वे सहर्ष स्वागत करते हैं । उनकी दृष्टि में प्राचीन और नवीन के मिश्रण से जो चीज़ बन सकती है, वह इस काव्य में बनी है । यदि इसमें पूरी नवीनता रहती तो कदाचित रचना अधिकांश सुसंपन्न होती यही उनका विचार है ।

"कुणाल" के रचयिता मोहनलाल द्विवेदी को वाजपेयी जी प्रचुर मौलिकता संपन्न, कवि-हृदय रसज्ञ तथा राष्ट्रीयता का अनन्यप्रेमी वीरोपासक कवि मानते हैं । हिन्दी में राष्ट्रीय महाकाव्य की कमी पूरा करने में उनका विशेष योगदान वे मानते हैं । "कुणाल" खण्डकाव्य की दृष्टि से एक सफल रचना मानी गयी है । इस काव्य जो नैतिक आधार है उसे वे तत्कालीन बौद्ध-प्रभावों के अनुकूल मानते हैं । फिर भी इस ओर संकेत किया गया है कि तत्कालीन जीवन के चित्रण में कवि और भी अधिक यथार्थता और विवरण में जा सकता था । प्रत्येक युग के साहित्य पर उस युग की सामाजिक प्रगतियों एवं सांस्कृतिक रुचियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और उनके अनुरूप ही साहित्य रचनाएँ भी होती है । इसे ध्यान में रखते हुए अंचल की रचनाओं का अनुशीलन हुआ है । रामेश्वर शुक्ल अंचल को नवीन हिन्दी काव्य का क्रांतिदूत मानते हुए वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि छायावाद की मानवीय किंतु अधिकांश अशरीरी सौंदर्य-कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा तथा छायावाद की सूक्ष्म उज्ज्वल मर्मस्पर्शिता के बदले अपनी जीवंत रंगीनी द्वारा उन्होंने क्रांति की है तथा नारी सौंदर्य की तृष्णा, व्यक्त रूप की लालसा एवं विनष्ट प्रेम की प्यास इस क्रांतिदूत का सन्देश है । "अपराजिता" में अभिव्यंजित अनुभूतियों को

अत्यंत व्यापक मानते हुए वे बताते हैं कि उसके अधिकांश पद्य बाहरन और माइकेल मधुसूदन दत्त की याद दिलानेवाले हैं । "मधूलिका"में चित्रित तृष्णा की प्रथम पुकार को वे नये युग की प्रतिध्वनि घोषित करते हैं । वे मानते हैं कि छायावाद के इतिहास में इसे छायावाद के एक श्रेणी आगे की सृष्टि सिद्ध करने केलिए छायावाद की निराकारता के स्थान पर साकारता की अभिवृद्धि तथा वैयक्तिक भावुकता के स्थान पर निस्संग वैज्ञानिकता का आगम होने के साथ ही चित्रणों में अधिकाधिक वस्तुमत्ता का सौंदर्य आना चाहिए और युग जीवन की प्राणमयी घटनाओं का यथार्थ संचय होना चाहिए ।

द्वारकाप्रसाद मिश्र के "कृष्णायन" की काव्यात्मक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए वाजपेयी जी ने बताया है कि भारतीय जीवन और उसकी सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक परंपरा को विशुद्ध भारतीय स्वरूप में उपस्थित करने के लिए "कृष्णायन" का निर्माण किया गया है । "कृष्णायन" के गीता काण्ड के रूप में प्रस्तुत गीता अनुवाद को वे बहुत उत्कृष्ट मानते हैं जहाँ कवि ने भारतीय धर्मयुद्ध की सुन्दर कल्पना कर युद्ध जैसे भौतिक कार्य को भी नैतिक और आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है । इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें युद्ध के अवसर पर पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप और विवाद द्वारा संघर्ष को मनोवैज्ञानिक उत्तेजना प्रदान की है । भीष्म-शिखंडी संवाद को इस दृष्टि से वे उल्लेखनीय मानते हैं । वाजपेयी जी के विचार में असुरनीति के स्थान पर आर्यनीति की प्रतिष्ठा द्वारा भारत-व्यापी राष्ट्रीयता का निर्माण कवि का नवीन सन्देश है ।

"कृष्णायन" के काव्यपक्ष को वे पर्याप्त पुष्ट मानते हैं । लेकिन नवीन काव्यधारा के तरल और क्षिप्र प्रवाह की तुलना में "कृष्णायन" की धीर, गंभीर गति को वे प्रचलित काव्य संस्कारों के

अनुकूल नहीं मानते । किसी भी रचना में रचयिता की व्यक्तिगत मनःस्थिति का योग वे आवश्यक मानते हैं । परंतु "कृष्णायन" में यह योग उनकी दृष्टि में नहीं के बराबर है । यही नहीं, उसकी भाषा, उसके आकार की विशालता तथा उसमें चित्रित विषय विषय की दूरवर्तिता समीक्षक केलिए परीक्षा की वस्तु बन जाती है । लेकिन राज्यतंत्रीय, सामाजिक और दार्शनिक भूमिकाओं में वे लेखक की नयी दृष्टि देख लेते हैं । उनके मत में राधाकृष्ण के प्रेम-प्रसंग का वर्णन "कृष्णायन" में चरित्र की वास्तविकता के आधार पर अंकित हुआ है । किंतु असुर-वध के अलौकिक और अतिरंजित प्रसंग को काव्य की गंभीर गति - विधि के अधिक अनुकूल नहीं मानते । द्वारकाकाण्ड की वस्तु-योजना, विमान यात्रा के प्रसंग में विविध भौगोलिक स्थानों का वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण और विमान यात्रा के अनुभवों का उल्लेख, द्रौपदी-स्वयंवर के आख्यान में वेदव्यास द्वारा कही गयी आर्यनीति का उल्लेख, अर्जुन और दुर्योधन के रण-निमंत्रण में लक्षित नाटकीयता, जयकांड का लंबा युद्ध वर्णन आदि को इस काव्य के रमणीक स्थल माने गये हैं । प्रबन्धकाव्य के लिए अपेक्षित अनेक विशेषताएँ वाजपेयी जी इस काव्य में पाते हैं । बालकृष्ण, द्वारकाधीश, कर्मयोगी, कृष्ण के इन तीनों जीवन-पक्षों को एक समन्वित प्रबंध काव्य के रूप में बाँधने का प्रयत्न, महाभारत के कथानक को द्वारका में घटित होनेवाली यदुवंशियों की कथा के साथ जोड़कर दोनों को समान समारोह के साथ आगेबढाने की कोशिश, यदुवंशियों की युद्ध-संबंधी तैयारियों में बलराम और सात्यकि के चरित्र को उजागर करने का कार्य, श्रीकृष्ण द्वारा यदुवंशियों की विशेषताओं के उद्घाटन में विकासोन्मुख जाति की त्रुटियों का सूक्ष्म परिचय, कौरव और पाण्डव के शिविरों में चलनेवाली सैनिक गतिविधि के प्रस्तुतीकरण में मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शिता का समावेश, ६ शांति, प्रीति और भक्ति का सामंजस्य उपस्थित करनेवाले धर्मयुद्ध की कल्पना - ये सारे के सारे प्रसंग कवि की प्रबन्धकला के प्रशंसनीय प्रमाण माने गये हैं । श्रीकृष्ण के मुखसे जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के

उद्घाटन में लेखक भारतीय जीवन-सौंदर्य के श्रेष्ठतम स्वरूप के दर्शन करते हैं । इस कांड को वे सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण मान लेते हैं । क्योंकि इसमें आर्य और अनार्य के जीवन-दर्शन के साथ व्यावहारिक जीवन-चर्या और आध्यात्मिकता का भी सामंजस्य दिखाई देता है ।

"कृष्णायन" के आरोहणकांड और "मानस" के उत्तरकाण्ड की तुलना में दोनों में कई प्रकार की समानताएँ वाजपेयी जी ने दर्शायी हैं । राजनीति और शासन व्यवस्था का अधिक व्यावहारिक और यथार्थ स्वरूप वे "कृष्णायन" में दर्शाते हैं । इसका कारण भी वे स्पष्ट करते हैं कि "गोस्वामी जी केलिए आध्यात्मिक साधना ही संपूर्ण जीवन-लक्ष्य थी । 'कृष्णायन' के कवि आध्यात्मिक साधना को श्रेष्ठता देते हुए भी समाज के यथार्थ स्वरूप और उसके कठोर सत्यों का विस्मरण नहीं करते । लौकिक और आध्यात्मिक आदर्श की समान प्रतिष्ठा कृष्णायन के कवि को अभीष्ट है जब कि मानसकार के लिए एकहिदर्मव्रतसाधन, मन-कर्म-तच-हरिपद आराधन का मंत्र ही पर्याप्त रहा है[1] ।"

प्रगीत काव्य

वाजपेयी जी गीतिकाव्य को सर्वाधिक व्यक्तिगत साहित्यिक विधा मानते हैं । छायावाद की प्रगीत-सृष्टि पर उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका विशेष महत्व है । श्रेष्ट गीत ऐसे होते हैं कि उनमें व्यक्ति का निजी अस्तित्व न रहकर समष्टि में उसका विलयन हो जाता है और कवि व्यक्तित्व के स्वतंत्र विषय नहीं रह पाते । गीतों में रसोद्रेक की क्षमता तभी आती है जब उसकी एक सामाजिक भूमि रहती है । सूरदास के गीतों पर विचार करते हुए वाजपेयी जी ने गीतों के दो प्रकारों का प्रतिपादन किया है - मुक्तक गीत और कथाश्रित गीत[2] । नये प्रगीत-रूपों की विवेचना में

---

1. ~~कृष्णायन, पृ.168~~ आधुनिक साहित्य : पृ.168
2. महाकवि सूरदास, पृ.144

उन्होंने प्रगीत-मुक्तकों का स्वरूप स्पष्टत: उपस्थित किया है । वाजपेयी जी के पूर्व तक प्रगीतों की रचना अधिक होती नहीं थी और होती तो भी उनका महत्व समझने की चेष्टा किसी ने नहीं की थी । जीवन के अनेकानेक रूपों और मानव-संबंधों के चित्रण और विवेचन होने की वजह से प्रबन्ध काव्य को काव्य दृष्टि से अधिक प्रशस्त या समुन्नत साहित्यिक सृष्टि माना जाता था । इस दृष्टि से वाजपेयी जी का कार्य विशेष महत्वपूर्ण है कि उन्होंने सच्ची कलात्मक दृष्टि से प्रबंध काव्य एवं मुक्तक काव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए प्रगीत की अपनी विशिष्टताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया । उन्होंने सहर्ष उसका स्वागत किया क्योंकि "भावना को व्यापक बनाने के साथ ही कवियों को "सीधी राजनीतिक प्रेरणा" से छुटकारा पाने में ये गीत काफी सहायक हुए[1] । प्रगीत काव्य का महत्व इस कारण से है कि "उसमें कवि-भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिए स्थान नहीं रहता । प्रगीत में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रति-बिंबित होता है । वह कवि की सच्ची आत्माभिव्यंजना, कवि के अंतस्तल का उद्घाटन होता है । प्रगीत-रचना में कविता उन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भावप्रतिमा बनकर आती है । संगीत के स्वरों की भाँति प्रगीत के शब्द ही अपनी भावना इकाइयों से कविता का निर्माण करते हैं[2] ।" इस विवेचन से प्रगीत की विशेषताएँ स्पष्ट होने के साथ ही उन विशेषताओं के उद्घाटक वाजपेयी की सूक्ष्म, गहरी, विश्लेषण-पटु अंतर्दृष्टि का भी परिचय होता है । प्रबन्धकाव्य एवं प्रगीतकाव्य की तुलना करते हुए वे बताते हैं कि "प्रबन्ध काव्य कविता का आवृत और अच्छादित रूप है । प्रगीति काव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है । प्रबन्धकाव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बिले आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत-रचना

---

1. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ.23
2. वही, पृ.24

उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल घूँट-घूँट पी सकतेहैं।[1]"
नये युग का काव्य-प्रतीक बनने की पूरी क्षमता प्रगीत में दर्शाते हुए वे बताते हैं - "प्रगीत-काव्य में शब्द और अर्थ, लय और छन्द तथा रूप और वस्तु एक-दूसरे के समीप आकर अभिन्न हो जाने के साथ ही साथ कवि की भावना-कल्पना, उसकी अभिव्यंजना और उसके द्वारा निर्मित प्रगीत के रूप में भी एकता या तादात्म्य स्थापित हो जाता है । इन द्विविध तत्वों के एकदम समीप आ जाने और अंतर खो देने में ही प्रगीत का प्रगीतत्व है और इसी अवस्था में प्रगीत अपने वास्तविक काव्योत्कर्ष को प्राप्त करता है[2]।" उनकी दृष्टिमें नये युग के इस काव्य-रूप के विकास में नवीन कवियों की भावना-धारा का विकास भी छिपा हुआ है । छायावादी काव्य को वे युग-संबद्ध स्थापित करते हैं । वस्तु और शैली में एकरूपता स्थापित करके काव्य को एक मनोवैज्ञानिक आधार पर उन्होंने प्रतिष्ठित किया ।

प्रगीत का स्वरूप स्पष्टकरने के लिए यद्यपि वाजपेयी जी ने प्रबन्धकाव्य से उसकी तुलना की है तो भी वे वास्तव में प्रबन्ध और प्रगीत में भेद नहीं मानते । उनकी दृष्टि में न तो कोई प्रबन्ध है और न कोई प्रगीत । एकमात्र होनेवाला काव्य ही है और उसमें निहित सौंदर्य ही उस के महत्व का कारण है । उनके विचार में "कविता की समीक्षा में न कहीं गीति काव्य है, न कहीं वर्णनात्मक काव्य । न कहीं अंत: सौंदर्य है, न कहीं बाह्य सौंदर्य । सब प्रकार के काव्य में सब प्रकार का सौंदर्य समाहित किये जाने योग्य है[3]।" जहाँ सौंदर्य नहीं वहाँ सौंदर्य को प्रतिष्ठित करना और जहाँ सौंदर्य है उसकी अवहेलना करके उसमे अप्रभावित रहने की प्रवृत्ति वे असंगत मानते हैं, वास्तव में सौंदर्य की सत्ता किसी

---

1. आधुनिक साहित्य भूमिका, पृ.24
2. वही, पृ.25
3. जयशंकर प्रसाद, पृ.53

काव्य के साँचे की बंदिनी नहीं[1]।" श्रेष्ठ काव्य चाहे किसी भी प्रकार के हो, सौंदर्य - समन्वित हुए बिना नहीं रह सकता । गीति-काव्य और प्रबन्ध रचना में भेद यह है कि एक में काव्य किसी एक स्फुट किंतु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य या जीवन-समस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है और दूसरे में बहुमुखी जीवन-दशाओं और स्थितियों का चित्रण किया जाता है । महाकाव्य की भूमिका प्राय: उदात्त और उसका स्वर गंभीर हुआ करता है, जब कि गीतों में माधुर्य की प्रधानता होती है[2]।" वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि सिद्धांतत: काव्य के ऐसे भेदों को प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं, व्यावहारिक धरातल पर प्रत्येक प्रकार का काव्य महत्वपूर्ण है । और सभी प्रकार के काव्यों में समान रूप से विद्यमान यह महत्व ही वह गुण है जो काव्य के विभिन्न भेदों में एकात्मक भाव जगाता है । "वर्णनात्मक काव्य में बाह्य जगत् और जीवन व्यापारों का सौंदर्य दर्शनीय होता है और मुक्तक काव्य में मानसिक स्वरूपों, सूक्ष्म मनोभावनाओं और मनोगतियों की सुषमा अधिक देखने को मिलती है । दोनों में ही उच्च कोटि का काव्य एवं जीवन-सौंदर्य की अभिव्यक्ति हमें मिल सकती है[3]।"

वाजपेयी जी ने यद्यपि इस प्रकार विभिन्न काव्य-भेदों में अभेद स्थापित किया है तो भी उनका रुझान मुख्यत: प्रगीत काव्य की ओर है । युग-रुचि एवं युग-दृष्टि को भी ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने इसकी विवेचना की है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो प्रगीत की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य को उत्तम मानते हैं । उनके दृष्टि दृष्टिकोण में भी युगबोध झलकता है, किंतु उनकी दृष्टि जीवन और जगत् के बाह्य-व्यापारों पर अधिक टिकी थी जब कि वाजपेयी की दृष्टि मुख्य रूप से काव्य के आत्म-तत्व पर अटकी हुई थी । स्पष्ट है, दोनों आचार्य सौंदर्य-तत्व को महत्व देते हैं,

---

1. जयशंकर प्रसाद, पृ.52
2. वही, पृ.52
3. वही पृ.52

अंतर केवल इतना है कि वाजपेयी के विचार रोमांटिक प्रवृत्ति के अनुकूल है जब कि शुक्ल जी के विचार क्लासिक दृष्टिकोण से प्रभावित है । एक की दृष्टि लोकमंगलवादी है तो दूसरे की सौन्दर्यान्वेषी है । सौंदर्य के आनंदात्मक पक्ष पर वाजपेयी जी का मन अधिक रमता है और उनके द्वारा प्रगीत की प्रशंसा किये जाने का यही कारण है । इस आनन्दवादी दृष्टि के कारण ही वे सूरदास की तन्मयता में स्वयं तन्मय हो जाते हैं । शुक्ल जी सौंदर्य के सत् तत्व की ओर अधिक आकृष्ट है जो उन्हें तुलसी काव्य की ओर ले जाता है ।

प्रसाद-पंत-निराला के प्रगीतकाव्य

प्रगीत-सृष्टि के सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् वाजपेयी जी ने प्रसाद, पंत, निराला के प्रगीत काव्य का मूल्यांकन किया है । प्रसाद, पंत, निराला के पूर्व मार्मनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन और रूपनारायण, मुकुटधर पाण्डेय आदि की रचनाओं में प्रगीतकाव्य के प्रति रुचि तो उन्हें लक्षित होती हैं, किंतु वे यह नहीं मानते कि प्रगीत को पूर्णत: काव्यजगत् में प्रतिष्ठित करने का कार्य उनसे हो सका । नए प्रगीत-स्वरूप के निर्माण के लिए वे यह आवश्यक समझते हैं कि युग-दृष्टि एवं कवि-दृष्टि दोनों समस्त साहित्यिक सामाजिक रूढियों एवं पूर्व संस्कारों के बोझ को त्याग देने को तैयार हो जायें । उनकी दृष्टि में छायावादी दृष्टि इसके लिए पूर्णत: उपयुक्त थी और इसीलिए छायावादी कवियों, विशेषकर पंत जी और निराला जी ने "नए प्रगीत का नितांत नई कल्पना से अभिषेक किया, भाषा को नई वेष-भूषा दी, अभिव्यंजना की नूतन मुद्राएँ और भंगिमाएँ भेंट कीं । ..... प्रगीत नए युग का काव्यप्रतीक बन गया ।" वाजपेयी जी ने प्रगीत का संबंध रचयिता के व्यक्तित्व एवं उसकी निजी भावना से माना है । उनके मत में पंतजी के आरंभिक प्रगीतों में

---

1. आधुनिक साहित्य (भूमिका), पृ.25

भावना की जो स्वच्छता, कोमलता और रमणीयता पाई गई और भाषा की जो अनुपम मिठास और परिष्कृति देखी गई, वह कदाचित् विश्व के थोडे कवियों की आरंभिक रचनाओं में देखी और पाई गई होगी।[1] किंतु पंत की पल्लव तक की रचनाओं में ही वे यह गुण देखते हैं। पल्लव को कवि की अतिशय सजीव कल्पना-सृष्टि मानते हुए भी उसके बाद की रचनाओं पर अपना असंतोष स्पष्ट शब्दों में उन्होंने बार-बार प्रकट किया है।

"उच्छ्वास", "आँसू", "ग्रंथि", और "परिवर्तन" इन चार विरह-कविताओं के अंतरंग विवेचन में "ग्रंथि" वियोग वर्णन की दृष्टि से विशेष मार्मिक एवं सफल मानी गयी है। 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में विलष्टता एवं अस्पष्टता अखरती है, किंतु परिवर्तन को पंत-काव्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी गयी है। निराशामूलक होती हुई भी एक औदात्य और दर्शन की तटस्थता इसमें वे देखते हैं। किंतु "परिवर्तन" के बाद की कविताओं में कविता के इस उत्कर्ष का अभाव दर्शाया गया है। 'गुंजन' के प्रगीतों को 'पल्लव' के प्रगीतों की अपेक्षा अधिक पुष्ट मानते हुए कला और शिल्प की भूमि पर 'गुंजन' के काव्यसौंदर्य की प्रशंसा की गयी है। सश्लिष्ट चित्रण-शैली, रूपों, रंगों और अनुभूतियों की सूक्ष्म पहचान और अनुरूप कल्पना-प्रसार तथा कल्पना के साथ अभीप्सित भाव-संवेदन की सृष्टि आदि कविता के लिए अपेक्षित अधिकांश गुण इन कविताओं में उन्हें उपलब्ध होते हैं। 'युगांत', 'युगांतर', 'युगवाणी' इन नामों की सार्थकता पर सन्देह प्रकट किया गया है। इन शब्दों से प्राप्त अर्थों में वे काव्यत्व नहीं देखते। इन तीनों नामों को कलात्मक प्रेरणा से शून्य, असाहित्यिक एवं विज्ञापनात्मक घोषित करते हुए वे बताते हैं कि नये युग की समग्र प्रवृत्तियों का अथवा केन्द्रीय प्रवृत्तियों का भी इन पुस्तकों में आलेख नहीं हुआ है .....

---

1. आधुनिक साहित्य (भूमिका), पृ.3।

जिस युग का अंत, जिस युग का अंतरण तथा जिस युग की वाणी का ये पुस्तकें विज्ञापन करती हैं, उसका सही परिचय नहीं दे पातीं[1]।"
उनकी दृष्टि में 'युगांत' में नवीनता नहीं, नवीनता की आकांक्षा ही प्रकट हुई है और इसे वे मेरुदण्ड रहित और अशरीरी कहते हैं। 'युगवाणी' में युग के गद्य को वाणी देने के प्रयत्न में पंत जी को पूर्णत: असमर्थ मानते हुए वाजपेयी जी बताते हैं कि युग की वास्तविकता को इससे अधिक कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता था। यह राय भी प्रकट करते हैं कि "यदि इसी को काव्य-रचना का नया प्रतिमान कहते हैं तो ऐसे प्रतिमान को स्वीकार करना किसी भी काव्यप्रेमी के लिए शायद ही संभव हो[2]।" समय-समय पर शैलियाँ बदलने के पंत जी के दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हुए वे बताते हैं कि "साहित्य और कविता की शैलियाँ बदलती हैं, पैमाने बदलते हैं, पर इतना नहीं कि कविता और साहित्य बेपहचान हो जाएँ[3]।" ऐसा मानने का कभी यह मतलब नहीं कि पंत की कविताएँ वाजपेयी जी बिलकुल पसंद नहीं करते। उनकी रचनात्मक प्रतिभा पर पूर्णत: आश्वस्त होकर ही बाद में वे कहते हैं कि पंत सरीखे प्रतिभावान कवि फिसलते-फिसलते भी कहाँ तक फिसलेंगे[4]? "पल्लव" के बाद "ग्राम्या" में ही वे एक सच्चे कवि एवं कलाकार के दर्शन करते हैं। उसके प्रगीत शिल्प को सुकेन्द्रित एवं सुव्यवस्थित मानने के साथ ही उसके विचारपक्ष को भी संतुलित काव्योपयुक्त और नई विकासशील चेतना के अनुरूप माना है।

निराला जी के गीतों को वाजपेयी जी ने कई दृष्टियों से श्रेष्ठ माना है। लघुता के साथ एकतानता या समेग्रता, पुनरावृत्तियों का अभाव, गीतशील चित्रों का सुन्दर समाहार, परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूति,

---

1. सुमित्रानन्दन पंत, पृ. 184
2. वही, पृ. 181
3&4. वही, पृ. 47

पाश्चात्य कला-परिपाटी, स्वर तथा संगीत का अभ्यास, काव्य-कला की सुन्दर स्फुरणाएँ और अभिव्यक्तियाँ, भाषा-संबंधी नवीनता, छंदों, रागों, कल्पनाचित्रों और रसों का वैविध्य, प्रकृति सौंदर्य व मानव-सौंदर्य का आधार आदि अनेक गुण उनमें दर्शाए गए हैं । तटस्थता और वस्तुमुखता के कारण गेयता, कल्पना की भास्वरता, शब्दों की मितव्ययता तथा संश्लिष्ट और संगीतमय छन्दचयन उनके गीतों को सहज ही ग्राह्य और आस्वाद्य बना देता है । चित्र की समग्रता, अनुबंधों की गतिशीलता तथा ससीम का असीम में पर्यवसान निराला जी के गीतों को अपूर्व सारस्य प्रदान करता है । उनके गीतों में पूर्णता है और उनकी परिणति उच्चतर मानसिक भूमिका पर हुई है । वाजपेयी जी के मत में इसी अर्थ में उनके गीत छायावादी या रहस्यवादी कहे जा सकते हैं अन्यथा ये मूलत: रसवादी हैं । इतना ही नहीं, अंतिम अनुबंध जहाँ एक ओर समस्त गीत को एक दार्शनिक स्तर पर ले जाता है वहाँ दूसरी ओर यह गीतों के कलात्मक सौष्ठव - अन्विति या समाहार की प्रक्रिया को भी पूरा करता है ।

सूर के पद

सूरकाव्य में वाजपेयी जी ने यह देखने की चेष्टा की है कि भक्ति एवं दर्शन अथवा भक्ति एवं कविता का समन्वय उसमें कहाँ तक हो पाया है । सूर के काव्य की मनोवैज्ञानिक एवं भावात्मक पीठिका तैयार करते हुए उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की है कि "सूर की परम निगूढ भक्ति की साधना जब कविता में अपनी सिद्धि पाती है - जब हिमालय के हिमखण्ड द्रवित होकर जल-धारा बनते हैं-जो जलधारा गंगा-जमुना आदि के रूप में देश का शुष्क हृदय सींचती, असंख्य कंठों की तृषा शांत शांत करती है - तब उसका क्या स्वरूप होता है ।" उनकी कविता की गेयात्मकता, एक-एक लीला को लेकर छोटे-छोटे भावचित्र खींचने की अपूर्व क्षमता, शब्द की साधना के साथ-साथ सुर की भी परम उत्कृष्ट साधना,

भावनामय लयकारी पद, तन्मयकारी संगीत आदि पर प्रकाश डालते हुए वाजपेयी जी स्पष्टतया प्रतिपादित करते हैं कि सूर के पद गीति-काव्य की दृष्टि से उत्तम कोटि से कहीं नीचे नहीं उतरते ।

उपन्यास और कहानी

पश्चिमी उपन्यास की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने बताया है कि "उपन्यास एक ओर गद्य-साहित्य के निर्माण और विकास का समकालीन है और दूसरी ओर वह मध्यवर्ग के उत्थान का समसामयिक है[1]।" जीवन और उसकी साधारण दैनिक घटनाओं से उपन्यास का संबंध आरंभ से ही रहा है और बाद में यह संबंध अधिक दृढ भी हो गया । वाजपेयीजी यह भी बताते हैं कि उपन्यास और वास्तविक जीवन में अधिकाधिक समानता लक्षित होते हुए भी उनमें यह अंतर तो है कि उपन्यास सर्वथा काल्पनिक कृति है, वास्तविक जीवन-घटना की छाया ही वहां रहती है[2]। इस प्रकार वाजपेयीजी उसके कलात्मक स्वरूप को भी प्रकाश में लाते हैं । काव्य और उपन्यास के अंतर की ओर भी उन्होंने संकेत किया है । उनके मत में काव्य अधिकतर कवि के भावों की अभिव्यक्ति है । उपन्यास जीवन और समाज के व्यक्त रूपों और घटनाओं का चित्रण है । जीवन की व्याख्या कवि भी करता है और उपन्यासकार भी । परंतु एक में वह व्याख्या अनुभूतियों के माध्यम से होती है और दूसरे में वह सामाजिक चित्रणों के माध्यम से होती है ।

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.171
2. वही, पृ.172
3. वही, पृ.185

अंग्रेज़ी साहित्य के प्रारंभिक उपन्यासकारों के रूप में उन्होंने रिचर्डसन, फीलिडंग और सूर्न का उल्लेख किया है । डेनियल डीफो के प्रसिद्ध उपन्यास "राबिन्सन क्रूसो" के आधार पर वे यही निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्णनात्मक शैली में कल्पना के आधार पर यथार्थ प्रतीत होनेवाली जीवन-घटना का चित्रण करना उपन्यास का प्राथमिक लक्ष्य था । इस आधार पर कल्पना-निर्मित वास्तविक जीवन-कथा को ही वे उपन्यास मानते हैं । आगे चलकर यह स्पष्ट हुआ कि उपन्यास वह काल्पनिक कृति है जो गद्य के माध्यम से आख्यान विशेष की सहायता लेकर सामाजिक जीवन के किसी स्वरूप का यथार्थ आभास देती हुई उक्त जीवन की मार्मिक व्याख्या करती है[1] ।"

उपन्यास की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने व्यक्तिवादी उपन्यास, सामाजिक उपन्यास आदि पर भी विचार किया है । सामाजिक एवं वैयक्तिक उपन्यासों का विभाजन ही वे बहुत कठिन मानते हैं क्योंकि उपन्यासों में सामाजिक और वैयक्तिक पहलू एक दूसरे से बहुत कुछ संयुक्त होते हैं । फिर भी कुछ उपन्यासों में सामाजिक लक्ष्य एवं कुछ में वैयक्तिक चित्रण की प्रमुखता की दृष्टि से उनका विभाजन मानते हुए वे बताते हैं कि वे सभी उपन्यास व्यक्तिवादी कहे जायेंगे जिनमें व्यक्तिगत जीवन-घटना, व्यक्तिगत चरित्र, व्यक्तिगत जीवन-दर्शन, व्यक्तिगत मनोविज्ञान या व्यक्तिगत जीवन-समस्या का निरूपण या निर्देश सर्वोपरि रहा करता है[2] । दोनों प्रकारों का अंतर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं - "व्यक्तिवादी उपन्यास प्राय: थोडी संख्या में पात्रों और चरित्रों को लेकर चलते हैं और विशेष वातावरण या परिस्थिति के निर्माण द्वारा उनका सीमित क्षेत्र में अंतर्द्वन्द्वात्मक नाटकीय तथा चमत्कारपूर्ण चित्रण करते हैं । उनमें सामाजिक जीवन का यथार्थ और जीता-जागता चित्र नहीं होता, उनमें एक एकांतिकता होती है परंतु उस एकांतिकता में गहराई और प्रयोजन रहा करता है[3] ।" सामाजिक उपन्यासों की यह भी विशेषता होती है कि

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.185
2. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.184
3. वही, पृ.185

उनमें चरित्र-रेखाएँ प्राय: मोटी या स्थूल हुआ करती है और प्राय: सभी पात्र प्रतिनिधि या वर्गगत पात्र होते हैं । उनमें चरित्र की वैयक्तिक विशेषता, मनोवैज्ञानिक ऊहापोह की सजीवता और संघर्ष की जीवंत यथार्थता नहीं रहती[1]।"

व्यक्तिवादी उपन्यासों पर विभिन्न समीक्षकों द्वारा अनेक आक्षेप लगाये गये हैं । इनकी सामाजिक उपयोगिता पर सन्देह प्रकट करने एवं इन्हें सामाजिक प्रगति एवं विकास का बाधक ठहराये जाने की प्रवृत्ति को वे अतिरंजित मानते हैं । प्रगतिशील सामाजिक जीवन से तटस्थ रहकर तथा अत्यंत सीमित क्षेत्र के एवं अधिकतर लक्ष्यहीन व ह्रासोन्मुख जीवन के चरित्रों को चुनकर पाठकों का समय नष्ट करने का आरोप भी वे सार्थक नहीं मानते । व्यक्तिवादी उपन्यासों की रूपरेखा के विषय में भी उनकी अपनी राय है । उनके विचार में देश और काल को नयी दृष्टि प्रदान कर समाज का उत्थान करने में भी कभी-कभी ये सहायक होते हैं । {मार्मिक और प्रभावशाली ढंग से विषय को प्रस्तुत कर} इस आक्षेप का भी वे निषेध करते हैं कि व्यक्तिवादी उपन्यास लेखकों की कुंठित और आत्मकेंद्रित मनो भावना के ही परिणाम होते हैं । व्यक्तिवादी कृतियों के सामाजिक बनाये जाने की संभावना पर उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं है । इसके समर्थन केलिए वे रोम्याँ रोला, ज्यों क्रिस्तोफ और डोस्टावस्की की व्यक्तिवादी कृतियों का उल्लेख करते हैं जिनमें प्रौढ कला के दर्शन होने के साथ ही साथ सामाजिक उद्देश्य की भी स्पष्ट झलक मिलती है एवं समाजोत्थान के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं । व्यक्तिवादी उपन्यासों की उपयोगिता पर दृढ विश्वास प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि कभी कभी व्यक्ति के महान संकल्पों का चित्रण समस्त समाज और राष्ट्र को नया जीवन प्रदान करता है ।

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.185

वाजपेयी जी कला एवं सौंदर्य के कुशल, सूक्ष्म पारखी हैं । उपन्यास चाहे व्यक्तिवादी हो या सामाजिक उसकी सफलता उपन्यासकार के व्यक्तित्व एवं रचनात्मक प्रतिभा पर निर्भर रहती है । कला की दृष्टि से वे व्यक्तिवादी चित्रणों की प्रभावशीलता एवं चरित्रों के अंत:संघर्ष से भरे घातप्रतिघातों को अप्रतिम मानते हैं । उनके विचार में अनेकानेक पात्रों के सामाजिक घटाटोप की अपेक्षा थोडे-से पात्रों का सश्लिष्ट और तलस्पर्शी चित्रण ही अधिक गंभीर और साथ ही नाटकीय तथा मार्मिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है । साहित्य में अतिरिक्त बौद्धिकता या वैचारिकता के समावेश का वाजपेयी जी ने बार-बार विरोध किया है । उपन्यास और कहानी के विषय में भी वे यही राय प्रकट करते हैं कि उनमें किसी विशेष विचारधारा को स्वतंत्र रूप में स्थान नहीं दिया जा सकता । कला और शैली का सौंदर्य तथा भावनाओं और संस्कारों का परिष्कृत एवं उदात्त स्वरूप इसमें भी वे काफी मात्रा में दर्शाते हैं । किसी वाद के कटघरे में इसे आबद्ध करने की बात भी वे खतरनाक मानते हैं क्योंकि उपन्यास में पग-पग पर घटनाओं और पात्रों का उल्लेख करना पडता है और कहानी में भी अंतिम घटना की ओर एकदम बढना पडता है । रचना को कृत्रिम, बेढंगी या उपदेशात्मक बनाने के बदले पात्रों के चरित्र के निर्बाध विकास तथा प्रासंगिक स्थितियों के स्वाभाविक चित्रण द्वारा कृति को अधिक सफल बनाना ही वे काम्य समझते हैं । उपन्यास और कहानी दोनों में घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों के वास्तविक चित्र उपस्थित किए जाने पर भी "कहानी के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है घटना संवलित कथानक का ऐसा प्रसार, जो अपनी सीमा में, एक प्रभावशाली और असाधारण जीवन-मर्म को पूरा-पूरा व्यक्त कर दे । ताने और बाने की भाँति कथा और जीवन-मर्म का एक ही में पर्यवसान हो जाना चाहिए । किसी ओर से असंगति, हेर-फेर या क्रम-भंग के लिए स्थान न रहे । साथ ही सारी कहानी किसी निर्णायक घटना-केंद्र की ओर अनुधावित हो रही हो ।"[1]

---

1. आधुनिक साहित्य पृ.२३२-२३३

मुख्य रूप से दो ही तत्व वे कहानी केलिए अपेक्षित मानते हैं । कहानी के प्राण यदि जीवन मर्म या उद्देश्य है तो कथानक उस का शरीर है । इसके अतिरिक्त कहानी का कोई तीसरा उद्देश्य वे मानते ही नहीं । यद्यपि देश, काल पात्र तथा समय एवं स्थान के संकलन को भी जीवन-मर्म की प्रभावशाली अभिव्यंजना के लिए आवश्यक अंग माने गए हैं तो भी मूल तत्व अर्थात् उसके साधन-साध्य के रूप में वस्तु और उद्देश्य को ही वे प्रमुखता देते हैं ।

कहानी-लेखक के लिए जीवन-तत्व की सूक्ष्म एवं असाधारण पहचान वे अवश्यक समझते हैं । इसलिए ऐसी कहानियों को ही वे श्रेष्ठ मानते हैं जिनमें सूक्ष्मदर्शिता है तथा जिनका कोई तलस्पर्शी प्रयोजन हो ।"[1]

प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियाँ

उपन्यास और कहानी के संबंध में वाजपेयी जी के जो विचार हैं उन्हीं के अनुरूप उन्होंने प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्रकुमार आदि की रचनाओं का अनुशीलन किया है । नैतिक एवं मानवतावादी दृष्टिकोण को वे प्रेमचंद की एक उल्लेखनीय विशेषता मानते हैं । इस कारण उनके उपन्यासों में जहाँ अश्लीलता का रास्ता ग्रहण करने का अवसर आ जाता है वहाँ वे ठहर जाते हैं और या तो घटनाओं को समाप्त कर देते हैं या उन्हें दूसरी ओर मोड़ देते हैं । साहित्य की नैतिक मर्यादा के लिए कभी-कभी चरित्रों की अस्वाभाविक और अनावश्यक परिणति कर देने का खतरा भी उनसे उठा लिया गया है । "प्रेमाश्रम" में गायत्री और ज्ञानशंकर की स्थिति इसका उदाहरण है । वाजपेयी जी को प्रेमशंकर की कथा को मुख्य कथा के साथ जोडने में कठिनाई लगती है । उनके मत में कथा निर्माण की इस नैसर्गिक त्रुटि के कारण श्रद्धा की उदात्त रेखा उभर कर नहीं आ पाई है, श्रद्धा एक पार्श्ववर्ती बन कर रह गई है । कथानक की आवश्यकता के आधार पर

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.234

पात्रों की मृत्यु कराना वाजपेयी जी के मत में प्रौढ कलाकृति के उपयुक्त नहीं होता परंतु प्रेमचंद ने जिस प्रकार एक विशुद्ध कथानक की उद्भावना की है, और फिर उसे अपनी आदर्शवादी साहित्य-साधना का उपादान बनाया है उसमें गायत्री और ज्ञानशंकर की मृत्यु अनिवार्य हो जाती है ।

साहित्य का संबंध केवल भावों से न होकर दर्शन और बुद्धि से भी मानते हुए प्रेमचंद में लक्षित कोरी भावुकता का असंबद्ध प्रदर्शन उन्होंने अनावश्यक माना है ।

"कायाकल्प" प्रयोगवादी रचना मानी गयी है । और उसके प्रयोग में लेखक को असफल भी माना गया है । कला और चित्रण की दृष्टि से रंगभूमि में लेखक कुछ कमज़ोरियाँ दर्शाते हैं । उनके विचार में विनय और सोफिया की कथा के साथ सूरदास के आख्यान को जोडने के लिए अधिक समृद्ध कला आवश्यक थी । प्रभु सेवक के चरित्र को सुगठित रूप में चित्रित करना और फिर उसे उपन्यास की कथा में गौण स्थान पर रखना कला की दृष्टि से वे एक त्रुटि मानते हैं । सूरदास, सोफिया, जनसेवक-मिसेज़ सेवक आदि के चित्रण में लेखक यद्यपि सफल हुए हैं तो भी सूरदास के संबंध में उनका यही मत है कि विशुद्ध कला और चित्रण की दृष्टि से सूरदास की चरित्र-रेखाएँ संतुलित नहीं है । कहीं उनमें अनावश्यक हल्कापन और कहीं अतिरिक्त गरिमा भर दी गई है । उसी प्रकार विनय के आत्मत्याग को भी वे उसके महत्व के अनुरूप नहीं मानते । उसे उसके चरित्र की सबसे दुर्बल रेखा मानते हुए वे बताते हैं कि प्रेमचन्द ने इस रेखा द्वारा उसके चरित्र के साथ अन्याय किया है । प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण-कौशल की विशेषता स्पष्ट करते हुए अंत में वाजपेयी जी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि वे एक साथ प्रतिनिधि चरित्रों या "टाइप्स" की सृष्टि करते हैं और उन चरित्रों में व्यक्तित्व लाने का भी पूरा प्रयत्न दिखाते हैं । कहीं-कहीं ऐसा करते हुए दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में असफल भी रह जाते हैं । न वे वर्ग प्रतिनिधि

वाजपेयी जी के मत में लेखक की समृद्ध कल्पनाशक्ति, स्वस्थ जीवन-दृष्टि, तटस्थ अनुशीलन के साथ सच्ची भाव-प्रवणता एवं बौद्धिक-क्षमता आदि तत्वों में ही कहानी अथवा कहानीकार की श्रेष्ठता निहित है । इन समस्त शक्तियों के पूर्ण समाहार से ही श्रेष्ठ कलाकृतियों का उद्भव होता है । प्रेमचन्द में इन तत्वों का समुचित विकास और समाहार वे देखते हैं, किंतु उच्चतम स्तर की निर्माण-क्षमता उनकी थोडी-सी कहानियों में ही पाई जाती है । उन्हें प्रत्यक्षवादी कलाकार की कोटि में रखते हुए वे स्थापित करते हैं कि साधारण और व्यापक प्रयोजन की दृष्टि से वे श्रेष्ठ कलाकार हैं, किंतु विशिष्ट और सूक्ष्म प्रयोजन की पूर्ति थोडी ही कहानियों में कर पाए हैं । उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द की कहानियाँ अधिकतर भावात्मक श्रेणी में आती हैं और उनमें तटस्थ मनोवैज्ञानिक अंचित्रण का अभाव है । इस आधार पर उनकी मान्यता है कि प्रेमचंद की कहानियाँ निश्चय ही सामाजिक विकास के लिए अस्त्र का काम कर चुकी हैं, परंतु समय के बीत जाने पर उनकी क्या स्थिति होगी, यह प्रश्न विचारणीय है नारी संबंधी कहानियों में कला की दृष्टि से 'कायर' अत्यंत साधारण कहानी, भावात्मक उतार-चढाव के सुन्दर चित्रण की दृष्टि से 'बडे घर की बेटी' तथा उच्च भावात्मक एवं बौद्धिक स्तर, जीवन-संबंधी अनुभव की मार्मिकता आदि दृष्टियों से "शांति" अच्छी कहानियाँ मानी गयी हैं । "निष्कासन" को कहानी मानना ही उन्हें कठिन लगता है । ग्रामसंबंधी-कहानियों में "अलगयोझा" में वस्तु-चित्रण में अनावश्यक विस्तार, "मुक्तिमार्ग" में संतुलन का अभाव एवं बलिदान में मार्मिकता की कमी की बात उठाई गई है । "शंखनाद" कहानी के वर्णन-कौशल को सराहनीय मानते हुए भी चित्रण-प्रधान कहानी होने की वजह से उसके अंत में मनोविज्ञान की योजना और उस मनोविज्ञान में उपदेशात्मकता का समावेश वे असुन्दर ठहराते हैं । भावना-प्रधान होने पर भी "पूस की रात" की गणना उत्तम कहानियों के अंतर्गत हुई है । "पंचपरमेश्वर" को वातावरण प्रधान कहानी माना गया है ।

नशा; "बडे भाई साहब; 'कफन "आदि में प्राप्त मनोवैज्ञानिक चित्रण काफी गहरा मानते हुए वाजपेयीजी ने बताया है कि "कफन" में मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान का चित्रण नहीं है, बल्कि जीवन की वास्तविकता का चित्र है । "अग्नि-समाधि" की प्रतीक योजना पर प्रकाश डालते हुए वे बताते हैं कि प्रस्तुत या प्रत्यक्ष वस्तु को अप्रस्तुत या अप्रत्यक्ष वर्णन द्वारा व्यक्त करने की बौद्धिक कुशलता प्रेमचंद में कम है । "मन्दिर" में प्रस्तुत ऊपरी स्तर का प्रत्यक्ष चित्रण कला की दृष्टि से अधिक उपादेय नहीं माना है । प्रत्यक्ष घटना की मोटी भूमिका पर कहानी खडी करने की स्पष्ट त्रुटि इसमें दर्शायी गयी है । समरयात्रा को वे समय की सीधी पगडंडी पर घटनाओं की परेड मात्र कहते हैं । इस कहानी के आधार पर वे सिद्ध करते हैं कि अत्यंत प्रत्यक्ष राजनीति सौम्य और संयत् कला का विषय नहीं बन सकती ।

वाजपेयी जी प्रेमचंद को समाजहित और समाजोत्थान की भावनाओं से प्रेरित प्रगतिशील कलाकार मानते हैं । वे देखते है कि यद्यपि उनकी कहानियों में एक विलक्षण आशावाद, मानव महत्व के प्रति अमिट विश्वास और समाज की अनिष्टकारी शक्तियों के विरुद्ध कठोर व्यंग्य का भाव निहित हैं तो भी स्पष्ट लक्ष्य की प्रमुखता के कारण उनमें तटस्थ चित्रण, वस्तु का स्वतंत्र निरीक्षण और स्वतंत्र परिणामदर्शन पूरी मात्रा में नहीं आ पाए हैं । हल्की भावुकता, आदर्शात्मकता, उपदेशात्मकता, वस्तु और भाव के नैसर्गिक तारतम्य का अभाव आदि कलात्मक त्रुटियाँ भी अनेक स्थलों पर उन्हें लक्षित होती है । लेकिन गतिशीलता की कमी, अनावश्यक वर्णनात्मकता आदि उनकी आरंभिक कहानियों के ही दोष माने गये हैं । अधिक तटस्थ एवं मार्मिक निरीक्षण से प्रस्तुत परवर्ती कहानियों को निश्चय ही उन्होंने अधिक प्रभावशाली स्वीकार किया है ।" प्रवट्रेस "

जैसी मध्यकाल की कहानियों में वे सजग कला का रूप दर्शाते हैं । शैली संबंधी विविधता का अभाव भी उन्हें अखरता है ।

जैनेन्द्र के उपन्यास

जैनेन्द्र के उपन्यासों में दार्शनिकता एक बोझ बन गयी है । यदि दर्शन का समावेश हो तो उसकी परिणति कला के रूप में होनी है, यही वाजपेयी जी का विचार है । हिन्दी उपन्यास में दार्शनिकता का समावेश करनेवाले प्रथम कलाकार के रूप में जैनेन्द्र की खूब ख्याति हुई है, किन्तु वाजपेयी जी देखते हैं कि जैनेन्द्र की कृतियों में दार्शनिक पीठिका का जितना ही योग होता गया उतनी ही वे जीवन से दूर होती गयीं । तथा-कथित दार्शनिकता वास्तव में उपन्यास के लिए आवश्यक नहीं । उपन्यास में जीवन-चित्रण आधार-भूत वस्तु है । जैनेन्द्रीय दर्शन ने उसे ही पार्श्वद कर दिया है[1]।" दर्शन की कलात्मक परिणति उपन्यासों के कलात्मक लक्ष्य और चरित्र-चित्रण में अस्पष्टता उत्पन्न करती है और जैनेन्द्र के उपन्यासों की यह एक त्रुटि बन गयी है । अन्य साहित्यिक विधाओं के समान उपन्यासों में भी वाजपेयी जी उन्हीं को श्रेष्ठ मानते हैं जिनमें राष्ट्रीय जीवन पूरा उतरता है । इस संबंध में उन्होंने सन्देह प्रकट किया है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक इनमें से किस कोटि में रखा जाय । उन्हें मनोवैज्ञानिक वे कभी नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में जैनेन्द्र में तटस्थता और वस्तु-मूलकता का अभाव है । अपनी कृतियों के जगत् में बलात् प्रवेश करने से कृति औपन्यासिक लक्ष्य से दूर हो जाती है । इस कारण वाजपेयी जी बताते हैं कि हिन्दी की अविकसित स्थिति में चाहे उन्हें मसीहा का पद दे दिया जाय, पर प्रबुद्धपाठक के द्वारा वे सदा सन्देह की दृष्टि से देखे जाएगी[2]।"

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.51
2. वही, पृ.52

"परख", "सुनीता", "कल्याणी", "त्यागपत्र" आदि का उदाहरण देकर वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक अनाकांक्षित श्रृंगारिकता की अंतर्धारा दिखाई देती है। वह कृत्रिम भावात्मकता का लबादा ओढ कर आती है और ऊपर से विशुद्ध-सी वस्तु जान पड़ती है, पर वास्तव में विशुद्ध नहीं है। "परख" में कट्टा के प्रति सत्यधन के प्रशंसा के शब्द ऊपर से एक निर्दोष सी घटना या चेष्टा मालूम होती है पर पूरा प्रसंग दोनों की मलिन अंतर्चेष्टाओं का द्योतक है। अस्पष्ट भावात्मकता और गोपनीयता के रहने से "सुनीता" के पात्रों की असाधारणता को भी वे वास्तविक या सच्चा आदर्शवाद नहीं मानते। जैनेन्द्र के सभी उपन्यासों में वे यह दोष दर्शाते हैं कि उनके अधिकांश पात्र एक ऊँचे उद्देश्य को लेकर उच्च मानसिक भूमि पर व्यवहार करते दीखते हैं किंतु सच्ची चारित्रिक उच्चता और उदात्त मनस्थिति उनमें नहीं है, उनके प्राय: सभी उपन्यासों में पात्रों का व्यक्तित्व और उनकी समस्या अस्पष्ट रहती है। "कल्याणी" में आरंभ से ही उसका चरित्र सन्देहास्पद बना दिया गया है, और "सुनीता" की समस्या परदा-रहित परिवार में पर-पुरुष-प्रवेश की समस्या - तो अवश्य आज की एक आवश्यक समस्या है किंतु उसका वास्तविक समाधान लेखक नहीं प्रस्तुत कर सके हैं।

वाजपेयी जी के विचार में स्वस्थ कलाकार कभी पाठक को भावना की उद्देश्यहीन गहराई में नहीं ले जाता। जैनेन्द्रकुमार के "त्यागपत्र" में यह त्रुटि वे देखते हैं। मृणाल की ईश्वर-निष्ठा को वे उन्हें निरुद्देश्य सी लगती है क्योंकि वह ईश्वर कर्तव्य का नहीं, निष्क्रियता का सहायक बन जाता है। मृणाल की समाज विद्रोही धारणा को वे जैनेन्द्र जी का तत्वज्ञान मानते हैं जिसे समझना साधारण बुद्धि के पाठक के लिए

कठिन है । रचनात्मक उद्देश्य से हीन किसी भी कार्य को वाजपेयी जी महत्व नहीं देते, उनकी दृष्टि में प्रमोद से अपने महान कर्तव्य के संबंध में बात करनेवाली मृणाल के कथन में कष्ट सहन के लिए कष्ट सहन की भावना दीखती है । "त्यागपत्र" में कई असंगतियाँ उनके ध्यान में आती है । मृणाल की असमान विवाह की समस्या के चित्रण के लिए शीला के भाई से उसका विवादपूर्ण संबन्ध, अनिश्चयात्मक संकेतों का प्रयोग, मृणाल जैसी आत्मगौरववाली नारी को अनेक पतियों की भोग्या चित्रित करना, समाज के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए उसकी समस्त सांस्कारिकता को समाप्त कर देना आदि को बिलकुल अनावश्यक मानते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि लेखक के विचारों में एक अतिरिक्त भावनामयता को छोड़कर सारवस्तु बहुत कम है, वे हमारी मानसिक सहानुभूति को आवश्यकता से अधिक विक्षुब्ध करने में ही सहायक हुए हैं तथा मृणाल का अर्थहीन आत्मपीडन लेखक की तदनुरूप भावना की छाया है । पाठकों को संतुष्ट करने की सामग्री इस उपन्यास में नहीं के बराबर है, यही लेखक की राय है ।

शेखर एक जीवनी और अज्ञेय

"शेखर एक जीवनी" को भी जीवनी की दृष्टि से एक सफल कृति मानने में वाजपेयी जी को कठिनाई महसूस होती है । जीवनी के आरंभ में आये हुए दार्शनिक वाक्य "प्रेम ने मनुष्य को मनुष्य बनाया, भय ने उसे समाज का रूप दिया, अहंकार ने उसे राष्ट्र में संघटित कर दिया, उपन्यास की दृष्टि से वे बोझीला मानते हैं । स्मृति-लेखन की नैसर्गिकता विनोदवृत्ति या व्यंग्यात्मकता वे इसमें नहीं दर्शाते । जीवनी में एक विशालता होते हुए भी घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों का संघर्ष बडे पैमाने पर प्राप्त न होने के कारण औपन्यासिक विशालता का अभाव

दर्शाया गया है । उनके विचार में घटनाओं के चित्रण में गंभीरता, संलग्नता, वैज्ञानिक ऊहापोह और स्वतंत्र जीवन दर्शन की योजना का जो प्रयास है वह पुस्तक को आत्मजीवनी की भूमिका से हटाकर एक वस्तुमुखी जीवन-कथा की ओर ले जाती है । लेकिन लेखक के निजी विचारों और स्वनिष्ठा की गहरी छाप होने के कारण उसे तटस्थ जीवनी भी नहीं माना जा सकता । शशि और शेखर के चरित्र-चित्रण को भी वे त्रुटिपूर्ण मानते हैं । उनके मत में दोनों के चरित्र-विश्लेषण की ओर लेखक ने अधिक ध्यान नहीं दिया है, निस्वार्थ विपत्तियाँ उठानेवाली शशि और घमंडी शेखर की तुलना पूर्णत: संगत नहीं, दोनों के चरित्रों का तुलनात्मक स्वरूप लेखक निरूपित नहीं कर सके हैं, चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक और चित्रणात्मक तटस्थता का अभाव है तथा शशि की समर्पण-भावना का मूल्य "जीवनी" नहीं दे सकी है । कलाकार के दायित्व पर पूर्णत: बोधवान रहनेवाले वाजपेयी जी दृढता-पूर्वक स्थापित करते हैं कि शशि को अपने भाग्य पर छोड देना कभी एक कलाकार का दायित्व नहीं है । उनकी राय में लेखक को इस बात पर ध्यान देना था कि शेखर का वास्तविक चरित्र दु:खान्त कला का उपकरण है ।

अज्ञेय के संबंध में वाजपेयी जी का विचार है कि उनकी कृति में अहंवादिता और उसके परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं । विशुद्ध अहं वहाँ अंकित नहीं, वहाँ आदर्श अहं का लोक है अर्थात् अहं का कल्पित आदर्श स्वरूप । परिणामत: कृति रोमांटिक है, रिअलिस्टिक नहीं । इसे वाजपेयीजी कृति के पूर्णत: मनोवैज्ञानिक बनने में बाधा मानते हैं । प्रसाद की स्वस्थ रोमांटिक भूमि की तुलना में जैनेन्द्र के उपन्यास बहुत भिन्न हैं । अज्ञेय की कृति का रोमान्स एक अंतर्मय व्यक्तित्व का रोमान्स है, जो विशेषत: उनके नारी-दर्शन में परिलक्षित होता है । अंतर्मुख रोमान्स की पूर्ति के लिए ही अज्ञेय के पात्र उच्च मध्यवर्ग के अकाश जीवियों से ली

लिए जाते हैं । कहना आवश्यक नहीं है कि इससे औपन्यासिक लेखन की एक सीमा बंध जाती है[1]।" यद्यपि उनके भावपक्ष में ये त्रुटियाँ वे देखते है तो भी उनकी शैली की वे प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते । वैसे तो अज्ञेय की शैली की यह विशिष्टता है कि जो भी प्रभाव एक क्षण किसी के मन पर उस संबंध में पड जाता है वह स्थायी हो जाता है । कम शब्दों में इतनी गंभीर एवं मूल्यवत् भावों को समाविष्ट करने की उनकी अपूर्व कुशलता पर किसी को भी आश्चर्य होता है । वाजपेयी जी भी उस पर मुग्ध हो जाते है उनकी कृति के उत्कृष्ट और दीर्घजीवी होने में उन्हें बिलकुल सन्देह नहीं क्योंकि शैली के विशिष्ट एवं मौलिक प्रयोग में वे अज्ञेय को अप्रतिम मानते हैं । अज्ञेय के प्रयोग को वे इस अर्थ में सफल मानते हैं कि प्रेमचन्द में बहिर्मुखताकी उपलब्धि के पश्चात् अग्रिम गति में हिन्दी उपन्यास में आंतरिक जीवन का चित्रण वे ही कर सके हैं । तो भी वे देखते हैं कि अंतत: सर्वांग उत्कर्ष की सिद्धि हिन्दी उपन्यास में अंतर्बाह्य के संतुलित योग से ही संभव होगी[2]।" इस संतुलन के लिए इलाचन्द्र जोशी ने प्रयत्न तो किया है किंतु उसमें मनोविज्ञान पर अधिक ज़ोर दिया गया है । उपन्यास में सामग्री के रूप में जब मनोविज्ञान का प्रयोग होता है तो शैली और शिल्प भी उसके अनुकूल होना चाहिए । किंतु इसमें दूसरे पक्ष का उचित निर्वाह जोशी जी में नहीं हो पाया है । इसलिए वाजपेयी जी कहते हैं, वस्तु तो नवीन है, किंतु विधि पुरानी है[3]।" लेकिन कलात्मक उद्देश्य में एकता होने की वजह से "परदे की रानी" को वे सफल कृति मानते हैं । साथ ही यह भी वे देखते हैकि उद्देश्य और प्रेरणाओं में जहाँ बहुमुखता आयी है, वहाँ कला का संगठन टूटने - सा लगा है । मनुष्य के प्रति अनुराग होने मात्र से महान कृति की रचना नहीं हो सकती । कृति तभी श्रेष्ठ निकलती है जब कि मनुष्यता को महत्व देने के साथ ही साथ कला को उत्कृष्ट बनानेवाली सहानुभूति से भी कलाकार

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.52
2. वही, पृ.53
3. वही, पृ.53

परिचित हो जाये । जोशी जी में इसका अभाव है । वाजपेयी जी लिखते हैं "उनकी समस्त गति बौद्धिक है, और प्रत्यक्ष जीवन से संपर्क स्थापित करने में वे अभी तक सफल नहीं हुए हैं । परिणामस्वरूप महती सदाशयता की उत्तरोत्तर वृद्धि और कलात्मकता के उत्तरोत्तर ह्रास का विचित्र दृश्य उनकी परवर्ती कृतियों में हम देखते हैं[1] ।"

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के रूप में जो-जो लेखक विख्यात हैं उन्हें वे मनोवैज्ञानिक नहीं कहते, बल्कि मनोवैज्ञानिक कहे जानेवाले मानते हैं । इसका कारण स्पष्ट करते हुए अज्ञेय, जैनेन्द्र तथा जोशी के उपन्यासों में लक्षित त्रुटियों की ओर भी संकेत किया गया है ।

प्रेमचन्दोत्तर युग की औपन्यासिक कृतियाँ

प्रेमचन्दोत्तर युग की औपन्यासिक कृतियों पर वाजपेयी जी बिलकुल असंतुष्ट हैं । उपन्यास की श्रेष्ठता के जो मानदण्ड उनके दृष्टिकोण में है उनके आधार पर ही वे उनकी कृतियों की परख करते हैं । अश्क के विषय में उनकी शिकायत यह है कि "अश्क" के जगत् में आनेवाला मनुष्य निर्णय लेने में मूलत: अशक्त है । गंभीरता अचानक हल्केपन में बदल जाती है और प्रयोजन की संभावना का प्रयोजनहीनता में अवसान हो जाता है इसलिए अश्क का सामाजिक व्यंग्य शक्तिमान आघात न पहुंचाकर मंद हँसी भर पैदा करके रह जाता है[2] ।" उदाहरण के लिए उन्होंने अश्क की "गिरती दीवारों का उल्लेख किया है । "गिरती दीवारें" में नायक की ऐसी स्थिति का चित्रण हुआ है । उसका चेतन प्रबोध संपूर्ण है, किंतु जब एक निर्णय हुआ है लेने की आवश्यकता आ जाती है, तो वह अनिवार्य निर्णय लेने में वह असमर्थ निकलता है । इसी को लक्ष्य कर

1· राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ·53

2· वही, पृ·54

वाजपेयी जी ने बताया है कि "गिरती दीवारें" का कला-भवन सिद्धि का द्वार देखकर उसका स्पर्श किए बिना ही ढह जाता है।[1]" वाजपेयी जी के विचार में उपन्यास में ऐसे पात्रों का चित्रण होना चाहिए जो परिस्थितियों की कठपुतली न रहकर संघर्षपूर्ण, तनावपूर्ण जीवन की विविध चुनौतियों का सामना करने की क्षमता रखता हो। यदि कोई ऐसी कठपुतली बन जाती है तो उसमें ऐसा कोई प्रेरणा-केंद्र या प्रेरक शक्ति होनी चाहिए जो उसकी गति को आगे बढाने में, उसे स्फूर्ति देने में, उसे कर्मक्षेत्र की ओर उन्मुख करने में सहायक हो। किंतु अश्क के उपन्यासों में इसका अभाव है। यद्यपि वाजपेयी जी का यह मत मान्य है तो भी कहना पड़ता है कि उपन्यास में केवल श्रेष्ठ नायकों का चित्रण हो, ऐसी बात नहीं। जीवन का यथा तथ्य जीता-जागता चित्रण उपस्थित करने में ही उपन्यास की सार्थकता है। इसलिए जीवन के अच्छे पहलुओं के समान अन्य सभी पहलुओं पर भी अवश्य प्रकाश पड़ना है। आवश्यकता इस बात की है कि सभी चित्रण पाठकों को प्रभावित करने में समर्थ हो। "यशपाल और अश्क की तुलना करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि यशपाल एक तरह से अश्क के प्रतिलोम हैं। अश्क जी यदि परिपार्श्व के प्रणेता हैं तो यशपाल प्रयोजन के प्रतिष्ठाता। अश्क जी यदि कला को पूर्णतया वैज्ञानिक स्वरूप में ढालने के पक्षपाती हैं तो यशपाल उसे मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपित करने के आग्रही हैं। यशपाल पुरुष-पौरुष के लेखक हैं, किंतु मनुष्य की तुलना में उन्हें मतवाद[2] प्रिय है।" यशपाल में नैतिक मनुष्य की धारणा में सन्देह तथा मनुष्य सत्ता की विकासमान परिणति की संभाव्यता में आस्था का अभाव दर्शाते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि यशपाल का जीवन-चित्रण निरंतर मनुष्य का आधार खोजता है, किंतु वास्तविक मनुष्य और जीवन से उसकी संगति नहीं बैठ पाती। जिस प्रकार प्रेमचंद का

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.54
2. वही, पृ.54

कृतित्व जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से आत्मवान है वह विशेषता यशपाल के सिद्धांत-प्रेरित कृतित्व में कम ही उभर पाई है।[1]"

यशपाल की भाषा और अभिव्यंजना को अनगढ और रूक्ष मानते हुए भी वे यह स्वीकार करते हैं कि उनके लेखन में एक विशिष्ट शैली का तत्व मौजूद है। परस्पर-विरोधी तत्वों को एक दूसरे के समीप और अभिमुख रखकर इतने मार्मिक ढंग से उसका चित्रण किया जाता है कि उससे आकर्षक कला की उद्भावना हो जाती है। उनके व्यंग्य भी सशक्त आघात पहुँचानेवाले हैं। इसलिए वाजपेयीजी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की तुलना में जीवन की व्याप्ति और सामाजिक जागरूकता यशपाल में ही देखते हैं।

कलात्मकता की पुरजोर उपेक्षा करके मात्र उपयोगितावाद की दुहाई देने की प्रवृत्ति वाजपेयीजी को अरुचिकर लगती है। वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री एवं राहुल सांकृत्यायन की चर्चा में राहुल की लेखनी की शक्तिमत्ता, वर्मा के उपन्यास में लक्षित चेतना और रोमान्स के समन्वय की ओर संकेत किया गया है। भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि की रचनाओं को साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायक मानते हुए भी, मौलिक तत्वों को उपस्थित करने की ओर इनकी दृष्टि बहुत कम ही गयी है, यही वाजपेयी जी की राय है। धर्मवीर भारती के दो उपन्यासों में "सूरज का सातवाँ घोडा" को "गुनाहों का देवता" की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना गया है। उनकी दृष्टि में "सूरज का सातवाँ घोडा" अधिक प्रौढ है और "गुनाहों का देवता" अतिशय सामान्य और छिछली कृति है[2]।" नरेश मेहता तथा कुछ अन्य लेखकों की शिल्प-प्रधान कृतियों में वस्तु-तत्व अथवा जीवन-तत्व की रेखाएं प्राय: क्षीण है[3]।

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.55
2. वही, पृ.56

उदयशंकर भट्ट और अमृतलाल नागर के विषय में उनका यही विचार है कि उनकी कृतियों में आंचलिकता की पुट नहीं आ पायी है । वाजपेयी जी हिन्दी उपन्यास के वस्तु-तथ्य अथवा रचना-शिल्प में परिवर्तन के आग्रही हैं । उपर्युक्त उपन्यासों में ये विशेषताएँ वे नहीं देखते । उनके विचार में "ये नये उपन्यास उनके लिए अधिक नए पाठकों की सृष्टि कर सके हैं, यह सच है, पर उपन्यास साहित्य की रूपात्मक या भावात्मक गतिविधि में कोई बडी क्रांति नहीं हो पाई है[1]।" क्रांति उपस्थित कर नये रास्ते की ओर उन्मुख करने में "रेणु" और नागार्जुन को सफल मानते हुए उन्होंने लिखा है कि यद्यपि नागार्जुन के उपन्यासों में व्यंग्य की अधिकता एवं गन्दलापन भी हैं तथापि हिन्दी उपन्यास को नई दिशा देने में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है । रेणु ने भी अपने दो उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास के विषण्ण और अतिशय गतिहीन वातावरण में एक नई स्फूर्ति, सक्रियता और उत्साह की सृष्टि कर दी है[2]।" प्रेमचंद के पश्चात् उसी राष्ट्रीय चेतना का, उसी सजग कल्पनाशक्ति का लेखक वे रेणु को ही मानते हैं क्योंकि "छोटी सीमा में दिखाई पड़नेवाली जीवन की बारीक से बारीक विविधता का प्रदर्शन और उन चित्रणों द्वारा संपूर्ण सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन चेतना की अभिव्यक्ति में रेणु अधिक समर्थ हुए हैं[3]।" राष्ट्रीय चेतना से दोनों संपन्न हैं, किंतु स्थानिकता का आकर्षण प्रेमचंद की अपेक्षा रेणु में वे अधिक पाते हैं । किंतु रेणु की भाषा पर वे चिंताग्रस्त हैं । वाजपेयी जी का मत है कि यदि ये उपन्यास खडीबोली में लिखे जाते तो अधिक आकर्षक लगते । वे यह सन्देह प्रकट करते हैं कि यदि रेणु जी अपने उपन्यासों में आंचलिक भाषा का प्रयोग करते रहेंगे तो उनके पाठकों की संख्या सीमित हो सकती है और उन्हें हिन्दी उपन्यासकार का पद देने में भी बाधा उपस्थित हो सकती है । किंतु साथ ही उन्होंने यह भी व्यक्त

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ.56
2. वही, पृ.56
3. वही, पृ.57

किया है कि संप्रति भाषा के प्रश्न को अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं है ।

विविध युग के विविध लेखकों की औपन्यासिक कृतियों की इस चर्चा से वाजपेयी जी के उपन्यास-विषयक विचारों पर प्रकाश पड़ता है । कृति चाहे पुरानी हो या नयी, उसमें अभिव्यक्त भाव और उन भावों की अभिव्यंजना शैली इन पर ही वे ध्यान देते हैं । जीवन के सारभूत तत्वों को, संपूर्ण सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना को समाविष्ट कर रूप-रूप जीवनानुभवों से संचित संवेदनाओं की अभिव्यक्ति, जिंदगी की गन्दगियों के स्पष्टीकरण का सामर्थ्य जिन-जिन रचयिताओं की जिस-किसी कृति में भी व्यक्त हुआ है उन्हें वे अवश्य महत्वपूर्ण मानते हैं । किसी कृति को, केवल नया होने मात्र से वे महान नहीं मानते बल्कि विषय वस्तु एवं लेखन प्रक्रिया को गतिशील रखकर मौलिक परिवर्तन उपस्थित करने की ओर जो कलाकार सतर्क रहता है, रचना-शिल्प की नवीनता के साथ जीवन-तत्व की जीवंत रेखाएँ प्रस्तुत करने की ओर जो उन्मुख रहता है, उसी को वे श्रेष्ठ कलाकार की संज्ञा से अभिहित करना चाहते हैं ।

नये उपन्यास की व्याख्या करते हुए वाजपेयी जी ने हिन्दी उपन्यास की संक्षिप्त विकास-रेखा और कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय दिया है । इस विकासक्रम में उन्होंने तीन त्रयियों का उल्लेख किया है । प्रेमचन्द, प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा की पहली त्रयी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्रकुमार की मध्यत्रयी तथा यशपाल, अज्ञेय और जोशी की तीसरी त्रयी । इस त्रयी में "अश्क" को भी स्थान दिया गया है । प्रसाद के तीन उपन्यासों में तितली उनकी दृष्टि में अधिक कलात्मक कृति है । वर्मा जी के उपन्यासों को वे आदर्श पद्धति पर जीवनानुभव से पूर्ण वर्णन-प्रधान कृतियाँ मानते हैं । मध्यत्रयियों के

उपन्यासों में वाजपेयी जी ने यह दुर्बलता दर्शायी है कि वे कभी कभी सामाजिक प्रगति की भूमि को छोड़कर दर्शन और मनोविज्ञान के नाम पर निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्बलता को ही अंकित करते हैं । सामाजिक प्रगति वैयक्तिक चरित्रांकन और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण परिस्थितियों के निर्माण का सामर्थ्य न हो सकने के कारण वाजपेयी जी इसे एक नया प्रवर्तन मात्र मानते हैं । उनके मत में सामाजिक प्रगति के साथ वैयक्तिक चरित्रसृष्टि, नये मनोविज्ञान पर नयी नैतिकताका निर्माण तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण और परिस्थिति-निर्देश का दार्शनिक तत्वज्ञान ये तीनों बातें खतरनाक हैं । यशपाल की प्रतिभा को बहुमुखी मानते हुए भी इस पर वे आश्चर्य प्रकट करते हैं कि सिद्धांत विशेष की छाया में, दार्शनिक या बौद्धिक कटघरे में अपनी शक्ति सीमित रखने को वे उन्मुख हुए । किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धांत की गुलामी से साहित्य एवं मनुष्य कुंठित हो जाएगी, यही वाजपेयी जी का विचार है ।

जोशी जी के दृष्टिकोण पर भी वे पूर्णत: संतुष्ट नहीं हैं । वैज्ञानिक विशेषज्ञता का साहित्यिक उपयोग वे भी आवश्यक मानते हैं । किंतु यथार्थवाद और वैज्ञानिक सत्य के नाम पर कुछ चुने हुए वैज्ञानिक क्षेत्रों से सामग्री लेकर वास्तविक मानव चरित्र और सामाजिक विकास-क्रम का पूरा दिग्दर्शन नहीं हो सकता । विज्ञान के नाम पर चित्रित किये जानेवाली हीन और रुग्ण भावनाओं को श्रेष्ठ साहित्य के अंतर्गत स्थान देना वे बिलकुल हानिकारक समझते हैं ।

नवीन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के स्वरूप पर विचार करते हुए वे यही निष्कर्ष निकालते हैं कि स्वस्थ सामाजिक चेतना की कमी और कला के क्षेत्र में अतिरिक्त बौद्धिकता और विज्ञान के प्रवेश के कारण प्रेमचंदोत्तर युगीन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्रेमचंद की गौरवपूर्ण परंपरा का सच्चा उत्तराधिकारी बनने की क्षमता नहीं है । नये उपन्यास की कमियों और

ज़्यादतियों को प्रस्तुत करने के साथ ही उनकी उपलब्धियों पर भी उन्होंने ध्यान दिया है - इस ओर उन्होंने ध्यान दिया है कि यदि प्रेमचन्द के उपन्यास राष्ट्रीय श्रेणी की कृतियाँ हैं तो यशपाल और अज्ञेय, इलाचन्द्र और जैनेन्द्र तथा राहुल और वृन्दावनलाल अंतर्राष्ट्रीय या विश्व-श्रेणी का कृतित्व उपस्थित कर सके हैं ।

उपन्यास-विषयक वाजपेयी जी के पूरे विवेचन से विदित होता है कि उसकी प्रगति पर वे बिलकुल आश्वस्त हैं । नये उपन्यासकारों की प्रतिभा और अनुभव की प्रचुरता, उनके व्यक्तित्व की सुव्यवस्थित साधना और क्षमता यद्यपि उनको मान्य है तो भी प्रेमचन्द को ही सर्वोत्तम गौरव प्रदान करते हुए वे स्थापित करते हैं कि "कला और साहित्य की प्रगति में हमारा युग प्रेमचंद से आगे बढ आया है, परन्तु उनकी जोड का दूसरा व्यक्तित्व आज तक उपन्यास-क्षेत्र में नहीं आ सका है ।

व्यक्तिवादी उपन्यास

वाजपेयी जी के शब्दों में वे सभी उपन्यास व्यक्तिवादी कहे जाएगी जिनमें व्यक्तिगत जीवन-घटना, व्यक्तिगत चरित्र, व्यक्तिगत जीवन दर्शन, व्यक्तिगत मनोविज्ञान या व्यक्तिगत जीवन-समस्या का निरूपण या निर्देश सर्वोपरि रहा करता है । "इसके दूषित पहलुओं पर ध्यान देते हुए भी उनकी दृष्टि अधिकतर उसके गुणपूर्ण पहलुओं पर ही पडी है । व्यक्तिवादी उपन्यास की रूपरेखा निर्धारित करते हुए वे बताते हैं कि ये सदैव एक सीमित प्रभाव और लक्ष्य की ही पूर्ति नहीं करते, कभी कभी ये अत्यंत मार्मिक और प्रभावशाली परिणामों की भी सृष्टि करते हैं, जिनसे देश और काल को नयी दृष्टि मिलती और उनका नया अभ्युत्थान होता है ।

उनके मत में ऐसे कई व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं जिनकी दृष्टि अत्यंत निर्मल है, कला अतिशयपूर्ण और प्रौढ है तथा जिन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व और नैतिकता का पूर्ण ज्ञान है । वे यहाँ तक मानते हैं कि वर्तमान युग में ये व्यक्तिवादी कृतियाँ सामायिक भी पूर्णत: बनायी जा सकती हैं क्योंकि आज ज्ञान-विज्ञान की अपूर्व उन्नति हुई है तथा मानव व्यक्तित्व की जटिलता पर अनेक दिशाओं से प्रकाश पडा है । गंभीर, नाटकीय एवं मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करनेवाले व्यक्तिवादी चित्रणों की प्रभावात्मकता तथा चरित्रों के अंतर्संघर्ष से भरे घात-प्रतिघात को वे कला की दृष्टि से अप्रतिम मानते हैं । जैनेन्द्र की सूक्ष्म किंतु व्यंजक चित्रण-क्षमता, कला की नई बारीकियाँ तथा मोहक व गतिशील नाटकीय शैली की वे अत्यंत प्रशंसा करते हैं । किंतु मनोविश्लेषण की तटस्थता न होने के कारण अज्ञेय के उपन्यासो को वे पूर्णत: व्यक्तिवादी नहीं मानते । उच्चवर्गीय वस्तुस्थिति का चित्रण होने के कारण सामाजिक वस्तुस्थिति का भी अभाव दर्शाते हैं । वे यह भी मानते हैं कि रचना और वर्णन संबंधी गुणों के होते हुए भी अज्ञेय की कृतियों का उपेक्षाशील व्यक्तित्व उन्हें महान सौष्ठव प्रदान करने में असमर्थ है ।

वाजपेयीजी की दृष्टि में जोशी जी भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार नहीं क्योंकि उनके मनोवैज्ञानिक चित्रण व्यक्ति की असामान्य परिस्थितियों से संबद्ध रहते हैं, और असाधारण वातावरण की सृष्टि करते हैं, उनमें संपूर्ण वैज्ञानिकता नहीं है तथा थोडी बहुत एकरूपता रहती है । वे स्थापित करते हैं कि जिस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यास यौन वर्जनाओं के कच्चे उभार की सूचना देते हैं, और जिस प्रकार अज्ञेय की कृतियों में आत्मश्रेष्ठता या अहं की भावना का व्याघात बना रहा है, उसी प्रकार जोशी की औपन्यासिक रचनाओं में निपीडन, निष्कासन अथवा हत्या आदि की व्यक्तिगत विषाद और आत्मग्लानिजन्य भावनाएँ रहा करती हैं ।

इस प्रकार जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी इन तीनों को वाजपेयी जी ने मनोवैज्ञानिक से बढ़कर व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की कोटि में स्थान दिया है ।

उपन्यास की भाँति नवीन कथा-साहित्य की प्रगतिशील दिशाओं पर भी वाजपेयी जी की दृष्टि पडी है । उनकी दृष्टि में आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य अतीत की गौरव गाथा और राष्ट्र-प्रेम के दायरे से निकलकर मानव की वैज्ञानिक खोजों और विश्व की नवीनतम समस्याओं तक पहुँच रही है, मस्तिष्क और मन से प्रारंभ होकर वर्ग संघर्ष के व्यापक स्वरूपों तक उन्होंने अपनी पहुँच दिखाई है । निर्वासितों की समस्या, भ्रष्टाचार की समस्या, शराबी, वेश्या और चरित्रहीन व्यक्तियों की समस्य जैसे सामाजिक सत्यों को ढूँढने की जो चेष्टा आधुनिक कथा-साहित्य में होती आयी है उसे वे युग की आवश्यकता के बिलकुल अनुरूप मानते हैं ।

नाटक

नाटक के तत्वों का विवेचन वाजपेयी जी ने पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-तत्वों के आलोक में किया है । इस विवेचन में अपनी कोई मान्यता वे प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि पूर्वी एवं पश्चिमी आचार्यों द्वारा निर्धारित बातों का एक विवरण ही दिया गया है । एक ओर पूर्वी दृष्टिकोण के आधार पर वर्ण्य वस्तु, पात्र उद्देश्य, उसके विभिन्न प्रकार, कार्यावस्थाएँ, अर्थ-प्रकृतियाँ, पंच-संधियाँ, नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेद, विभिन्न वृत्तियाँ आदि पर विचार किया गया है तो दूसरी ओर पश्चिमी तत्वों के विवेचन में अरस्तू के नाटक-संबंधी नियमों की भी चर्चा की गयी है । नाटक के देश-काल, आलाप-संलाप आदि को महत्व देनेवाले नवीन समारंभ की ओर भी संकेत किया गया है । नई नाट्य-भूमिका की चर्चा में

उन्होंने नाटक के लिए राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण का प्रश्न उठाया है । दर्शकों के सामूहिक माँग की पूर्ति करने में हिन्दी नाटक कहाँ तक सफल रहे हैं, सार्वजनिक जीवन में नाटकों के अभिनय की कैसी व्यवस्था है, सार्वजनिक अभिनय की योग्यता कितनी है सफल नाटकों के प्रणयन के लिए कौन-कौन-सी योजनाएँ बनायीं जा सकती है आदि विभिन्न प्रश्नों पर उन्होंने विचार किया है । वाजपेयी जी के विचार में "नाटक, गंभीर अभिनेय नाटक - कला की सर्वोत्तम सृष्टि है । मानव चरित्र को शक्ति और गति देने में, सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने में, जीवन का नव-निर्माण करने में जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकता है, उतना दूसरी कोई कलाकृति नहीं । नाट्य-कला ही समृद्धिशाली देशों की प्रतिनिधि और सर्वोत्तम कला रही है । विभिन्न राष्ट्रों के कला-संबंधी उत्कर्ष को मापने के लिए नाटक ही सर्वप्रमुख उपादान रहा है[1]।" नाटक और नाटककारों की आवश्यकता सभी युगों में रहती है । कारण यह है कि सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य सामूहिक भावना से परिचालित रहता है और सामूहिक उपयोग में सहायता देनेवाला प्रमुख साहित्यांग नाटक ही है । इसलिए वाजपेयी जी इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि नाट्यकृतियों का तिरोभाव किसी भी युग में नहीं होना चाहिए । कोई भी साहित्यिक विधा नाटक का स्थान नहीं ले सकती जो नाटक के अभाव से होनेवाली क्षति की पूर्ति कर सकती है । वाजपेयी जी के मत में राष्ट्रीय रंगमंच संस्कृति का आवश्यक अंग होना चाहिए । राष्ट्रीय रंगमंच नैसर्गिक विकास तो है ही, एक अनिवार्य आवश्यकता भी है[2]।"

राष्ट्रीय रंगमंच की नींव डालने के लिए ऐसे गंभीर नाटकों के निर्माण की ओर वाजपेयीजी ने संकेत किया है जिनमें युगानुरूप सामूहिक

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.62
2. वही, पृ.62

रुचियों एवं प्रवृत्तियों से युक्त राष्ट्रीय जीवन एवं मनोभावनाओं को प्रतिबिंबित किये जाने के साथ ही साथ प्राचीन भारतीय परंपरा से प्रभाव भी ग्रहण किया जाय । इस महत्वपूर्ण तथ्य पर उन्होंने विशेष बल दिया है कि चाहे गद्य-नाटक हो या पद्य-नाटक, राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण अत्यंत आवश्यक है और इसके लिए सरकार की ओर से भी सहायता दी जा सकती है । लोक नाट्य ही राष्ट्रीय रंगमंच को जीवित रखता है । उनका विचार है कि जब तक ग्रामों और उपनगरों से लेकर छोटे-बड़े समस्त स्थानों में लोक-नाट्य का प्रसार नहीं होता, जब तक एक छोर से दूसरे छोर तक उसका जाल नहीं बिछ जाता तब तक किसी केन्द्रीय रंगमंच की बात करना एक तत्वहीन विचार है । हिन्दी प्रदेशों में प्रचलित विविध प्रकार के लोक-नाट्यों को समुचित प्रोत्साहन और सहयोग देकर संगठित और परिष्कृत करना भी आवश्यक है ।[1] जन-नाट्य जनता की अपनी वस्तु है और जनता के प्रयत्नों द्वारा ही उसका विकास भी संभव है । यद्यपि उसके लिए किसी निश्चित प्रकार की योजना या व्यवस्था आवश्यक नहीं है तो भी उसके सुधार एवं परिष्कार में लेखक और कलाकार का योगदान विशेष महत्वपूर्ण है । नाट्य-विकास के लिए राष्ट्रीय नाट्य-कला का उत्थान अथवा जन-नाट्य की प्रतिष्ठा वे करना चाहते हैं । विभिन्न स्तरों एवं विभिन्न सामाजिक भूमियों के लिए विभिन्न प्रकार की कृतियों का निर्माण होना चाहिए और इन कृतियों के बीच एक नैसर्गिक शृंखला भी होनी है । जन समाज की रुचि के परिष्कार तथा उनकी तुष्टि अधिकाधिक व्यवस्थित एवं उन्नत जन नाट्य के निर्माण द्वारा ही हो सकती है और राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में भी यही सहायक होता है ।

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.60

भारतीय नाटकों की सुखांत-व्यवस्था को वे भारतीय प्रकृति के बिलकुल अनुकूल मानते हैं । इसे वे भारतीय नाटक की एक विधि या शैली मात्र मानते हैं क्योंकि यहाँ के नाटककार जीवन के कठोर यथार्थ और वास्तविकता से अपरिचित कभी नहीं है और सुखात्मक एवं दु:खात्मक दृश्यों के प्रदर्शन में वे समान अभिरुचि और सामर्थ्य रखते भी है[1] ।" वाजपेयी जी का आदर्शवादी दृष्टिकोण भारतीय नाटककारों की आदर्शवादी धारणा को सही मान लेता है क्योंकि यह आदर्शवादी धारणा और दृष्टिकोण, जिसे में जीवन की वास्तविकता और उसके अनिवार्य संघर्षों और दु:खों की अवहेलना न करके सुखात्मक और दु:खात्मक दोनों पक्षों पर सदैव दृष्टि रही है, ही भारतीय नाटकों को कुरूप और भोंडे यथार्थ के स्थान पर ऊँची भावनात्मक और आदर्शात्मक प्रेरणा देता रहा है[2] ।" भारतीय दृष्टिकोण की व्यापकता का एक कारण वे यह भी बताते हैं कि "रस की अनुभूति यहाँ सुखात्मक दृश्यों पर भी अवलंबित रह सकती है और दु:खात्मक दृश्यों पर भी । उनकी दृष्टि में रस अतिशय स्वतंत्र, सार्वजनिक तथा अव्याहत काव्य-तत्व है[3] ।" इस कारण से भारतीय नाट्यधारणा को वे अधिक तात्त्विक और तथ्यपूर्ण स्थापित करते हैं । वे स्पष्ट करते हैं कि उनका संबंध जीवन की वास्तविकताओं से है ।

यथार्थवादी या प्रकृतिवादी दृष्टिकोण नाटक के विषय में असमीचीन है । क्योंकि कि जीवन में प्रतिदिन घटनेवाली घटनाओं एवं दृश्यों को ज्यों का त्यों किसी कला-कृति में उतार देने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता । यथार्थवादी प्रतिबन्धों के रहते नाट्य-कृति के लोकप्रिय होने में सन्देह रह जाता है क्योंकि प्रखर प्रतिभा ही ऐसी उत्कृष्ट कृतियाँ प्रदान कर सकती है । नाटक में बहिरंग स्थितियों और

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.267
2. वही, पृ.267-68
3. वही पृ.268

प्रश्नों के चित्रण के साथ ही गहरी संवेदना के लिए भी अवकाश होना चाहिए । ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रसंगों में आधुनिक सामाजिक समस्याओं का समावेश किये जाने के सन्दर्भ में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उनमें प्राचीन और नवीन का संतुलित सामंजस्य हो पाया हो । हिन्दी नाटक के लिए यथार्थवाद की असमर्थता की ओर संकेत करते हुए वाजपेयीजी बताते हैं कि "यदि अभिज्ञान शाकुंतलम" को भारतीय नाटक का प्रतिनिधि उदाहरण मानें तो कहना होगा कि हिन्दी नाटक में दैनिक जीवन का यथार्थवाद या प्रकृतिवाद बहुत दूर तक नहीं चल सकता ।[1] गद्य - नाटकों के विषय में भी उनकी यही राय है । किंतु हिन्दी-नाटकों की जो पद्यमयी संगीतात्मक धारा है उसका सम्यक् मूल्यांकन एवं उसकी रंगमंचीय क्षमता की परीक्षा वे आवश्यक मानते हैं । उनकी आशा है कि इन पद्य-नाटकों से हिन्दी-नाटक के आगामी विकास की एक नई और फलप्रद दिशा का संकेत मिल सकता है ।

उच्च स्तर के नाटक के लिए, उसे अधिक गंभीर बनाने, उसके उपदेशात्मक न होने के आग्रह से कुछ लेखक नाटकों में व्यक्तिगत मनोदिशा की प्रमुखता आवश्यक मानते हैं । ऐसे नाटक लेखक की किसी निजी विचारदिशा या मनोग्रंथि के परिणाम होते हैं । ऐसा करते हुए वे यह दावा करते हैं कि अपने नाटकों में व्यक्तिगत निष्ठा और निजी मानसिक छाया पर इसलिए ज़ोर देते हैं कि नाटक छिछला और उपदेशात्मक न रह जाय । किंतु वाजपेयी जी का मत है कि ऐसे नाटक रंगमंच के लिए उपयोगी नहीं हो सकते । नाटक के लिए अनुभूति की सार्वजनिक ग्राह्यता वे आवश्यक समझते हैं । उनकी दृष्टि में सामूहिक भावभूमि पर निर्मित होकर समूह का बल प्राप्त करने में ही सुखान्त, दु:खान्त सभी प्रकार के नाटकों की

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ॰64

सफलता निहित है । श्रेष्ठ कृतियाँ वही प्रदान कर सकता है जिसकी निजी जीवन-दृष्टि महान् उदारता एवं आस्था से समन्वित हो । निजी असंतोष, निजी दु:ख, संवेदन जब सामूहिक बन जाता है तभी नाटक उच्च स्तर का माना जा सकता है । "नाटक के लिए वही निष्ठा और वही अनुभूति मूल्यवान है जो सार्वजनिक निष्ठा और सार्वजनिक अनुभूति के समीप हो । लेखक अपने कृतित्व द्वारा समष्टि की भावचेतना के जितना अधिक निकट जा सकेगा उतनी ही उसकी कृति स्थिर मूल्योंवाली होगी[1] ।" नाट्य जगत् में लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि नाटककार सदैव सामूहिक जीवन के प्रति, सार्वजनिक अनुभवों, आकांक्षाओं और विश्वासों के प्रति सजग रहे, निजी संवेदनों से बढकर समष्टि संवेदनों के प्रकाशन की ओर उनका अधिक ध्यान रहे । इसलिए वाजपेयी जी स्पष्टत: स्थापित करते हैं कि "श्रेष्ठ नाटक की मूल प्रेरणा समष्टिगत ही हो सकती है । कलाकार का विशेषकर नाट्य-सृष्टि के कर्ता का, राष्ट्रीय जीवन के चेतन और अचेतन अंगों से गहरा संपर्क और सम्बन्ध रहना ही चाहिए[2] ।"

नाटक की भाषा पर भी वाजपेयी जी ने विचार किया है । भरतमुनि के विचारों के आधार पर वे भी पात्रानुरूप भाषा आवश्यक समझते हैं । भाषा कभी निर्जीव न हो, आलंकारिक प्रयोगों के पीछे पड़ने की प्रवृत्ति से भी वह यथाशक्ति मुक्त रहे । भाषा की विविधता अपेक्षित है, किंतु विशृंखलता से दूर रहना है । नाटक की विषयवस्तु, वातावरण तथा उसके वांछित प्रभाव से उसकी भाषा का समीकरण होना आवश्यक है । नाटक में भाषा-प्रयोग को वे अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं । उनके मत में वही भाषा सजीव मानी जा सकती है जो नये प्रयोगों से युक्त होकर नयी अर्थ-भूमियों का

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.65
2. वही, पृ.66

सकेत करती हो । जो कलाकार सामाजिक जीवन में रहकर भाषा संबंधी नये प्रयोगों और नई उद्भावनाओं से जितने समीप का संबंध रखेगी उनकी भाषा उतनी ही नाट्योपयोगी होगी ।"

प्रसाद के नाटक

प्रसाद जी के नाटक की सामान्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हुए वाजपेयी जी ने ऐतिहासिक नाटकों के विषय में भी अपने विचार प्रकट किए हैं । ऐतिहासिक नाटककार की गणना विशुद्ध नाटक-रचयिता की कोटि में वे नहीं करते क्यों कि अतीत की घटनाओं के अनुवर्तन की आवश्यकता पड़ने के कारण, रचयिता को निर्माण में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिलती है । उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक नाटकों के दो प्रतिबन्ध होते हैं - प्रथम कला-संबंधी और दूसरा इतिहास-संबंधी । नाटक की सफलता इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने में है । साहित्य की निजी सत्ता सुरक्षित रखने केलिए उसमें जीवन की सजीवता के साथ सामाजिकता का समावेश भी वे अवश्यक समझते हैं । इसलिए वे मानते हैं कि "कोरी राजनैतिक या ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर नाटक में मानवीय मनोभावना की स्वाभाविकता नहीं आ सकती, पात्रों के सामाजिक जीवन-चित्रण के साथ उनकी वैयक्तिक रुचि और सत्ता का प्रदर्शन भी अपेक्षित है[2]।" "स्कन्दगुप्त" का कथानक इन दोनों पार्श्वभूमियों पर चित्रित होने के कारण उसकी कला-क्षमता प्रसाद जी के अन्य नाटकों की अपेक्षा ऊँची मानी गयी है । उनके नाटकों की उल्लेखनीय विशेषताओं की ओर सकेत करते हुए वे बताते हैं कि इतिहास का घटना-संबंधी बंधन स्वीकार करते हुए भी पात्रों में जिस सजीव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की जा सकती है, वह नाटककार की स्वतंत्र नियोजना है, उनका महत्त्वपूर्ण प्रदेय है । तथा हिन्दी-नाटकों के इतिहास में यह एक नवीन अध्याय का सूत्रपात है । वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि केवल इतिहास का

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ.66
2. आधुनिक साहित्य, पृ.282

वर्णनात्मक प्रतिपादन करके रह जाना प्रसाद जी का अभीप्सित नहीं रहा, वे अपने पात्रों को एक व्यक्तित्व देना चाहते हैं और उनके माध्यम से एक संपूर्ण संस्कृति को व्यंजित करते हैं । वाजपेयी जी की दृष्टि में यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि कवि-कल्पना की क्षमता एवं इतिहास-दृष्टि के कारण ही प्रसाद जी अपने नाटकों को अतीत के दृश्य मात्र न रहने देकर आधुनिक युग के अनुरूप बना लेने में समर्थ हो सके हैं । इस ओर भी वाजपेयी जी ध्यान दिलाते हैं कि उनके नाटक युगीन वातावरण को चित्रित करते हुए भी अनेक स्थलों पर राष्ट्रीय भावना से भी परिचालित हैं तथा उनके पात्र केवल इतिहास रेखाओं में बंधे न रहकर अपने व्यक्तित्व को उद्घाटित करते हैं । भारतीय संस्कृति के प्रति जितनी आस्था प्रसाद जी में है, भारतीय इतिहास का जितना व्यापक ज्ञान उन्हें है उन्हीं का स्पष्ट प्रतिबिंब स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु जैसे नाटकों में परिलक्षित होता है । युग के सांस्कृतिक संघर्षों एवं सामाजिक रीति-नीतियों का जीवंत चित्रण उनके नाटकों में मिलता है । इतिहास के अंतर्गत संस्कृति का भी समन्वय कर उसका सही स्वरूप उपस्थित करने की निरीक्षण-कुशलता प्रसाद जी में थी और वाजपेयी जी की अंतर्दृष्टि भी इतनी गहरी थी कि उसका समुचित मूल्यांकन वे कर सके । कवि प्रसाद ने अपने नाटकों के सांस्कृतिक वातावरण को व्यंजित करने में जिस काव्यात्मक शिल्प का सहज प्रयोग किया है उसकी वाजपेयी जी प्रशंसा करते हैं । इस गुण पर भी उनकी दृष्टि पड़ती है कि प्रसाद जी का गद्य कवित्व के अधिक समीप है । उनके नाटकों की उपयोगिता-अनुपयोगिता, उनकी त्रुटियां अथवा सीमाएं आदि पर भी विचार-विमर्श हुआ है । साथ ही उन्होंने उन परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला है जिनके प्रभाव से बचा रहना प्रसाद के लिए असंभव था और जिनसे प्रेरित होने के कारण ही उनके नाट्यशिल्प की ऐसी सीमाएं हो गयी थीं । जो भी हो, यह वे स्पष्टतया बता देते हैं कि अवश्य प्रसाद जी ने अपने नाटकों की अवतारणा से एक नये युग का समारंभ कर दिया है ।

प्रसाद जी के नाटकों के विषय में यह त्रुटि अनेक विद्वानों द्वारा बतायी गयी है कि वे अभिनेय योग्य नहीं है । इसलिए भारतेन्दु और जी·पी· श्रीवास्तव के प्रयत्न के परिणामस्वरूप भी हिन्दी नाटक के लिए रंगमंच के निर्माण का आग्रह सफल नहीं हुआ । इन दोनों विद्वानों के परिश्रम से जो कुछ इस क्षेत्र में हो सका था वह भी प्रसाद जी के नाटकों के आते-आते अस्तप्रभ हो गया । यद्यपि प्रसादजी के नाटक अभिनय की दृष्टि से भारतेन्दु युग के नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक परिश्रम-साध्य हैं तो भी वाजपेयीजी के विचार में उनके और उनके समानधर्मी नाटककारों की कृतियाँ अधिक साहित्यिक हैं तथा उचित साधनों के होने पर वे अभिनय के योग्य भी सिद्ध हो जाएंगी । नाटकों को अभिनेय बनाने के विषय में वाजपेयी जी की कुछ निजी मान्यताएं हैं । उनके विचार में अभिनेय न होने की वजह से किसी भी नाटक की गर्हणा नहीं की जानी चाहिए । नाटकों का अभिनेय योग्य संस्करण प्रस्तुत करने में वे कोई आपत्ति नहीं देखते । अभिनेयता और रंग-कौशल सभी नाटकों के लिए एक ही प्रकार के कभी नहीं हो सकते । "प्रत्येक नाटककार यदि वह अपने कार्य बुद्धिपूर्वक कर रहा है, अपनी स्वतंत्र विधि या पद्धति की सृष्टि भी करता है । वैसी स्थिति में उस विधि या पद्धति के अनुरूप अभिनेताओं का चयन और रंगोपचार होना चाहिए । बिना यह किए केवल नाटककारों को दोष देना समस्या को टालने या उससे मुँह मोड़ने से अधिक और कुछ नहीं है ।"[1]

समस्यामूलक नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र

ऐतिहासिक नाटकों की भाँति वाजपेयी जी ने समस्या मूलक नाटकों का भी स्वरूप स्पष्ट किया है । लक्ष्मीनारायणमिश्र के नाटकों की चर्चा में उन्होंने बताया है कि समस्या-नाटकों के रचयिता प्राय: बुद्धि-जीवी होते हैं । ऐसे नाटकों का प्रमुख दोष उनकी दृष्टि में यह है कि उनमें नाटकीय तत्वों की अपेक्षा समस्या-विवेचन ही अधिक रहता है । बौद्धिकता का अतिरेक वे हानिकारक मानते हैं । समस्या-निरूपण एवं

1· राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ·58

तर्कयुक्त कथोपकथन के साथ ही राष्ट्रीय जीवन की गंभीरता, चरित्र-सृष्टि, नाटकीय तत्वों का समावेश तथा दर्शक या पाठक की विचार-शक्ति उद्बुद्ध करने की क्षमता समस्या-नाटक के लिए वे आवश्यक समझते हैं। मिश्र जी के नाटकों को पाश्चात्य समस्या नाटकों की पद्धति से भिन्न माना गया है। शैली, वार्तालाप आदि को स्वाभाविक मानते हुए भी दृश्यांतर किए बिना पात्रों का आवागमन रंगमंच और अभिनय-कला की दृष्टि से दोषपूर्ण माना गया है। पात्रों की कमी भी उन्हें खटकती है।

किसी भी रचना की वास्तविकता अथवा सार्थकता के परीक्षण में समीक्षा तभी सफल मानी जा सकती है जब वह रचना में निर्दिष्ट विचारों की गहराइयों में प्रविष्ट होकर, रचनाकार के मूल दृष्टिकोण तथा मानसिक स्थिति से भली-भाँति अवगत होकर पूर्ण सहानुभूति से उसकी विवेचना करे। अपनी आस्थाओं से बढ़कर रचनाकार की दृष्टि और रुचि पर समीक्षक का अधिक ध्यान पडना चाहिए। उसमें कलाकृति से निरपेक्ष संबंध रहने के साथ ही कृतिकार की प्रेरक शक्तियों तथा उसकी रचना प्रक्रियाओं के विविध अंगों के विश्लेषण पर भी दृष्टि पडनी है[1]। अधिकतर समीक्षक किसी भावना-संपन्न कवि से कम भावुक नहीं होते क्यों कि कवि अपनी भावनाओं में जितने निर्लिप्त रहकर अपनी कलाकृति में उसको अभिव्यक्ति प्रदान करता है, उसके आस्वादन और आलोचन का कार्य भी उसी प्रकार के किसी भावुक सहृदय द्वारा ही हो सकता है। फिर भी विवेचक रूप ही उसमें आदर्श उभरता रहता है। रचना, व्याख्या एवं निर्णय की प्रवृत्ति उसमें रहती है[2]।" ए.सी.वार्ड के विचार में समीक्षा का कार्य वस्तुत: कृति में प्रस्तुत जीवन-सत्य के स्तर तथा गुण की परीक्षा करना है, इसलिए जीवन-परिवेश से असंबद्ध साहित्य-समीक्षा का मूल्य नहीं के बराबर है[3]।" अध्ययन, अन्वेषण स्पष्टीकरण और अंत में

---

1. Herbert Reed - Collected essays in Literary Criticism 2nd Edition, p.17

2. W.H. Hudson - An introduction to the study of Literature 2nd edition, p.267

3. A.C. Ward - 20th Century Literature - 3rd edition, p.212

प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया इसके अंतर्गत आती है । सत्य जिसमें सौंदर्य भी निहित हो, का प्रकाशन अथवा वास्तविकता का उद्घाटन ही साहित्य की भाँति समालोचना का भी प्रमुख कार्य है । और इस सत्योद्घाटन में रचना और रचयिता, आलोचना और आलोचक सब अपना अलग-अलग अस्तित्व खोकर एक दूसरे से एकमेक हो जाते हैं । यही आलोचना की चरम परिणति है । इसी अवस्था को अपनाकर आलोचक रचना का उत्कर्ष विधायक अंग बन जाता है । इस सत्य में मनुष्य का हित और जीवन का कल्याण भी सहज रूप से सन्निविष्ट हैं । "कोई भी साहित्यिक कृति किसी भी सत्य को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर पाती । वह केवल आंशिक सत्य का प्रतिपादन करती है । आलोचक की पैनी दृष्टि उस आंशिक सत्य के आधार पर पूर्ण सत्य को अंकित करती है और यह उसका दायित्व है ।"[1] इससे साहित्य को अधिक सुन्दरता, प्रौढता और चिरंतनता प्राप्त होती हैं । सामाजिक संचेतना का संपुष्ट रूप इसमें दिखाई देता है । साहित्य की कलात्मक महत्ता को उचित मान्यता देकर पाठक एवं कलाकार दोनों की रुचि का परिष्कार करने में, दोनों की चेतना-शक्ति को अधिक सजग, सक्रिया एवं विकासशील बनाने में, नयी अंतर्दृष्टि, नई सूझ-बूझ एवं नयी अभिव्यक्ति द्वारा उन्हें नई दिशा प्रदान करने में यह सहायक होती है । यही कार्य वाजपेयी जी के साहित्यिक अनुशीलन में भी दृष्टिगत होते हैं ।

निष्कर्ष

साहित्य के विविध रूप-काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि के विषय में वाजपेयी जी की जो धारणाएँ हैं उन्हींकी चर्चा इस अध्याय में की गयी है । प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी,

---

1. लक्ष्मीकांत वर्मा : नये प्रतिमान : पुराने निकष, पृ.166

इलाचन्द्रजोशी आदि की कृतियों की परख-पड़ताल में वाजपेयी जी ने जिस निर्णयात्मक क्षमता का परिचय दिया है उस पर यहाँ प्रकाश डाला गया है । रचना में निहित जिन गहन अनुभूतियों से लेखक अनुप्राणित हुए हैं, रचयिता की बहुमुखी प्रतिभा के जो महान अंश उनका संवेदनशील व्यक्तित्व आत्मसात् कर सका है उनका सही प्रकाशन इसमें हुआ है । सौन्दर्यानुभूति के प्रकाशन में समीक्षक वाजपेयी जी की मानसिक शक्तियाँ सदैव सजग रही हैं । विभिन्न रचनाओं के व्यापक अध्ययन द्वारा उन्होंने इन प्रश्नों का समाधान स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि उनमें काव्यशास्त्र के नियमों, मानव-प्रकृति और बाह्य-प्रकृति के स्थायी नियमों एवं मनोविज्ञान के मूलभूत नियमों की चरितार्थता कहाँ तक हुई है तथा सत्य के उद्घाटन में किन-किन आधारों को ग्रहण किया गया है । व्यापक संवेदना और सहृदयता, विषय की तह तक पहुँचकर उसकी आत्मा को पहचानने की शक्ति, रसग्राही दृष्टि तथा उच्च कोटि की निर्णयात्मक क्षमता प्रेमचन्द, जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, आदि के उपन्यास एवं कहानियाँ, प्रसाद एवं लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक तथा कामायनी, साकेत, कुरुक्षेत्र, कुणाल, कृष्णायन आदि के मूल्यांकन में लक्षित होती है । व्यवस्थित ढंग से परिष्कृत शैली में वे अपने विचार प्रस्तुत कर सके हैं ।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

चौथा अध्याय

साहित्य-संबंधी विभिन्न वाद - आचार्य वाजपेयी की दृष्टि में

साहित्य-संबंधी विभिन्न वाद - आचार्य वाजपेयी की दृष्टि में

काव्य और वाद

मानवीय ज्ञान और उससे प्रादुर्भूत विभिन्न विशिष्ट वृत्तियाँ ही सभी प्रकार के साहित्यिक सृजन के मूल में सक्रिय रहती हैं। रागात्मक एवं बौद्धिक परिप्रेक्ष्य इसके लिए अपेक्षित हैं। प्रथम से कला का जन्म होता है तो द्वितीय से ज्ञान-विज्ञान का संचय संभव होता है। पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे ने मूलत: ज्ञान के दो प्रकारों का प्रतिपादन किया है - सहजानुभूतिज्ञान (Intuitive Knowledge) तथा तर्कमूलक ज्ञान (Logical Knowledge) प्रथम प्रकार का ज्ञान कल्पना द्वारा और द्वितीय प्रकार का, बुद्धि द्वारा उपलब्ध होता है[1]। एक कलात्मक है और दूसरा बौद्धिक। इनमें से कला से काव्य का सम्बन्ध रहता है और बौद्धिक ज्ञान से वाद का। विशिष्ट प्रतिभा के धनी कवि की रचनात्मक

---

1. Benedetto Croce - Aesthetic, p.1

चेतना रागात्मक एवं काल्पनिक परिवेशों से अधिकाधिक व्यापकता ग्रहण करती हुई अप्रतिम सौन्दर्य की सृष्टि करती है । ऐसे उच्च स्तर की कला ही काव्य नाम से अभिहित की जाती है । आत्मानुभूति, सृजनात्मक कल्पना तथा सौन्दर्यपूर्ण दृष्टि तीनों के सामंजस्य से ही सच्ची कविता का निर्माण संभव है । "जिस कवि की प्रतिभा जितनी समुन्नत तथा ग्रहणशीलता जितनी प्रखर और विशद होगी उसकी आत्मानुभूति भी उसी अनुपात में भव्य और महान होगा ।"[1] शब्दों के माध्यम से भाव-ग्रहण एवं भाव प्रकाशन की प्रक्रिया चलती है । अर्थ-समन्वित शब्दों के प्रयोग से ही अभिव्यक्ति में चारुता, चमत्कार और आकर्षण आ जाते हैं । प्रत्येक साहित्यकार जीवन और जगत्-संबंधी अपने अनुभव और अपनी धारणाएँ रखता है, जो उसकी साहित्यिक कृत्यों में प्रतिफलित हुआ करती हैं । जिसके ये अनुभव और धारणाएँ जितनी अधिक दृढ होंगी और जो जितने अधिक कौशलपूर्वक उनकी शक्ति समेटकर अपने साहित्य में संकलित कर सकेगा, उसकी कृति उतनी ही अधिक प्रभावशालिनी होगी ।"[2] मनुष्य की सृजनात्मक चेतना एक ओर प्रत्यक्ष उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में जीवन को अपने अनुकूल व्यवस्थित कर विकसित होती है तो दूसरी ओर जीवन के महान् मूल्यों का अनुसंधान कर आत्मीय विकास में सहायक रहनेवाली रागात्मक प्रवृत्ति को भी पुष्ट करती है । जीवन का संस्कार करने में यह सहायक रहता है । उसकी गतिशील चेतना सदैव विभिन्न प्रकार की आत्मिक एवं बौद्धिक उपलब्धि तथा उसके पुनर्मूल्यांकन का प्रयास करती रहती है । कहीं प्रत्यक्ष और स्थूल तथा कहीं परोक्ष और सूक्ष्म साधनों द्वारा उसकी दृष्टि परिचालित और प्रभावित रहती है । "जीवन और जगत्, मानव और मानवेतर सत्ता तथा उसकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष निर्मिति के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण ही अपने निष्कर्षात्मक रूप में वाद का निर्माण करता है । सारत: वाद जीवन और जगत् के विभिन्न व्यापारों के प्रति एक सामूहिक परिवृत्त में मानवीय जिज्ञासा का

---

1. डॉ. राजेन्द्र मिश्र : आधुनिक हिन्दी काव्य, पृ.20

वह महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है जो अपने बौद्धिक उपक्रम में व्याख्या और विवेचन के आधार पर उपलब्धि मूल्यों को निष्कर्षात्मक पीठिका पर प्रतिष्ठित करता है।[1]" मनुष्य की चिंतन-सरणियाँ जब किसी विशिष्ट दृष्टिकोण के आधार पर महान तथ्यों को निहित मूल्यों की निष्कर्षात्मक भूमिका में प्रस्तुत करती हैं तभी वह वादी चिंतन माना जाएगा। "हर वाद अपने साहित्य एवं समाज के विशेष परिवेश मे अभिन्न रूप से जुडा हुआ है और उसके आन्दोलन के पीछे एक इतिहास है।[2]" कला और साहित्य की प्रकृति और प्रयोजन के अनुरूप विभिन्न वादों का उदय हुआ है। इन वादों को इसीलिए महत्वपूर्ण माना जाता है कि मानव जीवन के महत्तर मूल्यों तथा उपयोगी तथ्यों का संग्रथन करते हुए सभ्यता और संस्कृति के निर्माण एवं विकास में ये सहायक रहते हैं।

वाजपेयी जी और वाद

वाजपेयी जी साहित्य-जगत् में किसी भी मतवाद को अधिक प्रमुखता नहीं देना चाहते। वादों के अनावश्यक प्रभाव का विरोध करने का प्रमुख कारण यह है कि उससे किसी बात की या तो अतिप्रशंसा या अति-निन्दा ही की जाती है और इस अतिवादी दृष्टिकोण से साहित्य एवं समीक्षा की गतिविधि भी अधिक खतरनाक बन जाती है। "इन वादों के माध्यम से बहुत ही नपी-तुली विचार-दृष्टि पाठकों के सम्मुख रखी जाती है मतवादों की अधिकता और उनकी कट्टरता के परिणाम इतने अनिष्टकारी होते हैं कि उनसे साहित्यिक क्षेत्र में खण्ड-दृष्टियाँ बढ़ती हैं, छोटे-छोटे गिरोह बनते जाते हैं, स्वतंत्र रचनाकारों, कवियों और लेखकों के मार्ग में बाधा पड़ती हैं, उनकी सृजन-सम्बन्धी स्वच्छन्दता, प्रत्यक्ष अनुभव की स्वाधीनता और उनका संपूर्ण विचार-स्वातंत्र्य संकटग्रस्त हो रहा है।[3]"

---

1. डॉ. राजेन्द्र मिश्र : आधुनिक हिन्दी काव्य, पृ.45-46

उनकी दृष्टि में काव्य और साहित्य अनुभव और उद्भावना की वस्तुएं हैं, वे वादों या विचारों के आश्रित नहीं की जा सकतीं। वादों के अनपेक्षित प्रभाव से तथ्य की बात समझने में साहित्य के जिज्ञासु निष्पक्ष पाठकों को कठिनाई अनुभव होती है। सदैव संकट का सामना करते रहने की स्थिति से सहृदय, संवेदनशील पाठकों को मुक्त रखने का आग्रह वे प्रकट करते हैं। कृतियों के विषय में गलत निर्णय एवं भ्रामक धारणाएं पैदा की जाने की अवस्था किसी भी साहित्य के लिए वे उपादेय नहीं मानते। वाद की अपेक्षा काव्यविषयक उपपत्तियों को ही अधिक चिरन्तन एवं मूल्यवान सिद्ध करते हुए वे बताते हैं कि "काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आश्रय लेकर जो रूप निर्माण करती है, उसके अनुरूप अनुभूति प्रत्येक सहृदय को सभी समयों में अनायास ही होगी, किंतु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक बार निरूपण होता है वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका पड जाता है - कभी-कभी अर्धसत्य या असत्य भी बन जाता है, और तब उस वाद को नये व्यक्तियों द्वारा नया जीवन देने की आवश्यकता होती है, नये सिरे से समझाना होता है, नया संशोधन और नई उपपत्तियां रखनी पड़ती हैं और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नहीं हो पाता।[1]" वाजपेयी जी की दृष्टि में ऊंचे से ऊंचे आदर्श भी महान काव्य के निर्माण में सब समय सहायक नहीं होते। द्विवेदी युग की बौद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनात्मक मन के समस्त द्वारों का उद्घाटन न कर सकी, काव्य-विकास के बहुत से कपाट अवरुद्ध ही रहे।[2] इसी कारण द्विवेदी जी के युग-प्रवर्तक कार्य का स्वागत करते हुए भी उनकी उपयोगितावादी दृष्टि को वे मान्यता नहं दे पाते। लेकिन किसी प्रकार का बुद्धिवादी प्रतिबन्ध न रहने के कारण प्रसाद जी का काव्य-विकास निर्बाध और सच्छन्द गति से तथा बहुमुखी साहित्यिक दृष्टियों में हो पाया।[3]" कला की परख किसी पूर्व निश्चित

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.436-437
2. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : विज्ञप्ति, पृ.18
3. वही, पृ.18

दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर करने की प्रवृत्ति वे किसी भी स्थिति में शोभनीय नहीं मानते । क्यों कि किस रचनाकार ने किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी रचना की है, वह कितनी गहरी सहानुभूति उत्पन्न करता है, इसकी तो वह कृति ही प्रमाण है । इसके सम्बन्ध में न तो हम कोई सीमा पहले से बाँध सकतेहैं और न कोई नियम ही बना सकते हैं[1] ।" उनका विश्वास है कि दार्शनिकता अथवा बौद्धिकता के अधिक समावेश से रचना का सौरस्य नष्ट होने लगता है । यही नहीं, सुनिश्चित विचारों की अभिव्यक्ति से कृति उपदेशात्मक, कृत्रिम और असंबद्ध हो जाती है । वे मानते हैं कि काव्य के आकार-प्रकार, उसमें निहित मानव-व्यापार के बाह्य स्वरूपों, वर्गीकरणों आदि से पृथक् करके काव्योत्कर्ष की परख को ही प्रमुखता दी जानी चाहिए । कामायनी के विवेचन में उन्होंने स्पष्ट किया है कि "कोरा बुद्धिवाद या तो मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यों से विरक्त बनाकर घर से बाहर निर्जन में निकलवा देगा, या संसार को घोर वासनाओं में लिप्त कर देगा[2] ।" वे विश्वास करते हैं कि वादों के बखेड़े में रखकर हम किसी भी उच्च कविता के साथ न्याय नहीं कर सकते । वाजपेयी जी कलाकार की स्वतंत्र दृष्टि के उद्घोषक हैं ।

वाजपेयी जी कला के लिए कला, अनुशीलन केलिए अनुशीलन की भूमिका सच्चे साहित्य के लिए अनुपादेय घोषित करते हैं । समस्त अनुशीलनों में सजग साहित्यिक चेतना का ही वे आग्रह करते हैं जिसके अभाव में सारे क्रियाकलापों के यांत्रिक हो जाने अथवा कृति में असंतुलन आने की संभावना है[3] ।" काव्य-सृष्टि की रक्षा और विकास ऐसे बने-बनाये दृष्टिकोण द्वारा वे असंभव मानते हैं । उनके विचार में आज साहित्य के पवित्र मन्दिर में ऐसे साधकों की आवश्यकता है जो "जीवन की प्रगति के

---

1. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी : विज्ञप्ति, पृ.12।
2. जयशंकरप्रसाद, पृ.67
3. [illegible]

साथ काव्य-प्रगति का भी सम्बन्ध देख सके और जो काव्य की अपनी सत्ता को किसी काव्येतर या असाहित्यिक वाद की धींगा-धींगी में पड़ने से बचा सके।[1]" जैनेन्द्र और अज्ञेय-साहित्य के कलात्मक मूल्य को वे महत्व देते हैं, किन्तु उनकी तात्त्विक भूमि पर कई असंगतियाँ दर्शाते हैं।

वादों का विरोध वाजपेयी जी ने उन्हीं सूत्रों पर किया है जहाँ ये स्वतंत्र रूप से साहित्य पर शासन करने लगते हैं। नीति, बुद्धि, मनोविज्ञान, उपयोगिता, कला सबका समन्वित रूप ही सच्ची साहित्य-दृष्टि के निर्माण के लिए वे आवश्यक समझते हैं, उनकी समीक्षा-दृष्टि यही मानती है कि काव्येतर समस्त तत्व, वाद और साधना-क्रम स्वतंत्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें, परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर उन सबका पर्यवसान रचयिता की मनःस्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका के अंतर्गत हो जाना चाहिए क्यों कि काव्य का क्षेत्र भावों और मानव के चिर दिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं का क्षेत्र है और बाह्य-जगत् के आर्थिक या सैद्धांतिक विभेदों के रहते हुए भी मनुष्य मनुष्य है, उसके आदर्श और उसकी मानवीयता सभी सभ्य युगों में एक-सी ऊंची रह सकती है और साहित्य में वे ही आदर्श और वही मानव-स्वभाव प्रतिफलित हुआ करता है[2]।" इस आधार पर वाजपेयी जी स्थापित करते हैं कि "किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्त का लोहा मानकर उसकी चौहद्दी में बन्द हो जाना न केवल साहित्य के लिए एक बड़ी कुंठा है, मनुष्यता केलिए एक पंगुकारी रोग है[3]।" वादों का पल्ला पकड़ने की निरर्थकता की ओर संकेत करते हुए वे पूछते हैं कि जीवन की खुली धूप, हवा और मिट्टी से यथेष्ट खाद्यान्न लेने के बदले सिद्धान्त के गमले में रखें,

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ॰85
2. वही, पृ॰34।
3. वही, पृ॰43

चौबीस घंटे की छाया में पले साहित्य के पौधे कहाँ तक बढ़ पाएंगे ? कोई भी वाद काव्य की कसौटी नहीं बन सकता । वह काव्य की प्रेरक शक्तियों को, समय को और सामाजिक कर्तव्य को समझने में सहायक हो सकता है, किन्तु काव्य का नियामक नहीं बन सकता[1]।" काव्य के उत्कृष्ट स्वरूप पर धब्बे डालकर उसे विकृत करने में ही ये वाद सहायक हो सकते हैं । किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं होगा कि वादों का काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं । इस सम्बन्ध का वाजपेयी जी भी निषेध नहीं करते । वे साहित्य से वादों का सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अनुवर्ती रूप में । साहित्य की अपनी सत्ता के अंतर्गत उसके निर्माण में इनका स्थान है । ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नहीं[2]।" काव्य और वाद का क्षेत्र अलग-अलग है । इस पर प्रकाश डालते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं - "वाद एक स्थूल और परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि है । काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है । काव्य और वाद दोनों के स्वरूपों और प्रक्रियाओं में अंतर है । सामाजिक जीवन से दोनों का निष्क्रमण होता है । काव्य का भी और वाद का भी, किंतु एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, दूसरे की सैद्धांतिक और समूहमुखी । काव्य का कार्य है संवेदना की सृष्टि करना, वाद का कार्य है ज्ञान-विस्तार करना । वाद का स्वरूप एकदेशीय है, काव्य का सार्वभौम[3]।" उदात्त भावों द्वारा उदार संवेदना की सृष्टि करना ही किसी भी कलाकृति का उद्देश्य है । किन्तु वादी साहित्य कोई संवेदना नहीं उत्पन्न करता । वह समाज के लक्ष्यहीन स्वरूपों को अंकित कर लक्ष्यहीनता की ही सृष्टि करता है[4]।" विघटनकारी शक्तियों को प्रश्रय देना वे साहित्यिकों के प्रति ही अन्याय और अपराध समझते हैं ।

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.432
2. वही, भूमिका, पृ.433
3. वही, पृ.436
4. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ.32

इसीलिए बार-बार वे स्मरण दिलाते हैं कि "साहित्य की गतिविधि को मतवाद का शिकार बनने न देकर उसे फूलने-फलने का अवसर दें । इन मतवादों के साथ ही साहित्य के ऊपर जो राजनीतिक पद्धतियाँ और दबाव काम करते हैं उनका भी आज के सभ्य संसार से दूर हो जाना वे आवश्यक मानते हैं "वाद" पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है ।

वाजपेयी जी प्रगतिशीलता साहित्य के लिए अत्यंत आवश्यक मानते हैं । जीवन की गहराई में प्रवेश किए बिना समाज की गतिविधियों की पहचान के बिना यह साहित्यिक प्रगतिशीलता संभव नहीं । इसके लिए व्यक्तिगत रूचियों से दूर होना पड़ता है । व्यक्तित्व की आत्मसीमित परिधि का अतिक्रमण करने पर ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि संभव है और श्रेष्ठ काव्य की प्रकृति कभी पराजयमूलक नहीं हो सकती ।[1]" सिद्धांत-निरूपण अथवा नपे-तुले नुस्खे इसके लिए सहायक नहीं हो सकते । "कोई भी विचारधारा, कोई भी दर्शन अथवा कोई भी जीवन-परिस्थिति जब तक अपने साथ एक अनिवार्य आस्था, एक ज्वलन्त विश्वास लेकर नहीं आती, तब तक उसका साहित्य-सृजन कृत्रिम ही रह जाएगा ।[2]" सभी युगों के साहित्य का एक ऐसा विशिष्ट पहलू है जो युग-युगों तक लोगों को प्रभावित करता रहता है । उस पहलू से अलग होकर श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि हो ही नहीं सकती क्योंकि वही उसे चिरंतन महत्व प्रदान करता है । इसलिए एक निश्चित सीमा तक ही वादों का आधार ग्रहण किया जा सकता है ।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.149
2. आधुनिक हि साहित्य, पृ.337

विविध वाद

आदर्शवाद

आदर्शवादी समीक्षक होते हुए भी सामाजिक रूढियों का समर्थन करनेवाले आदर्शवाद को वाजपेयी जी संकीर्ण मानते हैं । उनका विचार है कि आशामय वातावरण का आलोक, उत्साह भरे उदात्त कार्य आदर्शवादी कृतियों में देखे और पहचाने जा सकते हैं[1] ।" अनेकता में एकता, विशृंखलता में शृंखला, निराशा में आशा, दु:ख में सुख-शांति की प्रतिष्ठा का उद्देश्य उनमें वे देखते हैं । उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ आदर्शवादी कृतियाँ वे ही मानी जा सकती हैं जिनमें मानव की महत्ता और उसके भविष्य-उत्कर्ष के सम्बन्ध में अडिग आस्था प्रकट की जाती है । किंतु आदर्शवाद की अति द्वारा साहित्य को उपदेशात्मक एवं संकीर्ण बना लेने एवं साहित्य के लोक-सामान्य स्वरूप से दूर हो जाने की प्रवृत्ति वे शोभनीय नहीं मानते । तुलसीदास और गुप्त जी के आदर्शवाद की तुलना में तुलसी जी के आदर्श को ही वे उच्च कोटि के मान लेते हैं । क्योंकि तुलसी का आदर्शवाद उच्च आध्यात्मिक पर आश्रित है और गुप्तजी का आदर्शवाद नीति एवं मर्यादा पर अधिष्ठित है[2] ।"

आदर्शहीन आदर्शवाद को वाजपेयी जी महत्व नहीं देते । जैनेन्द्र के उपन्यासों के पात्रों की चर्चा में यह स्पष्ट किया गया है । आदर्शवाद के नाम पर कोरी तार्किक अतिवादिता एवं कलात्मक भावुकता कृति को ही विकृत कर देती है । इसी प्रकार जीवन की वास्तविक कठिनाइयों को आँखों से ओझल कर असाधारण और अलौकिक पात्रों की सृष्टि करनेवाली भावातिरेक से युक्त रचना को भी वे अवास्तविक और

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.48

अविश्वसनीय मान लेते हैं क्योंकि उसमें तटस्थ वैज्ञानिकता का गुण कम रहता है । धार्मिक दृष्टिकोण की अधिकता भी वे अनावश्यक समझते हैं क्योंकि उससे मानव जीवन का महत्व फीका पड जाता है और मानव आचार-विचार और कर्तव्यों का बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार नष्ट हो जाता है[1]।" वाजपेयी जी की आधुनिक दृष्टि आदर्शवाद में आधुनिक यथार्थवादी विचारधारा का समावेश भी आवश्यक समझती है[2]।" अपने आदर्शवाद विषयक मान्यताओं में उन्होंने रस-सिद्धांत का भी आधार ग्रहण किया है ।

यथार्थवाद

वाजपेयी जी यथार्थवाद का स्वस्थ स्वरूप प्रेमचन्द एवं प्रसाद की यथार्थवादी परंपरा में देखते हैं । राष्ट्रीय चेतना से संपन्न, राष्ट्र की विकासोन्मुख गति-विधि के चित्रण में ही वे इसकी सार्थकता देखते हैं । उन्होंने बताया है कि सामाजिक यथार्थवाद हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान का अनिवार्य साधन है, जिसके द्वारा हम अपने राष्ट्र में अधिकाधिक संतुलन और समानता ला सकते हैं । किंतु समाजवादी चित्रणों को अतिशय श्रृंगारिक उल्लेखों से दूषित करने की प्रवृत्ति को वे गर्हणीय मानते हैं । निराशा और पराजय का चित्रण भी वे हितकर नहीं मानते । व्यक्तिवादी यथार्थ के संबंध में उनका यही मत है कि फ्रायड और एडलर की निष्पत्तियों को प्रतीकों या दृष्टांतों द्वारा प्रदर्शित करने का प्रयास सच्चे अर्थों में साहित्यिक चित्रण नहीं कहा जा सकेगा । और उनके आदर्शों के आधार पर चित्रित चरित्रों में गतिशीलता भी नाम मात्र की ही रहती है[3]। दार्शनिक यथार्थवाद के उस स्वरूप को वे महत्व देते हैं जो आध्यात्मिक

---

1. जयशंकर प्रसाद, पृ.११
2. वही पृ.१२

रहस्यानुभूति का स्पर्श करने के साथ ही साथ युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने में पूर्णत: समर्थ है । जीवन के उच्चतम यथार्थों के चित्रण की दृष्टि से 'कामायनी' को वाजपेयी जी यथार्थोन्मुख मानव रहस्यकाव्य मानते हैं ।

प्रसाद का 'कंकाल' उपन्यास ही पहली रचना है जिसकी चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने यथार्थवादी कृति पर प्रशंसा के शब्द लिखे हैं । तभी यथार्थवाद उपयोगी माना जाएगा जब कि इन रचनाओं से किसी प्रकार का उच्च या प्रगतिशील जीवन-सन्देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से प्रकट होना ही चाहिए ।[1] उनके विचार में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों में कोई वस्तुगत भेद नहीं, बल्कि दृष्टि-भेद मात्र है । साहित्यमें दोनों का स्थान निर्धारित करते हुए वे बताते हैं कि "दोनों साहित्य की चित्रणशैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं । ..... कला की सौन्दर्यसत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है । किंतु एक में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है और दूसरे में सामान्य या अनिष्ट के चित्रण द्वारा दुष्ट की व्यंजना होती है[2] ।"

काव्य की स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा एवं कला की अपनी सत्ता के महत्वोद्घाटन के लिए बौद्धिक दृष्टि एवं कला-सृष्टि का अंतर समझ लेना वाजपेयी जी आवश्यक समझते हैं । रूढ़ नैतिकता का वे विरोध करते हैं । लेकिन काव्य की सत्ता में समन्वित जो उदात्त नीति तत्त्व है उसे वे अत्यंत आवश्यक एवं महत्वपूर्ण मान लेते हैं । इस दृष्टि से द्विवेदी जी की कला की वे प्रशंसा करते हैं । नैतिक स्तर के पतन की वे कल्पना भी नहीं कर सकते । वे यही आग्रह करते हैं कि युरोप में निरंतर बढ़ते रहनेवाले नवीन युग के प्रकोपों का बुरा प्रभाव हमारे साहित्य में कभी न होने पावें ।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : विकल्प, पृ.28

इसके अनुचित प्रवेश के विषय में गहरी चिंता व्यक्त करते हुए वे बताते हैं - "यूरोप की बात यूरोप जाने, हम कभी भी समाज की आचार-सभ्यता की अवहेलना नहीं कर सकते । समाज की शक्ति ही समष्टि की शक्ति है, सामाजिक रीति-नीति, संस्कार, सदाचार सब इसके अंदर आते हैं । इस विषय में यूरोप की नवीन विचारधारा हमारे यहाँ मेल नहीं खा सकती[1] ।" नवीन सामाजिकता के निर्माण में औचित्य और व्यवस्था वे आवश्यक समझते हैं । पात्रों की समस्त सांस्कारिकता को समाप्त कर देने की प्रवृत्ति उन्हें कभी मान्य नहीं है[2] ।" आदर्श और यथार्थ का समंजस्य ही उनके लिए अभीष्ट है । इस विषय में डॉ॰ गणपतिचन्द्रगुप्त के विचार भी लगभग इसी प्रकार के हैं । वे लिखते हैं - "साहित्यकार का मार्ग आदर्श और यथार्थ की पटरियों को छूते हुए आगे बढ़ना है । जो इनमें से एक की उपेक्षा कर देता है, वह एकांगी हो जाता है । ..... उसकी गति में तीव्रता और संतुलन नहीं रहता[3] ।" वाजपेयी जी भी यथार्थवाद के केवल उसी रूप को स्वीकार करते हैं जिसमें वह आदर्शवाद के सहकारी रूप में रहता है, और जहाँ उसका लक्ष्य अनैतिकता के स्तर पर नहीं पहुँचा हुआ है । यथार्थवाद का आधुनिक अस्वस्थ रूप उन्हें बिलकुल अरुचिकर लगता है ।

छायावाद

वाजपेयी जी की छायावाद-विषयक विवेचना के आकलन के प्रसंग में इसका उल्लेख अनुचित न होगा कि इस विषय में उनके पूर्ववर्ती समीक्षक आचार्य शुक्लजी की धारणाएँ क्या थीं । शुक्लजी के संबंध में एक बहुत बड़ी शिकायत यह है कि वे छायावाद के प्रति बिलकुल अनुदार रहे । छायावाद

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ॰73
2. आधुनिक साहित्य, पृ॰217
3. हिन्दी साहित्य : प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ, पृ॰67

विषयक अपने विचार शुक्लजी ने सर्वप्रथम "काव्य में रहस्यवाद" नामक निबन्ध में प्रकट किए हैं जो सन् 1918 में छपा था । "पल्लव" प्रकाशन के पूर्व तक छायावादी कविता की रूपरेखा स्पष्ट उभरकर सामने नहीं आयी थी । छायावाद की दो विशेषताएँ ही शुक्ल जी को अधिक खटकी हैं । वे हैं विषयवस्तु में रहस्यवाद तथा शैली में लाक्षणिकता की अति । यथार्थ मानव जीवन से ही उनका लगाव था, इसलिए यथार्थ जीवन से असंपृक्त देखते हुए ही उन्होंने उसका विरोध किया है । जहाँ-जहाँ निराशावाद एवं असंतोष से बचकर यथार्थ जीवन के चित्रण में छायावादी प्रवृत्त हुए हैं वहाँ वे उसकी प्रशंसा भी कर सके हैं । स्वच्छन्द काव्य-धारा के लिए लोक गीतों का आधार एवं जनजीवन से निकटतम संबंध को वे आवश्यक समझते थे । उनकी दृष्टि में स्वच्छन्द धारा की व्यापकता पूरी मात्रा में उस समय की कविताओं में नहीं आ पायी थी, किन्तु वह एक आन्दोलन मात्र रह गया था और उनका प्रमुख स्वर रहस्यवादी था । शुक्लजी ने रहस्यवाद को अभारतीय घोषित किया है । उसे भारतीय साबित करनेवाली कोई भी दलील उन्हें स्वीकार्य नहीं हुई । उसे काव्य का एक सामान्य रूप मानने को वे तैयार नहीं थे । छायावादी कवियों के निराशावाद, भाग्यवाद, अबुद्धिवाद आदि पर भी उन्होंने असंतोष प्रकट किया । उसमें उन्हें सच्चाई की कमी महसूस होती है । इस काव्यधारा के भीतर उन्होंने स्वतंत्र, संश्लिष्ट प्रकृतिचित्रण का अभाव देखा है । उसकी वैयक्तिकता भी उन्हें अखरती थी । उसे अहंकार का एक रूप समझकर उससे दूर रहना वे चाहते थे । अहं के विसर्जन की अनिवार्यता पर बल देते हुए वे लिखते हैं - "जब तक अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते । खेद है, फारस की उस महफिली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में, इधर बहुत दिनों से जम रहा है ।"[1]

---

1. चिंतामणि : भाग 2, पृ.7

छायावाद को शुक्लजी "कला कला केलिए" सिद्धान्त से प्रभावित देखते हैं। पश्चिम के प्रतीकवाद का भी प्रभाव वे उस पर देखते हैं। रचनाओं में अन्विति का अभाव, भावों व विचारों में असम्बद्धता, कल्पना की नयी दुनियाँ बसाने की निराधार क्रिया, कहीं-कहीं उपमानों का ढेर लगा देने की प्रवृत्ति, लाक्षणिकता का अनावश्यक प्रयोग, व्याकरण के विषय में असावधानी आदि त्रुटियाँ छायावाद में उन्हें बहुत अधिक खटकती हैं। उनके मत में छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है। "छायावाद" शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है। शैली के रूप में उसकी विशिष्टताएँ उन्हें मान्य हैं, किंतु हिन्दी की प्रकृति पर ध्यान दिए बिना, निस्संकोच भाव से बंगला और अंग्रेज़ी की पदावलियों का हिन्दी में प्रयोग सदैव उन्होंने अस्वीकार किया।"

छायावाद को केवल इन दो अर्थों में सीमित करके शुक्लजी ने अपनी संकुचित दृष्टि का ही परिचय दिया है। यह तो ठीक है कि रहस्यवाद छायावाद का एक कमज़ोर पक्ष है। किन्तु केवल इस आधार पर वाद विशेष से बंधे जाने का दोष लगाते हुए उसे संकुचित वाद के अर्थ में ग्रहण करना किसी भी सहृदय समीक्षक के लिए शोभा नहीं देता। लेकिन यह बात ध्यातव्य है कि जब लोकजीवन की अभिव्यक्ति भी व्यापक रूप से छायावादी कविता में स्थान पाने लगी तो शुक्लजी का उग्र विरोध कुछ कम हुआ और उसमें अच्छी संभावनाएं भी उन्हें दिखाई दीं। ज्यों-ज्यों छायावादी कविता का स्वरूप अधिकाधिक निखरता गया त्यों-त्यों उसके प्रति शुक्लजी का दृष्टिकोण भी आशावह हो गया। वे लिखते हैं - "छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अंतर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्र भाषावाद (Symbolism) की काव्यशैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेमगान ही करता रहा है। हर्ष की बात है कि अब कई कवि इस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत्

और यौवन के और मार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं ..... अब अपनी शैली की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमश: कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थगर्भित रूप देने की रुचि क्रमश: अधिक होती दिखाई देती है।[1]"

छायावादी कवियों में निराला को शुक्लजी सर्वाधिक श्रेष्ठ मानते थे क्यों कि वे ही कम छायावादी थे, रहस्यवादी उडान एवं वेदना और निराशा की अभिव्यंजना उनमें ही सबसे कम हुई है। "आंसू", "कामायनी", "लहर" आदि की प्रशंसा करते हुए भी प्रसाद के विषय में उनकी शिकायत यह है कि कर्ममय जीवन के विशद, सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने से बढ़कर उनका ध्यान यज्ञों, उद्योग धन्धों और शासन विधानों पर ही अधिक अटक गया है। लोकमंगल के विधान में कर्म के सशक्त रूप का सहयोग माननेवाले शुक्लजी प्रसाद में कर्म की व्यापक भावना का अभाव देखते हैं। पंतजी पर उनका आक्षेप यह है कि उन्होंने अंग्रेज़ी कविता के भावों एवं प्रयोगों को अपनाया है। साथ ही सहज रोमांटिक कल्पना केलिए उन्होंने पंत जी की प्रशंसा भी की है। उनका प्रकृतिचित्रण भी शुक्लजी केलिए सराहनीय लगा है। कर्ममय जीवन से दूर रहने के कारण ही उनके आध्यात्मवाद एवं सौंदर्यवाद का भी शुक्लजी समर्थन न कर सके हैं। यद्यपि उनकी छायावाद-विषयक व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं मानी जा सकती तो भी उनका यह सुझाव स्वागत के योग्य है कि छायावादी अपनी कविताओं का सम्बन्ध लोक जीवन एवं लोक गीतों की परंपरा से जोड़ते हुए सच्ची रोमांटिक भावभूमि पर अग्रसर होने का प्रयास करें।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.570

यह रही, छायावाद के प्रति शुक्लजी की दृष्टि । वाजपेयी जी का चिन्तन इससे बिलकुल भिन्न प्रकार का रहा । छायावादी काव्य को वाजपेयी जी बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया मानते हैं[1]। " और वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की नव प्रतिष्ठा के इस सक्रिय प्रयत्न की वे मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं । छायावाद के विषय में उनकी मान्यताएं इस प्रकार हैं[2] -

1. छायावाद की विद्रोहनिष्ठ वाणी आत्मपरक है ।
2. वह राष्ट्रीय जागरण की प्रभाती ध्वनि है ।
3. इसमें करुणामय विहाग-राग तथा आशा और उत्तरदायित्व के मनोरम स्मृति-चिह्न हैं, तथा
4. इसमें मानव-जीवन के उदात्त पहलू है जो भूले हुए गौरव की पुनरावृत्ति का पथ-निर्देश करते हैं, परिस्थितियों पर मानवता की विजय का सन्देश देते हैं ।

समीक्षा-जगत में उनके पदार्पण के पूर्व सचमुच छायावादी काव्य के वास्तविक स्वरूप से साधारण पाठक अनभिज्ञ रहे थे । उसके सही आस्वादन की क्षमता वाजपेयी जी के अतिरिक्त और किसी आलोचक में उस समय नहीं थी । शुक्लजी को अपने सामाजिक एवं साहित्यिक आदर्शों के साथ नवीन सामाजिक परिस्थिति, प्रेरणा और उसमें विकसित इस नई काव्यधारा का मेल मिलाना असंगत लगा था । उन्होंने जब मुक्त छन्द को काव्य सौन्दर्य में बाधक समझा तब वाजपेयी जी ने उसे प्रगीत का एक लक्षण कहकर सहृदय पाठकों में उसके प्रति अधिक रुचि पैदा कर दी । शुक्लजी ने जब पुराने ईसाई संतों के छायाभास तथा प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जानेवाली रचनाओं की शैली को छायावाद और रहस्यात्मक अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.36।

ही छायावाद के उपकरण मान लिए तो वाजपेयी जी की समर्थ एवं सार-गर्भित लेखनी ने उसमें विशिष्ट सौन्दर्य एवं कलात्मकता के दर्शन कर उसकी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना को प्रकाश में लाने का प्रयास कर छायावाद के विरोध में शुक्लजी द्वारा दी गई सभी मान्यताओं की निर्मूलता सिद्ध की । जब शुक्लजी ने छायावाद को पश्चिम और बंगला का अनुकरण मान लिया तो वाजपेयी जी ने सप्रमाण घोषित किया कि वह किसी का अंधानुकरण न होकर रीतिबद्ध और द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक कविताओं की सहज प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्फुटित एक काव्यधारा है जिसमें पश्चिम और बंगला के प्रभाव के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना का स्वर भी मुखर है । उसे शैली मात्र मानना भी वे भ्रामक मानते हैं । उनके विचार में शैली और अनुभूति अलग-अलग वस्तुएं नहीं हैं । मात्र अनुभूति की प्रधानता, मात्र शैली की प्रधानता दोनों वे हानिकारक समझते हैं । एक से काव्य में रूखापन आ जाता है तो दूसरे से रीतिवादी रूढ काव्य का जन्म हो जाता है । इन कमियों से कविता को मुक्त करते हुए ही नया जीवन-दर्शन, नवीन शैली में नये ढंग से प्रकाशित करते हुए नवीन कविता अथवा छायावादी कविता का निर्माण हुआ, यही वाजपेयी जी की मान्यता है ।

वाजपेयी जी छायावाद में आध्यात्मिकता की छाया ज़रूर दर्शाते हैं । उनकी दृष्टि में उसमें लौकिकता और अलौकिकता के भेद मिट गए हैं । उसमें लक्षित आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर जब विभिन्न प्रकार के विरोधी विचार प्रकट किए जा रहे थे तब मध्यकालीन आध्यात्मिकता से उसका अंतर स्पष्ट करते हुए उन्होंने स्थापित किया कि प्रत्यक्ष वस्तु का मानव जीवन के सुख-दुःख, विकास-ह्रास आदि की अवस्थाओं से जो संबंध है, व काव्य (मध्य युगीन) उसकी उपेक्षा कर गया है, किंतु आधुनिक छ वादी काव्य में उसकी उपेक्षा नहीं हुई है ।" उसकी अभिनव भावभूमि एवं अनुभूति तथा स्वतंत्र दार्शनिकता की ओर भी उन्होंने संकेत किया है ।

निराला का पुरुष-अद्वैत, प्रसाद का आनन्दवादी शैवागम, विवेकानन्द और रवीन्द्र से प्रभावित पंत काव्य का आध्यात्मिक पक्ष आदि का उल्लेख कर इसमें लक्षित उपनिषदी प्रभावों के प्रतिपादन का श्रेय भी उन्हीं को है । छायावादी कवियों के प्रकृति विषयक दृष्टिकोण को उन्होंने ही सर्वप्रथम संपूर्णता से स्पष्ट करने का प्रयास किया । वे लिखते हैं-"छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है । उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर, दृश्य से भाव की ओर होती है । और इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य वस्तु का चयन करने में छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है[1] ।"

छायावाद के विषय में अक्सर यह शिकायत उठी है कि वह प्राय: नैतिक और आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करता है, व्यक्तिगत और सामूहिक चारित्र्य पर ज़ोर देता है, साधना पर विश्वास रखता है । किन्तु ये विशेषताएँ ही वाजपेयी जी को अधिक आकृष्ट करती हैं । इसके मूल में राष्ट्र की नैतिक शक्ति, जो उसकी उन्नति का मापदंड है, का प्रभाव ही वे देखते हैं । उन पर यह आक्षेप भी लगाया गया है कि उसमें दु:ख और निराशा का स्वर सुनाई देता है । यद्यपि इसमें सत्य का अंश निहित है तथापि वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि दु:ख या निराशा उसका अंतिम सिद्धान्त नहीं है और न उसमें स्थूल इन्द्रियता का उल्लेख है । उसकी सौंदर्यभावना मानवीय है, परंतु अतिशय सूक्ष्म आध्यात्मिक । "ये कवि सामाजिक परिवर्तन के क्रम से अपरिचित हैं, इन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है, यह काव्य दुनियाँ से अलग किसी रहस्यमयी सत्ता में विश्राम लेता है, यह जीवन का सामना करना नहीं चाहता और इसका संपूर्ण जीवन-दर्शन ही काल्पनिक और एकांतिक है" आदि न जाने कितने प्रकार के आरोपों से

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ·354

इसे जूझना पड़ा । लेकिन वाजपेयी जी ने उसे अपने चारों ओर की परि-स्थितियों से स्पष्टत: अनुप्रेरित मान लिया । इसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर उन्हें पूरा विश्वास है । उन्हें लगता है कि राष्ट्रीय इतिहास में जिन सुस्पष्ट प्रेरणाओं से यह उत्पन्न हुआ और जिस आवश्यकता की पूर्ति इसने की उसकी ओर ध्यान न देना आश्चर्य की बात होगी[1] ।" इसके मूल उत्स को विशुद्ध भारतीय मानते हुए वे बताते हैं कि "छायावादी काव्य इस देश की दार्शनिक बुनियाद को स्वीकार करके चला है और उसमें उसी के अनुरूप शब्दों का संचलय है । इस हद तक हम उसे इस देश की प्रकृति के अधिक अनुकूल कहेंगे । उसमें हमारी जलवायु का असर है[2] ।" इस प्रकार छायावाद के विषय में प्रचलित सभी शंकाओं, शिकायतों एवं निरर्थक विवादों का सही समाधान प्रस्तुत करते हुए वे खुले शब्दों में घोषित करते हैं कि "जो युग छन्दों में, भावों में और रचना के अंग-प्रत्यंग में सौंदर्य का संचय कर सका है, उसे कोई स्वप्नों का युग किस साहस पर कहेगा ? यदि वह फिर भी स्वप्नों का युग कहा जाय, तो वह स्वप्न भी जागृति से क्या बुरा है[3] ?"

इस विषय में डॉ· नगेन्द्र की जो मान्यताएं हैं उन पर भी प्रकाश डालना असंगत न होगा । नगेन्द्र के विचार में "छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण[4] है उन्होंने उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है[5] ।" छायावाद पर वे गाँधीवाद का प्रभाव मानते हैं । उसे क्षतिपूर्ति का प्र यत्न कहा गया है ।

1· हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ·2।

2· आधुनिक साहित्य, पृ·373

3· वही, पृ·372

4· आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, पृ·।

5· सुमित्रानन्दन पंत, पृ·2

नगेन्द्र ने इस बात का निषेध किया है कि छायावाद की मूल प्रेरणा आध्यात्मिक है । उन्होंने इसे धार्मिक साधना पर आश्रित न मानकर असंतोष और कुंठा का परिणाम माना है । सर्वात्मवाद को भी वे छायावाद का उद्गम-स्त्रोत नहीं मानते । उनके मत में छायावाद मूलत: भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रोद्भास है । वे कहते हैं - "छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएं हैं ---------- वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं । उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिंतन और आरंभ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है ।[1]" उनके विचार में छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं हैं क्योंकि उसमें प्रकृति का चित्रण न होकर प्रकृति के स्पर्श से मन में उठनेवाले छाया-चित्रों का ही चित्रण है । इस बात का वे निषेध करते हैं कि छायावाद यूरोप के रोमांटिक काव्य-संप्रदाय से बिलकुल अभिन्न है । अपनी विवेचना द्वारा छायावादी समीक्षा को नगेन्द्र ने नई दिशाएँ प्रदान की हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से छायावाद की अंतश्चेतना का अत्यंत सूक्ष्म विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया है । व्यक्तिवाद को छायावाद की एक मुख्य विशेषता मानते हुए उन्होंने इस व्यक्तिभाव को प्रसाद में आनंद भाव, निराला में अद्वैतवाद, पंत में आत्म-रति तथा महादेवी में परोक्ष रति के रूप में दर्शन किए हैं । छायावादी कवियों की अतीन्द्रियता उन्हें बहुत कम ही स्वीकार्य है । किंतु उनके प्रतीक-विधान एवं सौन्दर्य-चित्रण की उन्होंने प्रशंसा की है क्योंकि साहित्य को नया चैतन्य एवं माधुरी प्रदान करने में वे समर्थ हुए हैं । प्रथम श्रेणी का विश्वकाव्य होने की क्षमता इसमें उन्हें नहीं दिखाई देती, किंतु उनका स्थायी महत्व वे इसलिए स्वीकार करते हैं कि छायावादी कवियों ने प्रकृति पर चेतना का आरोप करते हुए जो भाव-वृत्ति एवं अभिव्यंजना-प्रणाली दी है, वह वस्तुत: मनोहर है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, पृ.13

छायावाद को लेकर प्रस्तुत इन विभिन्न विचारों से इन तीनों विद्वानों के दृष्टिकोण में लक्षित अंतर का पता चलता है । शुक्लजी की दृष्टि में छायावाद बंधे हुए क्षेत्र के भीतर चलनेवाला काव्य है । प्रसाद और महादेवी के लिए "साम्प्रदायिक" शब्द तक का प्रयोग करने में वे नहीं हिचकते । वाजपेयी जी की व्यापक दृष्टि छायावाद में समस्त मानव अनुभूतियों की व्यापकता देखती है । नगेन्द्र तो उसमें हृदय के समस्त आवेशों, आत्मा की संपूर्ण अभिव्यक्तियों के लिए स्थान पाते हैं । यदि शुक्लजी छायावाद की अतिरंजित कल्पना से खिन्न होकर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं तो नगेन्द्र जी उसी कल्पनाप्रवणता एवं स्वप्नमयता में सौन्दर्य के दर्शन करते हैं । शुक्लजी जहाँ उसे धार्मिक मानते हैं वहाँ वाजपेयी जी और नगेन्द्र जी छायावादी रहस्य-भावना को मानवीय एवं सांस्कृतिक मानते हैं । स्वतंत्रता, स्वच्छन्दता, उन्मुक्तता आदि शब्द इन नवीन आलोचकों को अधिक प्रिय लगे हैं और उन्हीं के आधार पर छायावादी काव्य के औचित्य एवं श्रेष्ठता के प्रतिपादन का प्रयास इन्होंने किया है ।

डॉ॰ देवराज मानते हैं कि आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी दृष्टिकोण ने छायावाद के कलात्मक विश्लेषण में बाधा पहुँचाई है । उनके विचार में उसकी अभिव्यक्तिगत अशक्तियाँ, दुरूह कल्पनाएँ तथा हल्कापन ही रहस्यवाद के नाम पर उसकी प्रशस्ति और दार्शनिक व्याख्याओं के कारण हैं । फिर भी वे स्थापित करते हैं कि "छायावादी काव्य नैतिक धरातल पर जनतांत्रिक समस्त भावना और व्यक्ति की महत्वाकांक्षा का काव्य है । सामंती राजरानियों के चरित्र के स्थान पर वह साधारण मनुष्य के साधारण मनोभावों और आकांक्षाओं को प्रतिष्ठित करता है । निस्सन्देह छायावाद इहलौकिक प्रेम और सौंदर्य भावना का काव्य है । ..... निश्चय ही इसने हिन्दी साहित्य की जीवन-चेतना को कुछ दिशाओं में समृद्ध किया है ।"

इनकी उपलब्धियों के चिरंतन महत्व पर विश्वास प्रकट करते हुए डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी लिखा है-"हमारा तो यह विश्वास है कि सौन्दर्य और प्रेम की जिस अक्षय-निधि को लेकर छायावाद चला था, वह किसी एक युग, एक देश या एक वाद की संपत्ति नहीं है । ..... भले ही छायावादी इस धरती पर न रमे हो, किंतु व्यापक आदर्शों एवं सूक्ष्म सौन्दर्य को लेकर चलनेवाला छायावाद अब भी अजर है, अमर है[1] ।"

लेकिन छायावाद-विषयक अधिकांश मान्यताओं को डॉ॰ नामवरसिंह त्रुटिपूर्ण मानते हैं । उनकी दृष्टि में केवल कुछ कविताओं के आधार पर किसी भी प्रवृत्ति की विशेषताओं का आकलन नहीं होना चाहिए । उनका विचार है कि छायावाद नाम से प्रख्यात संपूर्ण कविताओं के आधार पर छायावाद की विशेषताओं का आकलन किया जाएगा तो विदित होगा कि छायावाद " विविध यहाँ तक कि परस्पर विरोधी-सी प्रतीत होनेवाली काव्य-प्रवृत्तियों का सामूहिक नाम है और छानबीन करने पर इन प्रवृत्तियों का सामूहिक नाम है और छानबीन करने पर इन प्रवृत्तियों के बीच आंतरिक संबंध दिखाई पड़ता है ।" वे स्पष्ट करते हैं कि "छायावाद व्यक्तिवाद की कविता है, जिसका आरंभ व्यक्ति के महत्व को स्वीकार करने और करवाने से हुआ किंतु पर्यवसान संसार और व्यक्ति की स्थायी शत्रुता में हुआ[2] ।" डॉ॰ रामदरश मिश्र भी वाजपेयी जी की इस मान्यता से सहमत नहीं हैं कि "छायावादी साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है और इससे भिन्न वह कुछ और हो भी नहीं सकता ।" वे लिखते हैं कि सैद्धांतिक रूप से इस कथन में सच्चाई है किंतु वाजपेयी जी ने छायावादी कवियों की परीक्षा इस कसौटी पर नहीं की[3] ।" उनके विचार में छायावादी काव्य में युग की

---

1. हिन्दी साहित्य : प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ, पृ॰32-33
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ॰13
3. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ, पृ॰159-160

सामाजिक, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का पूर्णत: अंकन नहीं हुआ है । छायावाद के प्रति वाजपेयी जी की सहृदयता को वे उनका पक्षपात मान लेते हैं । उनके मत में "छायावाद की कविताओं में जीवन के ओजतत्व, सामाजिक संघर्ष की उष्णता, सामाजिक दशा के चित्रण का जो यत्र-तत्र आभास मिल जाता है, वह छायावादी काव्य का मूल स्वरूप नहीं है । जहाँ वाजपेयी जी ने छायावादी कविता को एक ओर राहु के ग्रास से मुक्त किया, वहीं उस पर अत्यंत अधिक प्रकाश आरोपित करने का पक्षपात किया । लगता है, छायावादी कविता के सामाजिक पक्ष का समर्थन करते हुए उनका भी मन नि:शंक नहीं था । इसलिए ये आत्मविरोधी बातें कह गये हैं ।[1]" अपने मंतव्य को अधिक पुष्ट करते हुए वे कहते हैं कि रीतिकाल और द्विवेदी युग की कविताओंके परिप्रेक्ष्य में जब छायावादी कविता का अनुशीलन करेंगे तब अवश्य बता सकते हैं कि नयी चेतना, नयी जागृति, नव जीवन एवं सौंदर्य का स्वर उसमें आद्यन्त मुखरित है । यद्यपि मानव-जीवन और आधुनिक युग से भावात्मक सम्बन्ध रखनेवाली अनुभूतियों, भावों एवं व्यक्तिगत दृष्टिकोणों का अपूर्व सामंजस्य छायावादी कविताओं में हुआ है तो भी अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ निराशा और अभावों के स्वर उन्हें सुनाई देते हैं । इन दोनों पक्षों को समान रूप से देखते हुए हम उनके केवल एक पक्ष को ही प्रकाश में लाकर दूसरे पक्ष की उपेक्षा करना बिलकुल असंगत है, यही मिश्रजी की राय है । वाजपेयी जी में वे यह कमज़ोरी देखते हैं कि उनकी दृष्टि केवल छायावाद के एक पक्ष पर ही पडी थी, उन्होने उसमें केवल तत्कालीन राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन की स्पष्ट प्रतिध्वनि दर्शित की । इस दृष्टि से वे वाजपेयी जी की छायावाद-समीक्षा सर्वांगीण या समग्र नहीं मानते ।

---

1. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ, पृ.190

वाजपेयी जी की समीक्षा में लक्षित एक अन्य महत्त्वपूर्ण त्रुटि की ओर भी मिश्रजी हमारा ध्यान दिलाते हैं। उनकी शिकायत यह है कि वाजपेयी जी ने राष्ट्रीय आन्दोलनों का उल्लेख तो किया, संस्कृति पर भी विचार किया किंतु छायावादी काव्य को उन सामयिक सामाजिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा, औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप जो नये वर्गों के उदय हो रहे थे और उनके प्रभाव के जो परिणाम लक्षित हो रहे थे उनका अनुशीलन न करने के कारण छायावादी मूल चेतना का सम्यक् विश्लेषण उनसे सफलतापूर्वक न हो सका है। यहाँ एक बात कहना ज़रूरी है कि वाजपेयी जी छायावाद का मूल्यांकन ऐसी एक विशेष परिस्थिति में कर रहे थे जब वह विविध दिशाओं से, परंपरावादियों के कठोर आक्रोशों का शिकार बनकर, अपनी अस्मिता कायम रखने के प्रयत्न में लगा हुआ था। उस नवीन काव्य-चेतना के विषय में प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण कर उसके वास्तविक स्वरूप से साधारण लोगों को अवगत कराना ही उस सन्दर्भ में वाजपेयी जी ने अपना प्रमुख कर्तव्य मान लिया था। वे उसमें युगीन प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन करते हैं। मानव अनुभूतियों, सामयिक जीवन-परिस्थितियों एवं प्राकृतिक सौंदर्य को अपनी संपूर्ण व्यापकता के साथ वे उसमें दर्शाते हैं। छायावाद को जीवन-निरपेक्ष स्थापित करनेवाली जो शिकायतें उठी हैं उनका समाधान प्रस्तुत करने में वाजपेयी जी की दलीलें समर्थ हुई हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में छायावादी रचनाओं का भी आकलन हुआ है।

रहस्यवाद

वाजपेयी जी के विचार में "छायावाद व्यक्ति सौंदर्यबोध की भावना है और रहस्यवाद समष्टि सौंदर्यबोध की भावना है।" इसे अधिक स्पष्ट करते हुए आगे वे लिखते हैं - "आध्यात्मिक सौंदर्यबोध छायावादी कविता का केंद्रीय उपकरण है। अपनी उदात्त सीमा पर

पहुँचकर वह निर्मल विश्व को एकरूप अनुभव करता है । इस स्थिति में कवि रहस्यवादी हो जाता है । अंतर दृष्टिकोण में है, अनुभूति का स्वरूप एक है पर अनुभूति की दिशा में अंतर है । प्रकृति के सुंदर अंशों का चयन छायावादी काव्य में है, रहस्यवाद में व्यष्टि-अंतर भूलकर अखंड सौंदर्य तथा समरस चेतना की सृष्टि होती है[1] ।"

वाजपेयी जी सच्ची रहस्यवादी चेतना वाने सारी प्रकृति को समाहित करनेवाली निर्गुण प्रेम की विशुद्ध व्यंजना, उपनिषदों का ऊर्जस्वित आत्मवाद, योग और तंत्रशास्त्रों की प्रकृति को आत्मा में लय करने की प्रक्रिया जो पूर्ण मनुष्यत्व का साधन थी, प्राकृतिक प्रेम-प्रतीकों के भीतर परोक्ष प्रेम सत्ता का प्रगाढ गाराबद्ध प्रवेश और पुन:पुन: उस अव्यक्त का नैसर्गिक आवाहन और आलेख वस्तुत: ईरान और फारस के कुछ सूफी कवियों में एवं भारत के कुछ निर्गुणियों में ही दर्शाते हैं । रास और भ्रमरगीत में भी इसके सारे लक्षण पाते हैं । जिस काव्य के प्रतिपाद्य में आद्यंत रहस्य-अति मोहक प्राकृतिक सौंदर्य तल्लीनता, प्रेम के प्रति परिपूर्ण आत्मविसर्जन और फिर भी उसकी दुष्प्राप्ति का संकट दिखाकर अव्यक्त और रहस्यपूर्ण प्रेम की व्यंजना की रक्षा हो पाती है उन्हें ही वाजपेयी जी सच्ची रहस्यवादी रचना के अंतर्गत स्थान देना चाहते हैं । उनकी राय में "एक अखंड अव्यक्त चेतन तत्व जिसमें त्रिकाल में भी कोई भेद किसी प्रकार संभव नहीं, जिस चिर-स्थिर आत्मतत्व के अविचल गौरव में संसार की उच्चतम अनुभूतियाँ भी मरीचिका सी प्रतीत होती हैं, वह परिपूर्ण आह्लाद जिसमें स्मित तरंगों के लिए कोई अवकाश नहीं, रहस्यवाद का सर्वोच्च निरूप्य है । इसके ओजस्वी निरूपण उपनिषदों के जैसे और कहीं नहीं मिलते[2] ।"

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ.105
2. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.203-204

रहस्यस्यवाद में सांप्रदायिकता का भान होना वे बिलकुल असंगत मानते हैं। छायावाद और रहस्यवाद उनकी दृष्टि में स्वच्छन्दतावाद की ही विभिन्न शैलियाँ हैं। रहस्यवाद से स्वच्छन्दतावाद का अंतर समझाते हुए उन्होंने लिखा है "स्वभावत: रहस्यवादी काव्य में प्रतीक-पद्धति अपनायी जाती है और वास्तविक रूपात्मक सृष्टि का सीधा वर्णन नहीं होता। स्वच्छंदतावादी काव्य में बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति का वास्तविक और रूपात्मक वर्णन किया जाता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य इहलौकिक और मानवीय भूमि का काव्य है जबकि रहस्यवादी काव्य अंतसत्तात्मक या परोक्ष वस्तु से संबंधित है।" उसे {रहस्यवाद को} किसी प्राचीन बर्बर युग की स्मृति अथवा मनुष्य की अविकसित बाल्य भावना की सृष्टि मात्र मानना वाजपेयी जी की दृष्टि में उसके महत्व को भली-भाँति न समझना ही है उनके मत में उसे वैज्ञानिक विकास सिद्धांत से बहुत दूर की वस्तु माननेवाले वास्तव में काव्याध्ययन के अधिकारी नहीं है।

सांसारिक जीवन के सभी प्रकार के संघर्षों को एक ही चेतन से संबद्ध करना तथा प्राकृत अनुभूति को छोड़कर परोक्ष अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करना क्रमश: रहस्यवाद का पहला और दूसरा सोपान है। महादेवी की काव्य भूमि इसमें दूसरी मानी गयी है। प्रेममय, करुणामय अथवा शक्तिमय या आनन्दमय दिव्य व्यक्तित्व पर आस्था रखनेवाले सगुण, साकारमय ब्रह्म परोक्ष अनुभूति को वाजपेयी जी महादेवी की अधिकांश रचनाओं का दार्शनिक आधार मानते हैं। कहीं कहीं पारदर्शी आध्यात्म की जगह रूढि के चिह्न भी उनकी रचनाओं में उन्हें लक्षित होते हैं। मूर्त प्रतीकों में अलौकिक अमूर्त तत्व का साक्षात्कार करनेवाली समुन्नत रहस्य-कला उनमें वे नहीं देखते। रहस्यवादी कला की सफल व्यंजना केलिए रूपचित्रण वाजपेयी जी ज़रूरी मानते हैं, किंतु महादेवी के विषय में यह बात उन्हें खटकती है कि यद्यपि उनका सौंदर्य-चित्रण आध्यात्मिक रहस्यमुद्राओं से

---

1. [illegible]

परिपूर्ण है तथा उसमें एक विलक्षण उदासीनता, सात्त्विकता, शांति और निश्चलता झलकती है तो भी स्वयं अदृश्य रहनेवाली वस्तु को अस्फुट उपमानों से व्यक्त करना उनकी राय में पाठकों को काव्य-रस से अंशत: वंचित रखना है । सरलता की अति भी कहीं-कहीं सौंदर्य से अछूती प्रतीत होती है ।

प्रकृति की परिपूर्ण छवि की आत्मरूप प्रतिष्ठा वे वड्सवर्थ में पाते हैं तो हिन्दी में "आँसू" को समरसता और अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभूति का सबसे सुन्दर उदाहरण मानते हैं । वाजपेयी जी की मान्यता है कि "प्रसाद के आँसू, निराला की स्मृति जैसी उदात्त और एकतान कल्पना तथा "पल्लव"का-सा सौंदर्योन्मेष महादेवी जी में नहीं है, किंतु वेदना का विन्यास उसकी वस्तुमत्ता का बहुरूप और विवरणपूर्ण चित्रण जितना महादेवी जी ने दिया है, उतना वे तीनों कवि नहीं दे सके हैं ।[1]" प्रसाद और महादेवी की तुलना करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि प्रसाद में सौंदर्य-संवेदन के दोनों स्वरूप आनन्द और वेदना का एक-सा प्रसार मिलता है, किंतु महादेवी में वेदना को ही प्रधानता है । दोनों की रहस्य-भावना में यह अंतर उन्हें स्पष्टत: लक्षित होता है कि महादेवी का झुकाव सदैव करुणा और भक्ति की ओर है जबकि प्रसाद प्राय: तादात्म्य का संकेत करते हैं । महादेवी के काव्य में ये कठिनाइयाँ उन्हें दीखती हैं कि वह व्यक्तिगत दु:ख को सब जगह आध्यात्मिक ऊँचाई तक नहीं ले जा सका है, परोक्ष स्तर की निगूढ़ अनुभूतियों का संग्रह, फिर उनका परिष्करण और उन्हें उपयुक्त व्यंजना देना तीनों आभास-साध्य हैं । भाषा में समृद्ध छायावादी चमत्कृति नहीं मिलती, तुकों के संबंध में काफी शिथिलता है तथा छन्दों और गीतों में एकरूपता अधिक मिलती है । इन विवेचनों से होते हुए अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावादी काव्य की मूल आध्यात्मिक भावना ही परिपुष्ट होकर महादेवी के काव्य में व्यक्त हुई है और उनकी दु:खवादी दार्शनिकता कोरा दु:खवाद न होकर उसी आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुरंजित है जो छायावाद का मुख्य आधार है ।

इंग्लैंड के कवि ब्लेक एवं महादेवी में रहस्योन्मुख प्रवृत्तियों की प्रधानता की दृष्टि से समानता बतायी गयी है । इस अर्थ में भी वे समान दृष्टि के कवि हैं कि दोनों में भावुकता की प्रबलता है और दोनों चित्रकार भी हैं । परंतु साथ ही दोनों में यह अंतर भी दर्शाया गया है कि "एक बालकोचित सरलता के साथ एक पारदर्शी चेतना से संपन्न ब्लेक महादेवी से बहुत भिन्न है । उसके काव्य में नियमों की अवहेलना है, छन्दों की अराजकता है जब कि महादेवी में सब कुछ शालीन और संयमित और अति संयमित है । ब्लेक में निगूढ अंतश्चेतना का प्रबल आवेग है, जबकि महादेवी में आवेग नामक तत्व है ही नहीं । दोनों ही प्रतीकों के प्रयोक्ता हैं परंतु ब्लेक के प्रतीक अयाचित होते हैं, अविचारित संकलित होते हैं महादेवी के प्रतीकों में ऐसी सहजता नहीं है । महादेवी छायावादी काव्य-युग की सांध्य-तारा है, ब्लेक भोर का नक्षत्र है । इस अंतर के साथ ही इन दोनों के काव्य की समानता देखी जा सकती है ।"[1]

निराला के गीत में जो रहस्यानुभूति के अनुभव होते हैं उस पर भी वाजपेयी जी ने प्रकाश डाला है । "अस्ताचल रवि", "जल छल-छल छवि", 'हुआ प्रात प्रि यतम तुम जाओगे", 'चल, देकर अंतिम कर रवि गए अपर पार' जैसे पदों को रहस्य सृष्टि के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं । कहीं शुद्ध अमूर्त प्रकाश मात्र के रूप में, कहीं मूर्त कामिनी के रूप में, कहीं शुद्ध परोक्ष के ज्योतिचित्र के रूप में अभिव्यक्त इन भावों को वे निराला की अभिव्यक्ति-कला के अनुलंघ्य मानते हैं । उनकी दृष्टि में निराला के गीतों में रहस्यवादी स्वर सर्वत्र ध्वनित है । अलौकिक रूप पर लौकिक की अवतारणा जो इन गीतों में हुई है, उसके आधार पर वाजपेयी जी प्रमाणित करते हैं कि उनके गीतों में रहस्यवाद की साहित्यिक साधना का ही विकास हुआ है ।

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ. 112

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि रहस्यवाद का स्वरूप स्पष्ट करने का सफल प्रयास वाजपेयी जी ने किया है । इस की व्यंजना जिस व्यापक रूप में हिन्दी में हुई है उस का महत्वोद्घाटन भी इससे हो सका है । रहस्यवाद का महत्व स्पष्ट करते हुए डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि "मानव जाति के छोटे-छोटे समूहों को रहस्यवादी साहित्य भले ही कोई बड़ा संदेश न दे पाए, किंतु जहाँ तक अखिल मानव-समाज का प्रश्न है, वह सभी आत्माओं को एक ही सत्ता से संबन्धित करके अखंड एकता का सन्देश देता है । विश्व-हित, विश्व-बंधुत्व एवं विश्व-प्रेम का आदर्श जितनी सत्यता के साथ एक रहस्यवादी व्यक्त कर सकता है, उतना संभवत: कोई और नहीं ।" नामवरसिंह के विचार में भी "हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी कविता का ऐतिहासिक महत्व है । इसने मनुष्य में आत्मप्रसार तथा आत्मविश्वास की भावना जगायी, प्राचीनता की कारा में सिसे हुए मन को उन्मुक्त असीम वातावरण दिया, विश्व मानवता की सार्वभौम भावना उत्पन्न की, स्थूल तथ्यों को भेदकर जीवन-सत्य को देखने की अंतर्दृष्टि दी, और गहन अनुभूति के क्षणों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया[2] ।" मनुष्य-जीवन को उच्च भाव-भूमि प्रदान करने का श्रेय वे रहस्यवाद को ही देते हैं । वे हिन्दी के आधुनिक रहस्यवाद को अपने सामाजिक आधार एवं साहित्यिक अभिव्यक्ति में मध्ययुगीन संतों के रहस्यात्मक काव्य तथा आधुनिक यूरोपीय प्रतीक-रहस्यवाद से भिन्न एवं विशिष्ट मानते हैं ।

स्वच्छन्दतावाद

स्वच्छन्दता शब्द का अर्थ है समस्त प्रकार की कृत्रिमताओं से मुक्त रहने की अवस्था । साहित्य की गति तो स्वभावत: स्वच्छन्द है ।

---

1. हिन्दी साहित्य : प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ, पृ॰16
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ॰60

स्वच्छन्दता की सहज प्रवृत्ति के कारण ही प्रत्येक युग में बीते युग के संस्कार के रूप में, आगामी युग के पथ-प्रदर्शक के रूप में साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ, प्रयोग, स्थापनाएँ और संभावनाएं जन्म लेती और विकास प्राप्त करती रहती है । अत: मात्र सामयिकता से इसका संबंध जोडना संगत नहीं होगा । साहित्य के उदय से ही नहीं, सृष्टि के आरंभ से ही स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति भी अभिन्न रूप से उससे जुडी रहती है । फिर भी साहित्यिक सिद्धांत या वाद विशेष के रूप में इसका ग्रहण 18 वीं शती के अंतिम दशक एवं 19 वीं शती के आरंभ में हुआ । यूरोप में यह रोमांटिसिज्म के नाम से विख्यात हुआ तो हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल जी ने इसे स्वच्छन्दतावाद नाम दिया । द्विवेदी-युग की काव्य-प्रवृत्तियों की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए, पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का प्रभाव उस पर मानते हुए छायावादी काव्य के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है । उन्होंने बताया - "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं ।

पश्चिम की स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से प्रभावित होते हुए भी हिन्दी में विकसित स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण मात्र उस प्रभाव का परिणाम नहीं है । भारत की सामाजिक, राजनैतिकएवं साहित्यिक परिस्थितियाँ भी उस समय एक समग्र विद्रोह की भूमिका तैयार कर रही थी । साहित्य एवं जीवन के मूल्यांकन के लिए नए प्रतिमानों का अन्वेषण ज़ोरों पर हो रहा था । इसलिए छायावाद को पूर्णत: पश्चिमी अनुकरण मानना उचित नहीं । इस काव्य एवं समीक्षा की प्रेरक परिस्थितियों का सही अनुशीलन करते हुए डॉ॰ भगवत्स्वरूप मिश्र ने बताया है कि "छायावाद कुछ कवियों का प्रयास मात्र नहीं है, अपितु उस काल के व्यापक जीवन की मूल प्रेरणा का स्वाभाविक और अवश्यंभावी परिणाम है । वह व्यक्ति के हृदय की रूढिवादिता से मुक्त स्वच्छन्द अनुभूति एवं भाव के सौष्ठव की अभिव्यक्ति है ।

इस दृष्टि से किया गया मूल्यांकन ही सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी समीक्षा है[1]।" कुमार विमल के विचार में भी छायावाद का उद्भव युग की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में हुआ । वह केवल शैली का परिवर्तन, बंगला का प्रभाव या अंग्रेज़ी के रोमांटिक साहित्य का अनुकरण नहीं था । वह तो अपने देश, साहित्य तथा युग की आंतरिक प्रेरणाओं से उत्प्रेरित हुआ था और किसी बाह्य प्रेरणा का कृत्रिम परिणाम नहीं था[2]।" शुक्ल-युग की समीक्षा के महत्त्वपूर्ण अंगों को इन्होंने स्वीकार किया, साथ ही उसमें लक्षित त्रुटियों की भी स्पष्ट घोषणा की । वैयक्तिकता, स्वच्छन्दता, सौंदर्यानुभूति, सूक्ष्मता, भावुकता, ध्वन्यात्मकता, कल्पना आदि ही स्वच्छन्दतावादी दृष्टि के प्रमुख तत्व माने गये । अनुभूति और अभिव्यक्ति तथा अभिव्यक्ति से अनुभूत आनन्द को सर्वाधिक महत्व दिया गया । परिस्थितियों से उद्भूत नवीन भावों की अभिव्यंजना केलिए नए शब्दों का भी प्रयोग आवश्यक हो गया । इसी ओर संकेत करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है - सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही । उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था । हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन केलिए प्रयुक्त होने लगी[3]।" अनुभूति की तीव्रता तथा हृदयस्पर्शिता तथा अभिव्यक्ति याने भाषा और शैली की भंगिमा उनके काव्य की विशेषताएं रहीं । उनकी अनुभूति और कल्पना व्यक्तिगत होते हुए भी सार्व जनीन थी । अनुभूति और अभिव्यक्ति के पूर्ण सामंजस्य पर इन्होंने बल दिया । आत्माभिव्यंजन का सिद्धान्त भी दृढ़तर हो गया । सफल समीक्षक के लिए कवि की अनुभूति से तादात्म्य प्राप्त करना आवश्यक हो गया ।

---

1. हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास, पृ.424
2. छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ.23
3. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ.123

काव्य-सर्जन के लिए कल्पना और भावना अनुपेक्षणीय मानी गयी । भावों की सहचरी होकर ही इनकी कविताओं में कल्पना स्थान पाती थी । निराला जी ने कल्पना को महत्वपूर्ण मान लिया, किन्तु उसकी अति का विरोध किया । उनके विचार में "कविता-प्रिय मनुष्य कल्पना-प्रिय हो जाता है, उससे काम नहीं होता । ललित कल्पना मनुष्य को कर्म के कठोर क्षेत्र पर उतरते भय दिखाती है । कविता की सुकुमार भावना लोगों को सौन्दर्योपासक बना देती है । इससे जाति के कर्म-जीवन के शिथिल होने की संभावना है[1]।" प्रसाद जी भी मध्यममार्ग ग्रहण कर कल्पना और अनुभूति के प्रति समन्वयात्मक अभिव्यक्ति पर बल देती है । उनके अनुसार "कलाकार यदि सच्चे अर्थों में कलाकार हो तो वह कल्पना को सौन्दर्यमय आकार देगा, उसमें वास्तविकता का रंग भरेगा और उससे जीवन-संगीत की सुरीली लय की सृष्टि करेगा[2]।" कल्पना के लिए वे स्वप्न से भी अधिक ठोस धरती आवश्यक समझती हैं । छायावादी कवियों ने सिद्ध किया कि कल्पना कोई निराधार क्रिया, मनोरथ मात्र अथवा मनो-विजृंभण नहीं है, बल्कि वह मानव-चेतना की विधायक शक्ति, मानव मन की एक आत्मनिलीन क्रिया और वस्तुगत सत्य की अवगति के आधार पर नवीन रूपों की मानसिक रचना है[3]।"

कलाओं के सामान्य स्वरूप पर छायावादी कवियों ने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं । ललित कलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को सैद्धान्तिक धरातल पर उन्होंने स्वीकार किया है । प्रसाद जी के विचार में "कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है[4]।"

---

1. निराला : चयन, पृ.25
2. क्षेमदा भा.भ.इ.प्र.सं., पृ.50
3. कुमार विमल : छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ.134
4. स्कन्दगुप्त, पृ.2।

पंत जी आग्रह करते हैं कि कलाकार को काव्य संगीत चित्र शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करना चाहिए उनके मत में अनेकता में जीवन की एकता का आभास दिखाना, कवि, चिंतक एवं कलाकार का काम है और यही कला का सौन्दर्य है। मुट्ठी भर धूल में कला समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन करा देती है । अनेकता के असमंजस में खोए हुए हृदय को एकत्रित कर कला उसे मनुष्य की आत्मा में केन्द्रित कर देती है[1]। ललित कलाओं का तात्त्विक मिश्रण, विशेष कर काव्य, चित्र और संगीत को परस्पर निकट लाकर उनके कुछ प्रमुख तत्वों का अधिकतम एकीकरण स्वच्छन्दतावाद की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है[2]।" बाह्य जीवन संबंधी आरोप कला में वे अनुचित मानते हैं । विषय को ये अधिक महत्व नहीं देते । लेकिन अनुभूति के प्रति ईमानदारी बरतने के इच्छुक हैं अर्थात् ऐसे भाव ही ये व्यक्त करना चाहते हैं जिनमें अपने आपको अनेक हृदयों में अनुभूत कराने की क्षमता है व्यष्टिगत अनुभूति का, समष्टिगत बन जाने के लिए रमणीयता, स्निग्धता, कोमलता, तल्लीनता आदि गुण भावों के लिए वे आवश्यक समझते हैं । कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थिमांस की सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की सांसें भरकर, उन्हें संपूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करने में ही ये कलाकार की श्रेष्ठता मानते हैं

छायावादी कवियों के अनुसार सौंदर्य-सृष्टि ही काव्य का उद्देश्य अथवा प्रयोजन है । उनकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तु के माध्यम से वह हमें आनंद प्रदान कर सकता है । सौंदर्यान्वेषण को ही वे जीवन का प्रमुख कार्य मानते हैं । संपूर्ण जगत की समस्त छवियों को आत्मसात् कर आनंद का सृजन करने योग्य अवस्था में परिवर्तित कर लेने पर ही सच्चा कलात्मक सौंदर्य उत्पन्न होगा । लेकिन नीरसता एवं निष्क्रियता की सृष्टि करनेवाला

---

1. ज्योत्स्ना : भा.भं.इलाहाबाद, द्वि.सं., पृ.83
2. कुमार विमल : छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ.3

स्थूल सौंदर्य, रूढिगत आदर्श, परंपरागत नियम शृंखला आदि उन्हें अरुचिकर ही लगी । अपने काव्य द्वारा सूक्ष्म सौंदर्य के भावात्मक चित्रण की आवश्यकता उन्हें महसूस रही थी । प्रसाद की दृष्टि में "संस्कृति सौंदर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा एवं सभ्यता सौंदर्य की जिज्ञासा है । शारीरिक और आलंकारिक सौंदर्य प्राथमिक है, चरम सौंदर्य मानसिक है[2] । निराला ने प्रतिपादित किया है कि चित्रकार जितनी सुन्दर कल्पना कर सकता है, उसका चित्र उतना ही सुंदर होता है । सौंदर्य की ही यह कल्पना ललित कला का मुख्य आधार है[3] ।" पंत और महादेवी ने भी सौंदर्य का महत्व प्रतिपादित किया है । उसके जीवन-सापेक्ष स्वरूप पर बल देते हुए महादेवी ने लिखा है - "संसार में प्रत्येक सुन्दर वस्तु, उसी सीमा तक सुन्दर है, जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामंजस्य की स्थिति बनाये हुए हैं और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अंश तक विरूप है, जिस अंश तक वह जीवनव्यापी सामंजस्य को छिन्न-भिन्न करती है[4] ।" उनकी दृष्टि में कविता को ललित कलाओं में श्रेष्ठ मानने का कारण उसकी सामंजस्यपूर्ण दृष्टि है । बाह्य, आंतरिक, विरस, सरस, सुंदर, असुंदर सभी स्तर की वस्तुओं में वे सौंदर्य की खोज करती है । "स्वच्छन्द कवियों के निकट सौंदर्य, अव्यक्त चेतना का ऐसा वरदान है जो जीवन में रस-आनंद की अविराम वर्षा करके मानव को सत्य के साक्षात् की ऐसी अद्भुत क्षमता प्रदान करता है कि वह संपूर्ण क्षुद्रताओं को त्यागकर ऊर्ध्वमुखी हो उठता है । उनकी दृष्टि में सत्य, शिव और सौंदर्य में तत्वत: कोई भेद नहीं है[5] ।"

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ.28
2. कंकाल, पृ.283
3. चाबुक, पृ.28
4. गंगाप्रसाद पाण्डेय : महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ.20।
5. डॉ. जयदीश गुप्त : हिन्दी की स्वच्छंदतावादी काव्यधारा का दार्शनिक विवेचन, पृ.10।

इन व्याख्याओं एवं स्थापनाओं से स्पष्ट होता है कि ये विशुद्ध काव्यानुभूति के आधार पर काव्य की आत्मा को स्वीकार करते हैं तथा सौंदर्य को काव्य के मूल्यांकन की कसौटी मानकर आलोचना के स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना का प्रयास करते हैं ।

सर्वांदर्यात्मक दृष्टि से भाव-जगत एवं कला-जगत का संतुलित स्वरूप उपस्थित करने में निराला जी बहुत अधिक सफल हुए हैं । "जुही की कली" इसका दृष्टांत है । सौंदर्य के माध्यम से कल्पना के विलास या अनिर्वचनीय अनुभूति का प्रकाशन ही वे नहीं चाहते, बल्कि जीवन की कठोर वास्तविकताओं के उद्घाटन में ही उसकी पूर्णता देखते हैं । सौंदर्य के सभी रूपों का प्रकाशन उनकी कविताओं में हुआ है । महादेवी, पंत, प्रसाद सभी में न्यूनाधिक मात्रा में यह गुण विद्यमान है । इसी पर प्रकाश डालते हुए कुमार विमल ने बताया है कि छायावाद युग सौंदर्य-चेतना की उन्मुक्ति का प्रसारकाल है । इस काल में कवि की सौंदर्य भावना का उन्मुक्त संचरण विराट् से लेकर क्षुद्र तक समान रूप से हुआ क्योंकि सर्वात्मवादी दृष्टि की प्रधानता के कारण छायावादी कवि को संपूर्ण सृष्टि के कण कण में परम चेतना का भास्वर प्रकाश देखने को मिला है । अत: छायावादी काव्य में सौंदर्य को एक विभु सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है ।[1] आत्माभिव्यंजन से प्राप्त आनंद के अनुभव के लिए ही ये कविता करते हैं । काव्य के मूल्यांकन का मानदण्ड यही है । सत्य, सौंदर्य, मंगल सबके सार्वदेशिक रूप को ये महत्त्व देते हैं । काव्य में काव्यत्व भरकर उसमें नयी प्राणशक्ति फूँक देनेवाली परम रम्य भावना को ही ये सौंदर्य मानते हैं । कृति की मौलिकता, कृतिकार का व्यक्तित्व, कृति को रूप देनेवाली परिस्थितियाँ, कृति एवं कृतिकार की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, अभिव्यंजनाशक्ति सबका विशद अध्ययन मूल्यांकन के लिए ये आवश्यक समझते हैं । कृति की सौंदर्यचेतना

---

1. छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ.39

याने उसके सभी तत्वों के बाह्य एवं आंतरिक सौष्ठव के दर्शन कर उसकी अनुभूतिमयी व्याख्या का पूरा दायित्व समीक्षक पर है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उनकी दृष्टि में समीक्षा का मानदण्ड रचना मे ही विद्यमान है । वाजपेयी जी के शब्दों में भी आलोचक का पहला और प्रमुख कार्य है कला का अध्ययन और उसका सौंदर्यानुसंधान[1] ।" प्रेमचंद की कला में वे इसका अभाव दर्शाते हैं । पंत की "परिवर्तन" नामक कविता से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए रूप-योजना तथा भाव-समृद्धि का जो तारतम्य दर्शाया है वह जरूर उनकी सूक्ष्म, सौंदर्यान्वेषी दृष्टि का परिचायक है ।

वाजपेयी जी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने स्वच्छंदतावाद और छायावाद का अंतर समझकर दोनों शब्दों का प्रयोग सावधानी एवं समझदारी से किया । उनके विचार में "स्वच्छंदतावाद नवयुग की समग्र प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला काव्यरूप है जिसमें परंपरागत काव्यधारा और काव्योपकरणों के विरुद्ध विद्रोही उपकरणों की प्रधानता है, इसमें नई भावसृष्टि और नए अलंकरण हैं, बहिर्मुखता के स्थान पर अंतर्मुखी प्रयाण है, प्रकृति का निसर्गजात आकर्षण है, शब्दावली में नवीन संगीत हैं, छायावादी काव्य में भी ये तत्व हैं । किंतु इसका यह नाम पड़ने का कारण इसमें अंतर्निहित आध्यात्मिकता का तत्व है[2] ।" काव्य के भावपक्ष में इसने जो परिवर्तन खड़ा किया उसको उन्होंने यों स्पष्ट किया है - "स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा क्रमशः जातीय आदर्शों के प्रति अवमानना या उपेक्षा का भाव लेकर आई । एक बहुत बडी विभाजक रेखा प्राचीन और नवीन के बीच में बनी । आधुनिक कविता किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं करती, किसी प्राचीन पुरुष की अपेक्षा नहीं रखती । यह कवि की स्वतंत्र अनुभूतियों लालसाओं और संघर्षों को प्रतिबिंबित करती है । इसमें नियमानुशासन के विरुद्ध विद्रोह की वाणी व्यक्त हुई है[3] ।" नयी कविता में लक्षित नए

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.118
2. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ.103
3. वही, पृ.103

जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा, स्वतंत्र प्रयोग की प्रवृत्ति, नए तथ्यों की मान्यता, एवं नए नियमों के निर्धारण के प्रयत्न, जातीय भावनाओं के स्थान पर व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रदर्शन की माँग, स्वतंत्र दर्शनों को व्यक्त करने का साहस आदि अनेक नवीनताओं की ओर उन्होंने संकेत किया है । नियमों को तोड़नेवाली, परंपरा का निषेध करनेवाली, व्यक्ति की स्वतंत्रता की उद्घोषणा करनेवाली इस स्वच्छन्द काव्यधारा का, वाजपेयी जी उस हद तक स्वागत करते हैं जहाँ तक इस की प्रवृत्तियाँ कविता के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों में मौलिकता एवं नवीनता लाने में समर्थ हुई है । किंतु जहाँ यह अतिवाद की सीमा का स्पर्श कर यदाकदा विशृंखल हो गई है और निरर्थक शब्द-जाल में ही फंस गई है उसका समर्थन वे नहीं कर पाते । वे लिखते हैं - "प्राचीन काव्य यदि नियमाधिक्य से ग्रस्त होता गया, तो नई कविता नियमशून्य होने का भय उपस्थित करने लगा । अपने उत्कर्ष के युग में दोनों ही काव्य बहुत समीप रहे हैं । दोनों से समान आह्लाद मिलता है । प्राचीन काव्य आभिजात्य, परंपराशास्त्र और औदात्य की वस्तु है । नया काव्य अंत:सत्व का अन्वेषक है तथा अनुभूतियों को विशिष्ट ढंग से स्पर्श करता है ।" छायावादी कवियों में जिस स्वच्छन्द दृष्टि के दर्शन होते हैं उसका विश्लेषण करते हुए वाजपेयी जी ने स्थापित किया है कि अंग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावादी कवियों से प्रभावित होते हुए भी भारतीय परंपरा से संबद्ध रहने में हिन्दी के कवि निश्चय ही सफल हुए हैं ।

प्रगतिवाद

सन् 1940 में पूना में जब अखिल भारतीय हिन्दी सम्मेलन द्वारा एक साहित्य-परिषद् का आयोजन हुआ तो उसके अध्यक्ष पद से वाजपेयीजी ने प्रगतिशील साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए एक भाषण दिया था जो उनकी सुलझी हुई विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिचायक है । चूँकि सभी साहित्यिक आन्दोलन प्रगतिशीलता के द्योतक हैं इसलिए मात्र एक आन्दोलन का नाम प्रगतिशील रखना वाजपेयी जी को युक्तिसंगत नहीं लगता । वे बताते हैं - "इस नामकरण से भ्रम होता है कि हमारे पहले के आन्दोलन प्रगतिशील नहीं थे । प्रगतिशील ही नहीं, वे प्रचलित सामाजिक स्थितियों

और साहित्य-सरणियों के विरुद्ध विद्रोहात्मक भी थे । ऐसी अवस्था में केवल इस अंतिम आंदोलन का नाम प्रगतिशील रखना कुछ ऐसा भ्रम है जैसे पुत्र अपना नाम पिता के नाम पर रख ले ।" उनके मत में "प्रगति तो प्राकृतिक गति है । वह परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार का आवश्यक परिणाम है । परिवर्तन का प्रतिबिंब होना ही साहित्य का एकमात्र स्वरूप या लक्ष्य नहीं है[2] ।"

वाजपेयी जी प्रगतिवाद को सम्मान की दृष्टि से नहीं देख पाए । कोरी विवेचना करने से राष्ट्र और साहित्य का कोई वास्तविक हित न होगा । संघर्ष में स्वयं उतरे बिना उसका चित्रण करने की प्रवृत्ति उन्हें अस्वाभाविक लगती है । उनके विचार में व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर निर्मित साहित्य देशकालजयी नहीं हो सकते । प्रगतिवादी दृष्टि को अनिर्दिष्ट काव्य-प्रवृत्तियों से समन्वित मानते हुए वे लिखते हैं कि "ये रचनाकार तो जा रहे हैं एक ओर, उन्हें रास्ता तो दिखाया जा रहा है दूसरी ओर । रास्ता दिखाने वालों की संख्या देखनेवालों से भी अधिक है । रास्ते पर चल कितने रहे हैं, यह प्रश्न दूसरा है । इसी रास्ते का नाम प्रगतिवाद है[3] ।

वाजपेयी जी मानते हैं कि जो भी सुधार के इच्छुक हैं उन्हें परिवर्तन की सारी दिशाओं के परिज्ञान तथा विकासमूलक शक्तियों और दिशाओं की सही पहचान होनी चाहिए । उनके विचार में सच्चे अर्थ में जो परिवर्तन आवश्यक हैं वे तो कृत्रिम साधनों से रोके गए हैं और जिन से साहित्य को दूर रहना चाहिए उनकी अनपेक्षित वृद्धि भी हो रही है ।

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.357
2. वही
3. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.3।

अपने सामूहिक उत्तरदायित्व से भली-भाँति अवगत होकर ही साहित्यकार को विभिन्न ज्ञात-अज्ञात प्रभावों को ग्रहण करना चाहिए । उनकी दृष्टि में प्रगतिशील साहित्यकार वह निरीह प्राणी नहीं है जो समाज और उसकी चेष्टाओं को आँख मूँदकर अपने ऊपर थोप देने का प्रयास कर परिवर्तन लाने का दावा करता है, किंतु वह सक्रिय सर्जनात्मक प्रतिभा का धनी है, जो व्यक्ति और समाज के बीच रह कर उनकी समस्याओं की गहराई में पैठकर उसके बीच चलनेवाले आदान-प्रदान को सहज रूप से ग्रहण करता है । साहित्य में वे समयानुकूल परिवर्तन के पक्षपाती हैं । उनका कहना है - "न हम आए हुए प्रभावों अथवा नवीनता के झोंके में बह जायें और न विगत आदर्शों का स्वप्न देखते रहें । निराशा के लिए निराशा की फुलझाड़ियाँ बरसाना हम साहित्य में बन्द कर दें और साथ ही आकाश-कुसुमों की आशा भी छोड़ दें[1]।" उनका दृढ विश्वास है कि यदि हम अपनी परंपरागत प्रगति-शीलता को पहचान सकें और अपनी दार्शनिक और सांस्कृतिक विरासत के प्रति ईमानदार रह सकें तो मार्क्सवाद का पल्ला पकड़े बिना भी साहित्य में वास्तविक प्रगतिशीलता लायी जा सकती है । हमारी साहित्यिक परंपरा से प्रेरणा ग्रहण करने के आग्रह से वे कहते हैं - "भारतीय काव्य की एक सुदीर्घ परंपरा है और उसमें उत्कर्ष के अनेक आलोक शिखर हैं । ऐसी उपलब्धियों की सत्ता शाश्वत है और काव्य-सौंदर्य एवं मूल्य की हमारी चेतना उनसे ही निर्मित है[2]।"

वाजपेयी जी प्रगति और जीवन का संगठित स्वरूप देखने का आग्रह करते हैं जिससे "जीवन संबंधिनी आधारभूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय, हम मृत्यु अथवा अगति के उपासक न बन जाएं, निराशा और आत्मपीडन को अर्घ्य न देने लगें[3]।" उनकी दृष्टि में मृत्यु से अधिक वरेण्य

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.358
2. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.38
3. आधुनिक साहित्य, पृ.359

जीवन है, अत: प्रगतिशील साहित्य में उसका स्पष्टीकरण सशक्त रूप में किया जाना ही अभिकाम्य है । साहित्यकार को युग-जीवन की निराशा के पीछे आत्मविस्मृत नहीं होना चाहिए । "बाह्य-संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक सौष्ठव का उसमें अधिक महत्व है[1]।" प्रगतिशील साहित्य को समय-सापेक्ष मानते हुए तीन सूत्रों का प्रतिपादन उन्होंने किया है जिनसे उसका स्वरूप स्पष्ट होता है । इनमें पहला सूत्र है आत्मचेतना या जीवन चेतना जो साहित्य अथवा कला के वास्तविक निर्माण के लिए अनिवार्य है । दूसरे सूत्र के अनुसार, साहित्यकार परिवर्तन के क्रम को समझते हुए नवीन समस्याओं के संपर्क में आवे और नवीन ज्ञान का उपयोग करना जाने[2]।" तीसरे सूत्र में कलानिर्माण के पक्ष को महत्व दिया गया है[3]।" उनके मतानुसार कला का लक्ष्य प्रचार न होकर सृष्टि होता है और उसकी प्रगतियाँ नई प्राण प्रतिष्ठा, नए तौर-तरीके, नूतन छन्द, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति आदि है जो विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप में प्रकट होता है । मतवाद का आग्रह एवं नैतिक चेतना का अभाव ही प्रगतिवादियों में अधिक खटकते हैं । उनके विचार में "यह एक विदेशी विचार शैली है जिसका हमारे देश की जलवायु में पोषण नहीं हुआ । यह परंपरा रहित है और एक राजनीतिक मतवाद का अंग बनकर आई है । विदेशों में भी इसकी कोई पुरानी बुनियाद नहीं है । किसी साहित्यिक समीक्षा-शैली का किसी भी दार्शनिक या राजनीतिक मतवाद के शिकंजे में बंध जाना साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं है[4]।" इस समीक्षा शैली के व्यवहारिक स्वरूप को वे बिलकुल विचित्र मानते हैं । इस बात पर भी वे आश्चर्य प्रकट करते हैं कि

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.360
2. वही, पृ.360
3. वही, पृ.365
4. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.119

इस धारा के किन्हीं दो समीक्षकों में किसी एक प्रश्न पर मतैक्य नहीं दिखाई देता । इसकी अनिश्चित रीतिनीतियों की ओर संकेत करते हुए वे बताते हैं कि "किस नवागंतुक प्रतिभा को यह सहसा आसमान पर चढ़ा देगी और कब उसे ज़मीन पर ला पटकेगी, इसका कुछ भी निश्चय नहीं ।"[1] यह भी एक त्रुटि मानी गयी है कि "वे रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तुस्थिति का योग न देखकर एक स्वरचित वस्तुस्थिति के आधार पर साहित्यिक रचना की परीक्षा करते हैं ।"[2]

प्रगतिवादी समीक्षा में टीटोवाद, ट्राटस्कीवाद, मार्क्सीसिस्ट-लेनिनिस्ट-स्टालिनिस्ट पद्धति आदि शब्दावलियों की बहुलता वाजपेयी जी की दृष्टि में बिलकुल अनावश्यक है । साहित्य के विकास को किसी विशेष वर्गवादी विचारधारा से संबद्ध करने से यही परिणाम निकलता है कि कोई बडी प्रतिभा पनप नहीं पाती और साहित्य साहित्य न रहकर अन्य कुछ हो जाता है । प्रगतिशीलता के नाम पर बने-बनाये सरकारी नुस्खों के पीछे पड़ते रहने की रीति भी उन्हें बिलकुल अरुचिकर लगती है । सैद्धांतिक दृष्टि से वाजपेयी जी ने यह आपत्ति उठायी है कि "यह समीक्षा-शैली न किसी साहित्यिक परंपरा का अनुसरण करती है और न किसी साहित्यिक परंपरा का निर्माण कर रही है । यह जीवन के वास्तविक अनुभवों के संपर्क की अपेक्षा पढे-पढाये मतवाद को अधिक प्रोत्साहन देती है । इसकी सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते हैं, वे आवश्यकता से अधिक समाजशास्त्रीय हैं और आवश्यकता से कम साहित्यिक । इस कारण "मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों का निरूपण करने में सदैव पश्चात्पद ही रही है ।"[3] समस्त मानवीय चेतना के आकलन के बदले मात्र कवि की राजनैतिक चेतना के आकलन की प्रवृत्ति उनकी दृष्टि में एकांगी है । सरस और मार्मिक अनुभूतियों के दर्शन इस साहित्य में वे नहीं करते । इस कारण अधिकांश प्रगतिशील साहित्य को उन्होंने प्रचारात्मक निबंधों की कोटि में रखा है ।

प्रगतिवादियों की प्रगतिशीलता की बात वाजपेयी जी छिछली और क्षणिक मानते हैं। यह धारणा वे भ्रामक मानते हैं कि मार्क्सीय विचार-पद्धति से कोई अनुपम जीवन-दृष्टि मिलती है या सत्य से सीधे साक्षात्कार हो सकता है। वे स्पष्ट करते हैं कि "राष्ट्र और जातियाँ किसी मतवाद के बल पर बड़ी नहीं होती, वे बड़ी होती हैं अपनी आंतरिक चेतना, सहानुभूति और प्रयत्नों के बल पर।"[1] साहित्यिक उपलब्धियों की साहित्यिक चेतना को सशक्त रखने के इच्छुक वाजपेयी जी यह नहीं चाहते कि मतवादों या संप्रदायों के संकुचित दायरे में बद्ध रहकर किसी भी कृति की साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक चेतना लुप्त हो जाय।

प्रगतिवाद की त्रुटियों का प्रतिपादन करने के साथ ही इस विचार-पद्धति से साहित्य का जो कुछ भी उपकार हुआ है उसका भी महत्व वाजपेयी जी ने मान लिया है। वे भी इस सत्य को नजरंदाज़ नहीं करते कि इसने युवकों को एक नई तेजस्विता प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी दिया है[2]। यह भी मानते हैं कि साहित्य-सौष्ठव संबंधी एक नई मापरेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति से प्राप्त हुए हैं[3]।" यथार्थवादियों, प्रकृतिवादियों एवं मनोविश्लेषण के तत्वज्ञान को लेकर चलनेवालों की अपेक्षा प्रगतिवादी दृष्टि को वे अधिक उदार एवं सामाजिक चेतना से समन्वित भी समझते हैं। साथ ही यह भी बताया है कि हमारे सारे विचार-स्वातंत्र्य को खो देने तथा साहित्यिक मानदण्ड को अतिशय सीमित एवं संकीर्ण बना देने में भी इसका विशेष हाथ है[4]।"

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.121
2. वही, पृ.122
3. वही, पृ.123
4. वही, पृ.122

वाजपेयी जी का दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकार की विवशताएँ उठाये बिना ही हम साहित्य का कल्याण कर सकते हैं। वे चाहते हैं कि हमें रवीन्द्र और प्रसाद, शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द की साहित्यिक परंपरा और शुक्ल-शैली की समीक्षा को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आगे बढ़ाना है।[1]" "वे किसी भी नए मतवाद या ज्ञान-द्वार की अवहेलना नहीं करते, परंतु किसी को आँख मूँदकर मुक्ति-मार्ग मान लेने के भी पक्षपाती नहीं है।[2]" प्रगतिवादियों का उद्देश्य वे महान मानते हैं, उनकी व्यावहारिकता पर ही उन्हें सन्देह है। नई शैलियों एवं नए प्रयोगों के बल पर नए प्रणों के निर्माण का वे आग्रह करते हैं। कोरी विवेचना का वे कोई अर्थ नहीं देखते।

डॉ॰ नगेन्द्र, गणपतिचंद्र गुप्त, डॉ॰ देवराज आदि भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण को एकांगी एवं त्रुटिपूर्ण मानते हैं। साहित्य के प्रति बरती जानेवाली स्थूल एवं भौतिक दृष्टि नगेन्द्र ठीक नहीं मानते। गणपतिचंद्र गुप्त की भी यही राय है कि "जब तक प्रगतिवादी साहित्य विचारों में शुष्क संकलन से बचकर भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं हो जाता, तब तक वह जन-समूह को प्रभावित करने के अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता[3]।" डॉ॰ देवराज उसमें सांप्रदायिकता का दोष देखते हैं। साहित्य समीक्षक से बढ़कर प्रचारक के रूप वे उनमें देखते हैं। वे मानते हैंकि "प्रगतिवाद का विशिष्ट सन्देश तभी प्रभावशील रूप में प्रकट होगा जब उसे जीवन की संपूर्ण अकुंठित अभिव्यक्ति के बीच ग्रथित और प्रतिष्ठित किया जाएगा। पूर्णतया प्रगतिशील (प्रभावशील) बनने के लिए, साहित्य सृष्टि पर उचित प्रभाव डाल सकने के लिए प्रगतिवादियों को समीक्षक ही नहीं, सहृदय भी बनना पड़ेगा[4]।"

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ॰122
2. वही, पृ॰122
3. हिन्दी साहित्य, प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ, पृ॰41
4. आधुनिक समीक्षा : कुछ समस्याएँ, पृ॰13

वाजपेयी जी की प्रगतिवाद-विषयक विवेचना के संबंध में डॉ॰ रामदरश मिश्र की मान्यता है कि "प्रगतिवादी काव्य में व्यक्त भौतिकवादी दर्शन के प्रति वे उपेक्षाभाव बरतते हैं। दर्शन को देश काल के अनुरूप परिवर्तनशील माननेवाले वाजपेयी जी प्रगतिशील साहित्य के विश्लेषण में अपने इस सिद्धांत का उपयोग नहीं कर पाते।[1]" नामवरसिंह प्रगतिवाद का महत्व इस दृष्टि से छायावाद या प्रयोगवाद की अपेक्षा अधिक मानते हैं कि उसने आलोचना के मान स्थिर किए और उसके अनुसार सामान्यत: समूची साहित्य परंपरा का और विशेष रूप से अपने समकालीन साहित्य का मूल्यांकन भी किया। इस तरह प्रगतिवाद ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा के द्वारा साहित्य को बदलने और विकसित करने में नेतृत्व किया[2]।" जिस तथ्य को वाजपेयी जी ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण की त्रुटि बतायी है उसी को नामवरसिंह उसकी उल्लेखनीय खूबी मान लेते हैं। उनकी दृष्टि में दृष्टिकोण की तटस्थता समीक्षक के लिए असंभव है। इसी के समर्थन में वे यह भी स्थापित करते हैं कि रचना में सौंदर्य वास्तविकता के अधिक से अधिक चित्रण से आता है तथा सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है। वाजपेयी जी ने समीक्षा के लिए जिस शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड का प्रस्ताव रखा है उसका भी नामवरसिंह निषेध करते हैं। प्रगतिवादी समीक्षा की उपलब्धियों के आकलन में उन्होंने व्यक्त किया है कि "प्रगतिवाद ने समीक्षा के नितांत शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड का विरोध कर स्वस्थ सामाजिक मानदण्ड की प्रतिष्ठा की। प्रगतिवाद के अनुसार वह तथाकथित शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड भी सर्वथा समाज-निरपेक्ष नहीं है, बल्कि वह वस्तुत: समाज की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों की छाया है। इस शुद्ध "साहित्यिक मानदण्ड" को कुछ लोगों ने शाश्वतता का गौरव दे रखा है।

---

1. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ, पृ॰156
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ॰104

इस काल्पनिक "शाश्वतता" का खंडन करते हुए प्रगतिवाद ने स्थापित किया कि किसी रचना का शाश्वत मूल्य उसके ऐतिहासिक मूल्य में ही निहित है और ऐसे ही ऐतिहासिक मूल्यों से समीक्षा के क्षेत्र में एक परंपरा बनती है जिसके आधार पर प्राचीन से लेकर आधुनिक साहित्य तक का तुलनात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है । इस तरह प्रगतिवाद ने समीक्षा की व्यक्तिनिष्ठता, भाववादी पूर्वाग्रह तथा जड़ता से मुक्त करके उसके स्थान पर स्वस्थ, वैज्ञानिक, बोधगम्य, वस्तुनिष्ठ और जनकल्यापकारी" ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति" की प्रतिष्ठा की ।"

वाजपेयी जी ने जिस साहित्यिक मानदण्ड की चर्चा की है उसमें जनता से संबंध-विच्छेद की बात कहीं नहीं बतायी गयी है । लेकिन उनकी मान्यता की विशिष्टता इस बात में है कि कलात्मक सौष्ठव पर उन्होंने ज़ोर दिया है । जनता से दूरी करके महान साहित्य की सृष्टि हो सकती है, ऐसा भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता । शुद्ध साहित्यिक मानदण को उसके अभिप्रायों में ग्रहण करनेवालों को शायद इस प्रकार का भ्रम हो, लेकिन सत्य तो यह है कि जीवन की गंभीर समस्याएं, उनकी प्रेरक स्थि समाज सबको उन्होंने अपेक्षित महत्व प्रदान किया है । नागार्जुन, केद आदि का उदाहरण देकर उन्होंने स्पष्ट किया है कि हिन्दी में व्यंग्य का सर्वाधिक सशक्त रूप प्रगतिवादी कविताओं में प्राप्त होता है ।

प्रयोगवाद

वाजपेयीजी के प्रयोगवाद विषयक विवेचन का आधार का पहला भाग रहा है । अपने विवेचन में उन्होंने प्रयोगवाद के कलापक्ष, पद प्रयोग, छन्द रचना आदि को लेकर बहुत ही गंभी

---

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.110-111

विचार प्रस्तुत किए हैं । ऐतिहासिक विकास पर आधृत समालोचनादर्श को ध्यान में रखकर यह आलोचना की गई है । उनकी दृष्टि में प्रयोग शब्द में एक प्रकार की कृत्रिमता और अभ्यास की व्यंजना है । प्रयोगवादियों की "उलझी हुई संवेदना" की उन्होंने कडी आलोचना की । "सप्तक" के कवियों का वक्तव्य ही उनकी आलोचना का केन्द्र रहा है । इन कवियों के वक्तव्य का निजी महत्व है क्यों कि प्रयोगवादी रचनाओं को इसी नाम से अभिहित किये जाने के मूल में इन वक्तव्यों का विशेष योग है । उन्होंने भाकर माचवे, अज्ञेय आदि का उदाहरण देकर, उन्हीं के दृष्टिकोण के आधार पर बहुत ही सार्थक एवं सजग युक्तियाँ पेश करके, उनकी मान्यताओं की टीका-टिप्पणी करके प्रयोगवाद का अनिश्चित स्वरूप, उसमें लक्षित अनेक प्रकार की असंगतियाँ अथवा उनके गैर-साहित्यिक पहलुओं का प्रतिपादन किया गया है । इस बात के प्रति वाजपेयीजी का विरोध प्रकट होता है कि इसके अधिकांश कवियों में नए प्रयोग की आतुरता किसी गंभीर लक्ष्य से प्रेरित नहीं होती । अन्वेषण के लिए अन्वेषण या प्रयोग के लिए प्रयोग कर पाठकों को चौंकाने की प्रवृत्ति में वे किसी कलात्मकता के दर्शन नहीं करते । उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि ये व्यक्ति समाज के प्रति गहन आत्मीय संबंध से बंधे हुए नहीं है, केवल उसकी तार्किक भूमियों में विचरण करना जानते हैं । उनके मत में प्रयोगवाद की परिभाषा है "उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अथवा अज्ञेय क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरों, सीधे या उलटे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होनेवाले अन्वेषियों की रचना[1]।" सृजन और प्रयोग में मौलिक अंतर मानते हुए वे बताते हैं कि प्रयोगों का बाहुल्य किसी भी अवस्था में वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता[2]।" क्योंकि काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है । वे इस तथ्य का निषेध करते हैं कि अपनी अनुभूतियों के प्रति, काव्य-परंपरा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति उत्तरदायी रहने को मज़बूर रहनेवाले कवि ऐसे प्रयोगों का पल्ला पकडें

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.75
2. वही, पृ.76

जिन का उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास क्रम से सहज संबंध नहीं है । इस बात पर उन्हें आश्चर्य होता है कि हमारे कवि हमारे काव्य-क्षेत्र में अजनबी बनकर आएं और रहें यह उनके लिए ही नहीं, हमारे लिए भी एक ओछी बात होगी । हम अपने काव्योद्यान में ऐसे फूल लगाना नहीं चाहेंगे जो हमारी धरती से रस खींचना अस्वीकार करें और जिन्हें प्रयोगों का इंजेक्शन देकर जिलाया जा सकें ।[1] व्यक्तिगत अनुभूति के प्रति, काव्य सत्ता के प्रति तथा सामाजिक जीवन के प्रति पूर्णत: उत्तरदायी रहनेवाले कोई भी कवि प्रयोगवादियों में वे नहीं देखते । इसलिए इन कवियों को श्रेष्ठ कवियों की कोटि में स्थान नहीं देते । उनके विचार में इनमें अधिकांशत: वास्तव में निबन्धकार और उपन्यासकार हैं जो कविता के क्षेत्र में अनायास आ गए हैं । उनकी कविताओं को वे वास्तविक कविता भी नहीं मानते ।

वाजपेयी जी प्रयोगवादी रचनाओं में काव्योपयोगी समन्वयपूर्ण भावनाओं का अभाव दर्शाते हैं । भावसौष्ठव-संपन्न आधुनिक काव्य की अन्य प्रवृत्तियों की तुलना में इसकी सारहीनता वे यों स्थापित करते हैं - "हिन्दी-काव्य-परंपरा में प्रयोगवादी शैली कभी भी अधिक सम्मान-सूचक नहीं रही । प्रयोग शब्द से प्राय: नये अभ्यास, नवीन प्रयास या नयी निर्माण-चेष्टा का अर्थ लिया जाता है । प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणत: उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो । वास्तविक सृजन और क्रांतदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है । अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है ।

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.77

स्रष्टा और सन्देशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता मात्र होता है।"
कहीं-कहीं व्यक्तिवादी मनोवृत्ति पर उन्होंने निष्ठुर प्रहार किया है।
उनके मत में हमारा साहित्यिक निर्माण व्यक्तिकेन्द्रित न होना चाहिए और
न केवल वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को ही साहित्य में महत्व मिलना चाहिए।
उनको प्रयोगवाद में मानसिक उलझनों और बौद्धिक चेष्टाओं के सिवा कुछ
भी गुण नहीं दिखाई देता। नए प्रयोगों का पूर्ण समर्थन वाजपेयी जी
इसलिए नहीं कर पाते कि निराशा, अनास्था एवं कुंठा के स्वर ही उनसे
मुखरित होते हैं जब कि उनकी जीवन-दृष्टि आस्था और आत्मविश्वास का
समन्वित रूप है। साहित्य में निराशामूलक स्थितियों का चित्रण कभी वे
अवांछनीय नहीं कहते, किंतु उन्हें ही आदर्श मानकर, उन्हीं से अभिभूत होकर
जीवन का लक्ष्य विस्मृत कर देने की प्रवृत्ति वे श्रेयस्कर नहीं मानते। व्यापक
एवं गतिशील जीवन के सतत एवं सर्वतोमुखी विकास में बाधक रहनेवाला कोई
भी तत्व वे हानिकारक समझते हैं। परंपरा से कटकर, मात्र विदेशी अनुकरण
पर साहित्यिक गतिविधियों को अग्रसर करने की प्रवृत्ति उनकी आदर्शवादी
नैतिक दृष्टि केलिए सह्य नहीं था। सभी प्रकार के अतिवादों से मुक्त
एक सुदृढ राष्ट्रीय धरातल पर साहित्य-समीक्षा को प्रतिष्ठित करने का
महान प्रयास वे कर रहे थे। वास्तव में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की
मान्यताएं उनकी आलोचनात्मक वृत्ति के अनुरूप नहीं थीं। यह तो
उन्होंने आवश्यक भी नहीं समझा कि इन दोनों प्रवृत्तियों को उचित अर्थ
में ग्रहण करने केलिए उनके जीवन-दर्शन और सामाजिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करे
उनकी समीक्षात्मक मान्यताएं स्वच्छन्दतावादी समीक्षा से उद्भूत हैं।
प्रयोगवाद पर प्रहार करने के लिए तीक्ष्ण और प्रखर शब्दों का ही उपयोग
उन्होंने किया जिसमें व्यंग्य और उपहास की छाया भी दीखती है।
इससे प्रयोजन तो ज़रूर हुआ, इसकी ओर स्वयं वाजपेयी जी ने ही
संकेत किया है - "प्रयोगवाद केलिए मेरी चौथी पुस्तक में एक भी संवर्द्धना का
शब्द नहीं है, बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत-से प्रयोगवादी

तिलमिला उठे हैं । ..... खैरियत यह हुई कि यह अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय-परिवर्तन बहुतों का हुआ है[1] । बहुत-से प्रयोगवादी नए सिरे से समझदार हो गए हैं और कई तो खेमा छोड़कर बाहर चले गए हैं[1] ।"

वाजपेयी जी का यह कथन बिलकुल सही निकलता है । उनकी मान्यताएं निश्चय ही प्रयोगवादियों को सही मार्ग दिखा देने में सहायक हुई । अधिकांश कवि आत्मनिरीक्षण के लिए मज़बूर हो गए । प्रयोगनारायण त्रिपाठी की पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जी सकती हैं । उन्होंने लिखा - "मुझे लगता है कि नयी कविता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है, उसके अंतर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज़ बकवास हैं । ..... अनेक दोष इनमें दिखाई दे रहे हैं ..... नए और यथार्थ के चित्रण के नाम पर इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, (जो) न तो हमारे सम्मुख कोई प्रभावशाली बिंब ही उपस्थित करती है और न आज के जीवन यथार्थ के प्रति कोई रागात्मक उत्तेजना ही उत्पन्न करती है[2] ।" डॉ॰ नगेन्द्र, डॉ॰ रामविलास शर्मा, डॉ॰ गणपतिचंद्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान आदि आलोचकों ने भी इसकी कमज़ोरियों की ओर संकेत किया है । नगेन्द्र जी तो प्रयोगवादी दृष्टिकोण को प्रारंभ से ही भ्रांतिपूर्ण मानते आए हैं । उन्होंने स्पष्ट बताया कि प्रयोगवादी कवियों की मनोवृत्ति छिछली है । परोक्ष रूप से यह आग्रह भी उनसे प्रकट किया है कि वे काव्य में शुष्क बौद्धिकता के प्रयोगों के बदले रागात्मक संवेदनाओं को महत्व दें । नवीनता के मोह में काव्य के मौलिक भाव अथवा रसानुभूति की प्रतीति से हाथ धोने की स्थिति वे शोभनीय नहीं समझते । गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी लिखा है कि

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, निकष, पृ॰20
2. तीसरा सप्तक, पृ॰24

"यदि ये कवि अपनी त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करें, वे "नयी कविता" नहीं, केवल "कविता" लिखने की चेष्टा करें तथा पश्चिम के अंधानुकरण के स्थान पर निजी अनुभूतियों पर विश्वास करें तो अवश्य तथाकथित "नयी कविता" सच्ची कविता का रूप प्राप्त कर सकती है[1]।" अपने असफल प्रयोगों में यद्यपि ये कवि सत्य का दावा करते हैं तो भी नामवर सिंह के विचार में "यह तो कामचलाऊ नुस्खा है"। सत्य की प्राप्ति वे इसमें असंभव मानते हैं। उन पर व्यंग्य करते हुए वे बताते हैं कि "कहना न होगा कि सफलता को सत्य के प्रयोग की कसौटी माननेवाले प्रयत्नशील कवियों को एक तरह से हिन्दी-जगत् में काफी "सफलता" मिली[2]।" विभिन्न प्रयोगवादी रचनाओं से गुजरते हुए उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला है कि "कुल मिलाकर प्रयोगवादी कविताएं ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र है जिसमे हम में से कुछ की कुंठित संवेदनशीलता को उद्धृत किया गया है। इस दृष्टि से इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्त्व है[3]।" वाजपेयी जी तो एक ऐसा विवेचक दीखते हैं जो परंपरा की अंधी उपासना, आधुनिकता का अंधानुकरण दोनों अनुचित समझते हैं।

नयी कविता

नयी कविता पर उसकी प्रारंभिक अवस्था में आचार्य वाजपेयी ने अनेक आरोप लगाए हैं। उनकी दृष्टि में नई कविता एक विशेष तबके के कवियों की विशेष लहजेकी रचनाएं हैं तथा हिन्दी कविता की स्वस्थ और प्रांजल परंपरा को छोड़कर अटपटी शैली की रचना को नई कविता का नाम

---

1. हिन्दी साहित्य : प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ, पृ.68
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.120
3. वही, पृ.150-151

देना भ्रामक और असमीचीन होगा[1]। उनकी शिकायत यह है कि "नये रचनाकार काव्य की सहज अंतरंग प्रेरणाओं से संचालित नहीं है। वे अधिकांश में श्रमसाध्य और गढे हुए कवि हैं जिन्होंने कवि-कर्म का बाना ग्रहण किया है[2]।" ऐसा निष्कर्ष निकालने का कारण उनकी दृष्टिमें यह है कि नयी कविता में परस्पर विरुद्ध बातें परिलक्षित होती हैं। उदाहरणार्थ नई कविता के हिमायती छन्द के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती। यह बात उन्हें विचित्र-सी लगती है। क्योंकि छन्द का बहिष्कार करके लय की उपयोगिता बताना एक विचित्र अंतर्विरोध का परिणाम है। वे इस बात पर सन्देह प्रकट करते हैं कि जिन कवियों के कानों को छन्दों का संगीत वर्जित है वे लय की संगति कहाँ तक समझ और पा सकेंगे[3]।" नये कवियों की यह प्रवृत्ति भी उन्हें हितकर नहीं लगती कि वे हिन्दी-काव्य की अपनी लय-पद्धति का उचित अनुशीलन न करके अंग्रेज़ी के लय संस्कारों को हिन्दी में अवतरित कर रहे हैं।

वाजपेयी जी इस विचार के समर्थक हैं कि किसी भी काव्यधारा का, क्रमागत काव्य-पद्धति से बिलगाव नहीं होना चाहिए, बल्कि यही अपेक्षित है कि वह क्रमागत काव्य को नया विस्तार और नई प्राणशक्ति देने में सर्वथा समर्थ हो। नये प्रयोगों में वे इसका अभाव देखते हैं। इस प्रकार की कविता वे सामान्य पाठकके लिए अनुपयोगी मानते हैं। यह स्थिति भी उन्हें बहुत बडे दुर्भाग्य की प्रतीत होती है कि किसी भी युग के काव्य के अनुशीलन और आस्वाद के लिए रचयिताओं की विस्तृत व्याख्याओं और वक्तव्यों की ज़रूरत पड़े। इस संबंध में उनका कहना है कि "नई कविता के इस परावलम्बन का अर्थ यही है कि यह प्रकृतधारा से टूटकर अलग हो गई है, सहज भावगम्यता का आदर्श खो बैठी है और अपनी भावसंपत्ति को बौद्धिक

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.67
2. वही, पृ.69

आवरणों से आच्छादित कर दुरूह बन गयी है[1]।" वाजपेयी जी का यह तर्क तो एक हद तक न्यायसंगत माना जा सकता है क्योंकि प्रयोगवादी रचनाओं में ऐसे अनगिनत उदाहरण उपलब्ध होंगे जो या तो रचयिता को छोड़कर अन्य किसी की समझ में नहीं आतीं या जिनको अति बुद्धिवादी अथवा कला या साहित्य के कुशल, सूक्ष्म पारखी ही समझ सकते हैं।

नये कवि जिस बुद्धि-रस की चर्चा करते हैं उसे वाजपेयी जी एक अनोखा पदार्थ मानते हैं। उनकी राय है कि प्रतिभाशाली कवि आवश्यक बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यों का अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया हो। अतिशय भावना अथवा कल्पनावादी भी यह मानते हैं कि सहज वृत्तियों का उदात्तीकरण मानव संस्कृति के विकास के साथ-साथ होता है[2]।"

साधारणीकरण के सम्बन्ध में अज्ञेय सरीखे कवियों ने जो धारणाएं व्यक्त की हैं उनकी भी वाजपेयी जी ने कटु आलोचना की है। ये लोग साधारणीकरण को काव्य के लिए परम आवश्यक तत्व या काव्य की चिरंतनता को बनाये रखनेवाले अंग के रूप में मानने को तैयार नहीं है। अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा है कि 'कवि को अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्वपूर्ण मानता है। इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके, साधारणीकरण को उसने छोड नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुंच सके उन तक पहुंचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़कर नहीं। इस विषय में वाजपेयी जी का कथन है कि युगचेतना के निर्माता कवियों को इतनी लंबी सफाई नहीं देनी पड़ती। समाज के सामने

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.99
2. वही पृ.70

उनका अद्यतन काव्य रहता है, उनकी अक्षुण्ण अनुभूति रहती है और उनकी मर्मस्पर्शिनी अभिनव भाषा रहती है । इन त्रिविध संपत्तियों से संपन्न कवि को साधारणीकरण की हिचकिचाहट भरी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती[1] ।" वे पूछते हैं कि वह कौन-सी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना संदेह और अविश्वास है ? निश्चय ही साधारणीकरण में विलंब या असामर्थ्य वे ही कृतियाँ उत्पन्न करती हैं जिनकी भावधारा असामाजिक है, लोकरुचि अथवा लोक की आशा-आकांक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक है कि समाज उसकी उपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमयी है कि उस तक पाठक की पहुँच नहीं हो पाती । नई काव्य-उपज का अनुशीलन करने पर इनमें से एक या अनेक विशेषताएँ अवश्य दिखाई देती हैं । अनेक रचनाएँ क्षणिक विनोद और भौंडे व्यंग्य की सृष्टि से आगे नहीं जातीं । उन पर किसी प्रकार की सम्मति देना साहित्यिक कार्य नहीं है[2] ।" वाजपेयी जी का आक्षेप यहाँ समाप्त नहीं होता । भावधारा की विरलता अथवा भावान्विति-बोध का अभाव अर्थ-परंपरा का टूटन आदि त्रुटियाँ भी वे इसमें देखते हैं । वे मानते हैं कि "ऐसी रचनाएँ अंतर्मन से अधिक सम्बन्ध रखती हैं, अतएव जब तक पाठक का अंतर्मन और उसकी प्रज्ञा उसी साँचे में नहीं ढल जाती, जिसमें रचयिता की ढली है, तब तक वह रचना उसकी समझ के बाहर की रहेगी । यही नहीं, ऐसी रचनाएँ सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यों से नितान्त असंपृक्त रहती हैं और कवि के निगूढ मन की छाया प्रतिभासित करती हैं[3] ।" वे निस्संकोच घोषित करते हैं कि यह विदेशी कलम है जो हिन्दी के लिए बहुत कुछ बेमानी है । इन्होंने सामाजिक व्यवस्था एवं दायित्व के प्रति जो व्यंग्य किया है, युग-जीवन के प्रति जो विरक्ति प्रकट की है उसे वे कृत्रिम एवं दिखावटी

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ. 70
2. वही, पृ. 71
3. वही, पृ. 71

मानते हैं । वे समझाते हैं कि व्यक्तित्व की आत्मसीमित परिधि का अतिक्रमण करने पर ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि संभव है और श्रेष्ठ काव्य की प्रकृति कभी अवसादमूलक नहीं हो सकती ।"

वाजपेयी जी के ये तर्क बहुत कुछ युक्तिसंगत है, यद्यपि उन्हें पुरजोर मान्यता नहीं दी जा सकती । यद्यपि नए कवियों ने स्वयं साधारणीकरण की आवश्यकता का निषेध किया है तो भी अनेक ऐसी कविताएं मिलती हैं जो साधारणीकरण में पूर्णत: सक्षम हैं । अज्ञेय, नागार्जुन, गिरिजा कुमार माथुर आदि की अनगिनत कविताएं ऐसी हैं जो किसी भी सहृदय आस्वादक के हृदय की गहराइयों का स्पर्श किए बिना नहीं रहतीं । वाजपेयी जी दृढतापूर्वक स्थापित करते हैं कि चाहे कोई भी कवि साधारणीकरण स्थापित करते हैं कि चाहे कोई भी कवि साधारण के महत्व को मान्यता कभी न दे पाये, यह तो मानना ही पड़ता है कि काव्य की सार्थकता वैयक्तिक सुख-दु:ख की सीमित भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिकता के सर्वव्यापी धरातल ग्रहण करने में है ।

नयी कविता में नये मानवतावाद का जो दावा किया जाता है उसे वाजपेयी जी तथ्य की अपेक्षा सूझ अधिक बताते हैं । उनकी दृष्टि में मानवतावादी लेखक अधिक भावुक और आदर्श प्रेमी होते हैं । इसमें वे संतुलित मानवतावाद का बिलकुल अभाव देखते हैं । इन कविताओं में एकांतिक इच्छापूर्तियों और तृष्णाओं का बाहुल्य भी उन्हें अखरता है । क्षण के महत्व को सर्वोपरि घोषित करते हुए मानवतावादी होने का दावा करने की प्रवृत्ति को विरोधाभास मानते हुए वे बताते हैं कि "यदि क्षण के महत्व को सब कुछ मानने का अर्थ यह है कि क्षण के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य या सार्थक नहीं है, अतएव आये हुए क्षण का संपूर्ण सुखात्मक उपभोग कर लेता है,

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.72

तो इस क्षणवाद को मानवतावाद का नितांत विरोधी और विपरीत दर्शन मानना पड़ेगा । मानवतावाद त्याग और आस्था की भूमि पर संस्थित है, क्षणवाद व्यक्तिगत विलास की भूमि है[1]।" वाजपेयी जी की इस मान्यता का भी निषेध नहीं किया जा सकता, किंतु मानवतावाद से नये कवि बहुत दूर है यह भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि क्षणवाद, मानवतावाद दोनों के काफी उदाहरण नयी कविता में प्राप्त हैं । नये कवियों की इस मान्यता का भी वाजपेयी जी निषेध करते हैं कि उनकी कृतियों में नायक का अस्तित्व ही विलीन होता जा रहा है । वाजपेयी जी बताते हैं कि "नयी कविता में या तो कवि का अहं प्रमुख व्यक्तित्व ही व्यंजित होता है अथवा फिर ऐसे व्यक्तित्व और वातावरण की सृष्टि की जाती है जिसमें नायक और उसकी परिस्थितियाँ अंधकारमयी दिखाई पड़ें । धर्मवीर भारती के "अंधा युग" को वे इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं । किसी भाव-दृष्टि या चरित्र-रेखा का निर्माण न करनेवाली कृतियों को वे कविता की निःशक्तता का प्रमाण समझते हैं क्योंकि उससे काव्य के मानवीय दृष्टिकोण का स्पष्ट बोध नहीं होता ।

वाजपेयी जी नयी कविता में लक्षित त्रुटियों का कारण पश्चिम की साहित्यिक गतिविधियों का अनपेक्षित प्रभाव मानते हैं । यह वे आवश्यक समझते हैं कि पश्चिम में राष्ट्रीय भूमिका पर समग्र विवेचन की जो प्रणाली अपनाई गई है उसे हम अपनावें । उनका कथन है - "समय बदलता है, समय के साथ स्थितियाँ और रुचियाँ बदलती हैं, साहित्य की पद्धति बदलती है, परन्तु इस अनवरत परिवर्तन में साहित्य के मूलभूत उपादानों और उपकरणों को भुला देना बुद्धिमानी नहीं है । साहित्यिक समीक्षा की सार्थकता इस बात में है कि वह स्थिति और गति, व्ययशील और अव्यय के चिरकालीन वैषम्यों में अपने को खो नहीं देती, बल्कि निश्चिन्त और निर्विकल्प रूप में अपने आपको निरन्तर प्राप्त करती रहती है[2]।"

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध पृ.72

नयी कविता पर यद्यपि वाजपेयी जी ने इतने अधिक आक्षेप लगाए हैं तो भी काव्य में नवीनता की आवश्यकता का उन्होंने बार-बार उल्लेख किया है । पुरानी शैली की आवृत्ति वे कभी नहीं चाहते । उनके मत में नवीनता काव्य का प्राथमिक उपादान है और पिष्टपेषण उसका अंतिम अभिशाप । छायावाद की शिष्ट और अलंकृत पदावली तथा उनकी विमोहक कल्पना छवियों की प्रतिक्रिया होनी ही थी, परन्तु कोई भी प्रतिक्रिया अपने आप में साहित्यिक मूल्य नहीं रखती[1] ।" उन्होंने स्पष्ट किया है कि नवीन निर्माण, नए शिल्प, नई वस्तु-योजना और नई समयोचित जीवन-दृष्टि आदि तत्वों के समन्वित योग से जो नई काव्य-प्रतिभा बनेगी, उसका स्वागत भी सभी सुधी जन करेंगे[2] ।" आत्मपीडा का प्रकाशन करते-करते धीरे आत्मजीवी एवं असामाजिक बन जाने की प्रवृत्ति किसी भी साहित्य के लिए वे शोभनीय नहीं मानते । हिन्दी साहित्य में लक्षित आरोपप्रियता एवं व्यंग्यमयता में कुछ संतुलन बनाये रखने का वे आग्रह करते हैं । परंपरा से पूर्णत: मुक्त रहकर कोई भी प्रवृत्ति स्थायित्व नहीं पा सकती । यद्यपि हम सभ्यता और संस्कृति की चर्चा में प्राचीन एवं आधुनिक संस्कृति के नाम पर उसकी अलग विभाजक रेखा खींचते हैं तो भी विश्व साहित्य के पन्नों को पलटने से, विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के आकलन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन संस्कृति के बहुत से अंश विभिन्न सरणियों से होता हुआ आधुनिक जीवन में भी अपना अमिट प्रभाव अंकित करते हैं । किसी भी काल की कविता अपने ही जमाने से बद्ध नहीं रही । क्यों कि कोई भी ज़माना अपने में बद्ध नहीं रहती । वह सदा कम-ज्यादा अपने अब तक के ज़माने से संबद्ध रहता है और इसलिए किसी भी समय की ठीक कविता में तब तक का समग्र काल प्रतिबिंबित होता रहा है[3] ।"

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ.75
2. भवानीप्रसाद मिश्र : बनी हुई रस्सी - भूमिका पृ.11

वाजपेयी जी का भी यही दृष्टिकोण रहा । "नई कविता के प्रति कोई पूर्वाग्रह या दुराग्रह उनमें नहीं था । वे नवता के नाम पर चलाए जानेवाले, खोटे सिक्कों के विरोध में अवश्य थे, उनका सम्बन्ध प्रगतिवाद से हो, प्रयोगवाद से हो अथवा नई कविता से ।" काव्य के मूल स्वरूप पर जब कभी विजातीय तत्वों द्वारा आघात पहुंचा है, तो वे उसके विरुद्ध अपने आक्रोश के स्वर बुलन्द करते हैं । कथ्य और शिल्प की ऐसी नई भूमियां वे चाहते थे जो वादों के अति प्रसार से बची रहती है । नए रचनाकारों का ध्यान जब से इस ओर जाने लगा तो वाजपेयी जी ने भी नई कविता विषयक अपनी धारणा का पुनर्मूल्यांकन करने का निश्चय किया था । और उन्हें मालूम होने लगा था कि नई कविता के कवि धीरे-धीरे अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार रहकर कविता की प्रकृत भूमि से अपना सम्बन्ध जोडने के इच्छुक होते आ रहे हैं ।

"नयी कविता" पर पुनर्विचार करने के पश्चात् जो निबंध वाजपेयी जी ने लिखे हैं उनमें भी प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद से यथार्थवाद का सम्बन्ध मानते हुए एक ओर प्रगतिवाद के यथार्थबोध एवं प्रयोगवाद के यथार्थ बोध में अंतर दर्शाया गया है तो दूसरी ओर प्रयोगवादी यथार्थ एवं प्रकृतिवादी यथार्थ में निकटता मानते हुए उसका संबंध नई कविता से जोडा है । इस प्रकार अपने अंतिम निर्णय में भी नई कविता को प्रयोगवाद से संबद्ध करके ही वे देख सके हैं । उनकी मान्यता है कि यथार्थवाद को मात्र विज्ञान सम्मत तथ्यों तक सीमित न करके, विज्ञानवाद की नई चेतना को ग्रहण करने के साथ ही साथ समग्र मानव की बहुमुखी चेतना का भी आकलन करना पड़ता है । वास्तविक अनुभवों की भूमि पर उतरना कविता के लिए वे आवश्यक समझते हैं । उनके विचार में प्रतिभा, अनुभव या प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा ही कविता का उत्कर्ष होता है । नये रचनाकारों की भाँति उन्होंने भी इसी बात को दुहराया है कि अनुभवों के रास्ते से होते हुए ही यथार्थवाद का सही रूप उभरता है ।

ज्वालाप्रसाद खेतान ने लिखा है कि "समाजपरक रचना वे ही कलाकार कर सकते हैं जिन्हें जन-जीवन का ठोस अनुभव हो तथा उससे पूर्ण रागात्मक संबंध हो, और जिन परिस्थितियों में उनकी चेतना विकसित हुई हो उस पर समाज के वर्तमान संघटन के विभक्तिपरक प्रभाव न पडे हो[1]।" काव्य में अधिक वैयक्तिकता का विरोध करते हुए अन्यत्र उन्होंने लिखा है - "कलाकृति में वैयक्तिकता का विशेष आग्रह एक ओर तो उसकी प्रभविष्णुता को तीव्र करता है तथा दूसरी ओर उसकी प्रेषणीयता की सीमा को क्षीण भी । ..... जब तक अपने व्यक्तित्व का मोह कलाकार को रहेगा, जब तक जगत के अध्ययन में व्यक्तिगत कुंठाओं की बाधा रहेगी, जब तक उसके अपने वैशिष्ट्य की चेतना करानेवाले अहम् का शमन न होगा तब तक महान कला का सृजन नहीं कर सकता[2]।"

वाजपेयी जी की प्रत्येक उक्ति का कडे शब्दों में विरोध करनेवाले जगदीश गुप्त ने काव्य में नवीनता के विषय में लिखा है - "प्रत्येक कलाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने को पहचानने तथा युगीन परिवेश से निजी सम्बन्ध की गहनता को प्रमाणित करने के साथ ही अपनी प्रतिभा की नवता प्रदर्शित करता है, उन्हें छोड्कर नहीं। जो नवता केवल वैचित्र्य पर आधारित होती है, वह क्षणिक प्रभाव ही डाल पाती है लोक के अनुभव का स्थायी अंग नहीं बन पाती । सौंदर्य का सृजन सच्चे अर्थों में अद्वितीय तभी हो पाता है, जब उसके भीतर प्रयोगशीलता के अतिरिक्त सांस्कृतिक चेतना और व्यक्तिगत अनुभूति का भी समावेश रहता है[3]।"

---

1. सृजन के आयाम, पृ.17
2. वही, पृ.27-28
3. जगदीश गुप्त : धर्मयुग जनवरी 18-24, 1976, पृ.17

काव्य में नवता एवं प्रयोग के विषय में वाजपेयी जी ने भी यही विचार व्यक्त किया था, किंतु नये रचयिताओं का ध्यान इन बातों की ओर बहुत बाद ही जा सका । नये रचनाकारों का ध्यान उन्होंने इस ओर दिलाया कि आधुनिक बोध को सही सन्दर्भों में समझने के उपरांत ही रचना में उसे उतारना है । उनके विचार में आधुनिक बोध के सम्बन्ध में कोई एक प्रतिमान निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक देश के सामाजिक परिवेश के अनुसार इस बोध में परिवर्तन होता रहता है । हमारी कविता राष्ट्रीय तथा सामाजिक आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व तभी कर सकती है जब आधुनिक बोध को किसी रचना में रूपायित करने के पूर्व अपने राष्ट्र की विशिष्ट परिस्थितियों, परिवेश तथा गंतव्य पर भी ध्यान दिया जाय ।

यह तो स्वाभाविक है कि प्रयोगवाद की भाँति नई कविता के संबंध में भी वाजपेयी जी द्वारा स्थापित मान्यताओं की तीव्र प्रतिक्रिया हुई । इस प्रतिक्रिया में नई कविता के प्रमुख पुरस्कर्ता जगदीश गुप्त ने प्रयोगवादी आन्दोलन के प्रमुख प्रयोगकर्ता अज्ञेय की अपेक्षा अधिक क्षोभ प्रकट किया । अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए उन्होंने कठोर से कठोर शब्दों का प्रयोग किया । लक्ष्मीकांतवर्मा ने अपनी रचना "नई कविता के प्रतिमान" में भी वाजपेयी जी के विचारों की व्यंग्यपूर्ण आलोचना की है । नई कविता के हिमायती जो-जो रचनाकार थे सब वाजपेयी जी की मान्यताओं के खंडन में प्रवृत्त हुए और उन्होंने एकस्वर में घोषित किया कि वाजपेयी जी मात्र नई कविता के विरोधी नहीं है, किंतु काव्यमात्र में नवता के निषेध करनेवाले हैं ।

नई कविता की रचनाशीलता की पड़ताल में वाजपेयी जी ने मुख्य रूप से "तारसप्तक" के कवियों की निजी उपलब्धियों, सीमाओं और संभावनाओं को उजागर किया है । अज्ञेय से लेकर केदारनाथ सिंह तक और

फिर "नकेन" भी उनके विवेचन की परिधि में आते हैं । अज्ञेय की रचना-शीलता की चर्चा सबसे पहले की गयी है और उनके बहुमुखी व्यक्तित्व को ध्यान में रखने पर यह स्वाभाविक भी मालूम होता है । समस्त रचनाकारों के बीच अज्ञेय का विशेष महत्व रहता है और उनकी मूल्यवान उपलब्धियों को उचित मान्यता भी प्राप्त हुई है ।

अज्ञेय की प्रयोगधर्मिता एवं निराला की प्रयोगधर्मिता का अंतर स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जी ने बताया है कि निराला वस्तु निरूपण में न होकर मात्र शैली में प्रयोगशील रहे हैं जब कि अज्ञेय प्रारंभ से ही विषय, कथ्य और काव्य-विन्यास में प्रयोगशील रहे हैं और प्रयोग को एक विशिष्ट दर्शन का रूप देने का प्रयास भी शुरू से उनमें परिलक्षित होता है । साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि निराला की पूर्ववर्ती रचनाएँ नव्यवेदांत की एक अंतर्निहित आस्था से ओतप्रोत है, किंतु मानसिक असंतुलन के बीच लिखी जाने के कारण उत्तरार्द्ध की रचनाएँ अस्पष्ट, अनगढ एवं अस्तव्यस्त हो गयी हैं । इसलिए परिवर्तनकाल की रचनाओं को वाजपेयी जी निराला के सहज कवि मानस की उपज नहीं मानते । इन कारणों से अज्ञेय एवं निराला के प्रयोगों की तुलना अलग अलग दृष्टि से की गयी है ।

पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा के परवर्तीकाल के काव्य का ही वाजपेयी जी अधिक स्वागत करते हैं क्योंकि उन्हें लगा था कि अज्ञेय प्रयोग से क्रमशः दूर होते हुए कविता की सहज प्रकृति की ओर लौटने का प्रयास कर रहे हैं । अज्ञेय की कविताओं की भावात्मकता एवं रसात्मकता की स्थितियाँ, वेदांत के स्वर, अनेक व्यंजक शब्दों से युक्त काव्य भाषा, प्रकृति के विविध रूपों गतियों और मुद्राओं का अंकन आदि विशेषताओं का उद्घाटन भी उन्होंने किया है । वाजपेयी जी ने उन्हें नए काव्य का सशक्त हस्ताक्षर स्वीकार करते हुए उनके परवर्ती काव्य की बदली हुई भूमिका के प्रति आकर्षण एवं आत्मीयता के भाव व्यक्त किए हैं ।

भारती को वाजपेयी जी ने सामान्य स्तर का कवि माना है । निराला का पुरुष-संस्कार यदि वे अज्ञेय में देखते हैं तो उनकी श्रृंगारिक और कोमल भावनाओं का उद्रेक भारती में दर्शाया गया है । निराला की तुलना में भारती की श्रृंगारिक भावना को एकांतिक, शरीरी और मांसल माना गया है । निराला की श्रृंगारिक भावना में जो भास्वरता है वह उन्हें अधिक आकर्षित करती है । भारती की इतिहास-सृष्टि उन्हें नकारात्मक लगी है । भारती के काव्य में वस्तु के आकर्षण की अपेक्षा शैली का आकर्षण ही विशेष रूप से वे देखते हैं ।

वाजपेयीजी की दृष्टि में गिरिजाकुमार माथुर छायावादी संस्कारों के कवि हैं । उन्हें मूलत: एक गीतिकार माना गया है । छायावादी कविता के दार्शनिक संस्कारों के साथ ही उनके मूल संस्कार रोमानी है । रूपों और रंगों की बहुलता उनमें उन्हें लक्षित होती है । उनके छन्द अधिक लयात्मक, काव्य विन्यास बडी सीमा तक सामंजस्यपूर्ण तथा शैली एवं शिल्प प्रयोगशील बताए गए हैं । छायावादियों के अधिक समीप मानते हुए भी छायावादियों का जैसा भावोत्कर्ष उनमें न देखा गया है और उन्हें वे छायावादके श्रेष्ठ कवियों से तुलना के योग्य भी नहीं मानते ।

मुक्तिबोध के व्यक्तित्व एवं काव्य का आकलन वाजपेयीजी ने अधिक अंतरंगिता और वस्तुनिष्ठता से किया है । उनकी गणना निराला और राहुल के अंतर्गत की गयी है । परिस्थिति और परिवेश का व्यापक अध्ययन उनमें वे देखते हैं । मुक्तिबोध के जीवन के तनाव, व्यक्तित्व की उग्रता, क्रांतिकारिता आदि के आधार पर वाजपेयी जी मानते हैं कि विद्रोह और नएपन में उनकी ख्याति है और रहेगी ।

प्रयोगों को अपनाते हुए भी शमशेर को प्रगतिशील चेतना के कवि के रूप में स्वीकार किया गया है । उनकी प्रकृतिपरक कविताओं को आकर्षक तथा

तथ्यपूर्ण मानने के साथ उनकी श्रृंगारिक रचनाओं में भी वे स्वस्थ मनोवृत्ति के दर्शन करते हैं । रोमानी संस्कार के होते हुए भी वाजपेयी जी ने शमशेर को छायावादियों से भिन्न माना है ।

नरेश मेहता वाजपेयी जी की दृष्टि में रोमानी संस्पर्श से संयुत कल्पना विमुख, आभिजात्य की भावना से संवलित कवि हैं जब कि कुंवर नारायण में चिंतन की प्रमुखता दिखाई देती है । जगदीश गुप्त को रसवादी कवि माना गया है । और उनके विचारक रूप से कवि रूप को अलग किया गया है । दुष्यंतकुमार की रचनाएँ भाव, विचार और शिल्प की दृष्टि से संतुलन लाने में समर्थ मानी गयी हैं । केदारनाथ सिंह की कविता में नई कविता की कुछ संभावनाएँ वे देखते हैं । नकेनकाव्य को वे अतिवादी काव्य मानते हैं ।

कुछ नए आख्यानक काव्यों की चर्चा भी वाजपेयी जी ने अपनी रचना में की है । यह नए कवि और कविता विषयक उनकी मान्यताओं को प्रकाश में लाने में समर्थ हुई है । अज्ञेय की "चिंता" को उन्होंने विचारोत्तेजक कृति माना है । गद्य और पद्य के मिश्रण से रचित इस काव्य में विचारणा का एक अभिनव प्रयोग वे दर्शाते हैं । "अंधा युग" में कवि की इतिहास-दृष्टि उन्हें निषेधात्मक लगती है और उसे "इतिहास के प्रति अतिचार" माना गया है । गीतिनाट्य की संभावनाएँ इसमें उन्होंने देखी हैं । साथ ही महान ग्रंथ में आए चरित्र को मनमाने ढंग से प्रस्तुत करने की कलाकार की स्वतंत्रता पर आक्षेप भी किया है ।

"संशय की एक रात" कुछ सीमाओं के होते हुए भी एक सफल कृति मानी गयी है । बौद्धिकता और भावात्मकता के बीच एक सहज संतुलन वे देखते हैं । "आत्मजयी" में कहानी की इतिवृत्तात्मकता का आश्रय दर्शाते हुए भी काव्य की दृष्टि से उसे एक प्रौढ़ रचना माना गया है । इसमें यह बात उन्हें खटकती है कि दार्शनिक भूमि पर आत्म और अनात्म को विपरीत शिविरों में प्रतिष्ठित किया गया है । उनका विचार है कि

यदि अरविंद दर्शन से कवि प्रभावित होते तो अधिक सार्थक एवं सही निर्णय ले सकता था । दुष्यंतकुमार की कृति "एक कंठ विषपायी" वाजपेयी जी के अनुसार नाट्यपक्ष, वस्तुपक्ष दोनों दृष्टियों से एक समृद्ध रचना है । वाजपेयी ज ने इसे काव्यनाटक की संज्ञा दी है और मूलत: घटना प्रधान, बौद्धिक तथा विचारोत्तेजक बताया है । इन आख्यानक काव्यों एवं काव्य-नाटकों में वाजपेयी जी ने भारतीय दर्शन की निरंतरता देखी है और इस पर वे संतोष भी प्रकट करते हैं । नई कविता की प्रौढ़ता तथा उत्कर्ष इन रचनाओं में वे देखते हैं ।

नई कविता की उपलब्धियों के आकलन में वाजपेयी जी इस बात पर आश्वस्त दिखाई देते हैं कि हिन्दी कविता का स्वदेशीपन तिरस्कृत नहीं होगा । यह भी वे एक शुभ लक्षण मानते हैं कि जो नयी कविता "प्रयोग" के प्रति विशिष्ट मोह लेकर उदित हुई थी वह नये-नये अनुभवों से गुज़रते हुए, विकास प्राप्त करते हुए "अप्रयोग" तक पहुँच गयी है और क्षणवाद, संशयवाद, लघुमानववाद जैसी दुर्बल प्रवृत्तियाँक्रमश: लुप्त होकर नई कविता में एक समरसता आ रही है । इस तथ्य को भी उन्होंने नज़रंदाज़ नहीं किया है कि इसके समानान्तर पूर्ववर्ती प्रगतिशील कविता भी कुछ विशिष्ट उपलब्धियों के साथ अग्रसर है । वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि छायावाद केबाद के कवियों में बच्चन, अंचल, नरेन्द्रशर्मा आदि की अपेक्षा नए रचनाकार अधिक प्रौढ, वैचारिक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं । नई कविता के उल्लेखनीय कवियों में मुक्तिबोध को वे कुछ अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करतेहैं । प्रगतिशील वैचारिक आधार उनकी निजी विशेषता मानी गयी है ।

नई कविता के आधुनिक बोध में लघुमानववाद एवं अनास्था को अनपेक्षित महत्व देने की प्रवृत्ति वाजपेयी जी को कदापि मान्य नहीं है । "आत्मलघुता" को उन्होंने पेटी बुर्जुआ वर्ग की प्रतिक्रिया बताया है । इसमें स्वीकृत मानववाद को वर्तमान युग के सिक्यूलरिज्म के निकट माना गया है ।

नई कविता की कुछ शैलीगत उपलब्धियों पर भी वाजपेयी जी ने प्रकाश डाला है । गद्य को पद्य के समीप लाते हुए उसे काव्यात्मक संस्कार देने का प्रयास इस दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं । नयी कविता की शब्द योजना, बिंब-योजना एवं कल्पना-छवियों में जो नव्यता एवं ताजगी लक्षित होती हैं उनकी भी उन्होंने प्रशंसा की है । शैली की सांकेतिकता एवं व्यंजना-प्रधानता को नयी कविता की प्रौढ़ता, शक्तिमत्ता एवं क्षमता का उदाहरण माना है ।

"नई कविता" शीर्षक वाजपेयी जी असंगत मानते हैं । प्रयोगशील कविता के रूप में ही उन्होंने इसे देखा है । उनके विचार में इसे शैली के मार्जन तथा अनुभव की कविता के रूप में देखा जा सकता है । शैली एवं शिल्प के क्षेत्र में ही नई कविता की विशिष्ट उपलब्धियाँ उन्हें दृष्टिगत होती हैं । उसके वस्तु-तत्व का महत्व ज़रूर उन्होंने स्वीकार किया है, लेकिन छायावादी एवं प्रगतिवादी कविता की तुलना में इसे अधिक श्रेष्ठ नहीं मानते ।

नामवर सिंह की भी यही मान्यता है । "प्रयोगवाद" के विकसित रूप को "नयी कविता" से अभिहित करने में कोई सार्थकता वे नहीं देखते । वे समझते हैं कि "नया विशेषण से नव जीवन की जिस ताजगी का बोध होता है वह इन कविताओं में नहीं है । इनका नयापन केवल पूर्ववर्ती कविताओं से भिन्नता में ही है और हर युग की कविता अपने पूर्ववर्ती युग से कुछ-न-कुछ भिन्न अथवा नयी होती है, इसलिए "नयी कविता" नाम में अतिव्याप्तिदोष है ।"[1] वाजपेयी जी देखते हैं कि इसके उत्तरार्द्ध की रचनाएं बहुत कुछ उनके दृष्टिकोण के अनुकूल अपनी सीमाओं और अतिवादों के संकुचित दायरे से मुक्त हो गयी हैं और अपने राष्ट्रीय परिवेश तथा

---

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.114

आकांक्षाओं से, राष्ट्र की संघर्ष शील परंपरा से अधिक निकटता भी स्थापित कर पायी है । निश्चय ही "नयी कविता" विषयक विवेचन आचार्य जी के विकसनोन्मुख व्यक्तित्व का प्रमाण है ।

बुद्धिवाद

वाजपेयी जी के बुद्धिवाद विषयक विचार "नया साहित्य : नए प्रश्न" में प्रस्तुत हुए हैं । वे आधुनिक बुद्धिवाद को पूर्णत: विदेशी मानते हैं । विज्ञान की नींव पर स्थित होने के कारण वे इसे संसार का वास्तविक सार्वभौम सिद्धांत मानते हैं । "यूरोपीय बुद्धिवाद और आधुनिक बुद्धिवाद की तुलना करते हुए वे देखते हैं कि यूनानी दार्शनिक प्लेटो के बुद्धिवाद पर अधिष्ठित प्रजातंत्र में प्रेम, समता, सहकारिता, सहानुभूति जैसी उत्कृष्ट भावनाएँ लक्षित होती थीं जब कि आधुनिक प्रजातंत्र अधिक विनाशोन्मुख होता जा रहा है जहाँ मनुष्य आलसी और निष्क्रिय रहकर मशीनों के दास होते आ रहे हैं । यह यंत्रविज्ञान वाजपेयी जी त्रुटिपूर्ण मानते हैं ।

वाजपेयी जी भौतिक विकास का महत्व माननेवाले हैं, लेकिन उनकी दृष्टि में तभी वह उपयोगी होगा जब मनुष्य का मानसिक स्तर भी उत्कर्ष प्राप्त करता रहेगा । लेकिन आज इसका बिलकुल अभाव दीखता है । मानसिक उदारता अब लुप्त होती आ रही है । इस स्थिति में प्राचीन बुद्धिवाद के आधुनिक प्रतिनिधि के रूप में केवल गाँधीजी को ही वे देखते हैं । उनके विचार में "संसार के बढ़ते हुए भौतिक विकास के साथ-साथ क्षीण होती हुई मानसिक उदारता को उसकी समता पर ला सकना गाँधीजी की

प्रधान नीति है।[1]" गाँधीजी का आदर्श जीवन की वास्तविक सुख-समृद्धि का सर्वतोमुखी विकास करना है। वे धन के धरातल की अपेक्षा मन के धरातल की अधिक उन्नति चाहते हैं।[2]"

इस बात पर वे खेद प्रकट करते हैं कि वास्तविक मानसिक साधना और उत्कर्ष के लिए यह यंत्रविज्ञान अवसर नहीं देता। और इसलिए इस ओर सबका ध्यान आकर्षित करते हैं कि "बुद्धिवाद की एकांगी पश्चिमी प्रवृत्ति को भी संभालने का अवसर गाँधीजी ने दिया है, इस ओर ध्यान देना ही पश्चिमी दुनियाँ और संसार के लिए एकमात्र कल्याण का मार्ग है।

बुद्धिवाद को जहाँ एक अधूरी जीवन दृष्टि मानी गयी है वहाँ वैदिक दर्शन में वे समग्र जीवन दृष्टि के दर्शन करते हैं। प्राचीन वैदिक संस्कृति पर गर्व करते हुए उसके प्रति उनमें आकर्षण होने का कारण भी उन्होंने यों व्यक्त किया है -

(1) वेदों में आदिम मानवीय एकता के स्मारक भाव और भाषा अंकित है।
(2) वेदों का ओजमी शब्द चयन उसे सर्वोच्च कोटि के साहित्य का पद प्रदान करता है।
(3) उसके भावों में एक संशयहीन आवाहन और आदेश है जिसने समस्त आर्य जाति को आकर्षित कर एक सूत्र में सुसंलग्न किया था।
(4) वैदिककालीन सर्वश्रेष्ठ आदर्श और वैदिक सभ्यता की सर्वोत्कृष्ट देन मानव-जीवन की व्यापक व्यवस्था है।
(5) वैदिक संस्कृति कोई सापेक्ष वस्तु नहीं है, वरन् संपूर्ण हित की सत्ता ही है।

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.252

§6§ सहस्रों वर्षों के मानव-जीवन का विकास उसी के अंतर्गत है और दिव्य-दृष्टा वैदिक महर्षियों ने शाश्वत विकास का रहस्य ही उद्घाटित कर दिया है ।

§7§ उन महर्षियों द्वारा निरूपित संस्कृति नित्य है, आनन्द स्वरूप है और संपूर्णता के सहित है ।

वेदांत की आत्मसत्ता के मूल में सामूहिक आनंद की धारणा होने के कारण वाजपेयी जी वेदांत की गरिमा को स्वीकार करते हैं । वैदिक संस्कृति का पूर्ण परिपाक वेदांत में होने के कारण वे उसका बहुत अधिक सम्मान करते हैं ।

अनुकृतिवाद

अनुकृतिवाद की व्याख्या में वाजपेयी जी ने लिटो की मान्यताओं का आकलन करते हुए अरस्तू की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है । कला को सत्य से दूर मानने के प्लेटो के दृष्टिकोण को वे त्रुटिपूर्ण मानते हैं । उनके मत में "कला की प्रवृत्ति सदा सत्य या तथ्य को अंकित करने की ही रहती है और अनुकृति के भिन्न-भिन्न माध्यमों द्वारा भी कवि तथा कलाकार अपनी रचना में उसी तथ्य को लाने का पूरा प्रयत्न करता है । जिस रचना में जितना अधिक वास्तविक वस्तु का सच्चा आभास होगा, वह रचना उतनी ही अधिक सुन्दर मानी जाएगी । प्लेटो का यह कहना कि कला में सत्य नहीं होता, सत्य की छाया की भी छाया होती है - उसके निर्णय की स्पष्ट त्रुटि है ।[1]" कलाओं के अनुकृतिमूलक स्वरूप और उनकी आनन्दात्मक सत्ता से अवगत होकर उन्होंने जिस मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है उसका महत्व वे अक्षुण्ण मानते हैं ।

---

1. आधुनिक साहित्य. प.402

अरस्तू के अनुकृतिसिद्धांत के समर्थन में वाजपेयी जी कहते हैं कि उनके विचार में अनुकरण केवल किसी स्थूल या व्यक्त वस्तु की ही नहीं होती । कवि किसी काल्पनिक या भावात्मक तथ्य की भी अनुकृति कर सकता है । संगीत कला में अनुकरणीय वस्तु निराकार और अव्यक्त केवल भावना मात्र होती है, किंतु अरिस्टोट्ल उसे भी अनुकृति ही मानता है । कला का नैतिक मानदण्ड अरस्तू की भाँति ही वाजपेयी जी को भी स्वीकार्य है । अनुकृति में वस्तु की अपेक्षा चरित्र की प्रधानता मानने में भी वे कोई असंगति नहीं देखते । वर्तमान सन्दर्भ में अरस्तू की मान्यताओं में अनेक सैद्धांतिक त्रुटियों के होते हुए भी वाजपेयी जी स्पष्ट करते हैं कि निस्सन्देह साहित्य और कलाओं की स्वतंत्र सत्ता और उसके स्वरूप को समझने में अरिस्टोट्ल ने अपनी महान अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है ।

अभिव्यंजनावाद

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद-विषयक निष्पत्तियों पर अनेक आक्षेप और आरोप लगाये गये हैं । पहला आक्षेप यह है कि क्रोचे काव्य को कवि की जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, उसका सम्बन्ध काव्य के श्रोताओं तथा पाठकों आदि से नहीं रखा गया । वे काव्य का शब्द-रूप में अभिव्यक्त होना भी आवश्यक नहीं मानते और ऐसी स्थिति में काव्य के सार्वजनिक वस्तु होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसका उत्तर देते हुए वाजपेयी जी बताते हैं "काव्य तथा कलाएँ यद्यपि मानसिक सृष्टियाँ हैं, परन्तु कवि जिस मानसिक क्रिया से कलाओं की सृष्टि करता है, वह मानसिक क्रिया व्यक्तिगत नहीं है, उसका आस्वादन मानव-मात्र कर सकते हैं । काव्य के शब्द रूप में उपस्थित न होने के संबंध में क्रोचे के इस कथन का ही उल्लेख करते हैं कि हमें कवियों का अनुगृहीत होना चाहिए कि

वे अपनी मानसिक कला-सृष्टि को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न भी करते आये हैं। इस दृष्टि से कला-व्यापार को सार्वजनिक उपयोग की वस्तु भी बनाया है, परन्तु तत्वत: कवि इस कार्य के लिए बाध्य नहीं।[1]"

कला के सुन्दर-असुन्दर होने के, उसके श्रेणी-विभाग के, नैतिकता से उसके संबंध के विषय में जो आक्षेप उठाये गये हैं उसके उत्तर में वे कहते हैं कि "क्रोचे के मत में कला की श्रेणियाँ नहीं है। सुन्दर और असुन्दर का प्रश्न वहाँ आता ही नहीं, क्योंकि कलामात्र सौंदर्य की वस्तु है। क्रोचे के मत में कला ही सौंदर्य है, सौंदर्य के अभाव में कला का अस्तित्व ही नहीं। नैतिकता के प्रश्न पर क्रोचे का कथन है कि कला से नीतिवाद का कोई सम्बन्ध नहीं। दोनों ही दो पृथक् वस्तु समुच्चय हैं। यह बात दूसरी है कि कलाओं तथा काव्य से लोक-कल्याण का कार्य भी सिद्ध होता आया है और उनसे समाज में नैतिक आदर्शों को भी बल मिला है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य तथा कलाएँ नैतिक मापदण्ड से नापी जा सकती हैं।[2]"

क्रोचे को लेकर तीसरी शिकायत यह है कि काव्य-व्यापार के निरूपण में उन्होंने जीवन और जगत् से उसका संबंध स्थापित नहीं किया है। कला को आत्मा की क्रिया मानकर उसे भौतिक व्यापारों से भिन्न और स्वतंत्र माना गया है। वाजपेयी जी ने इस आक्षेप का भी निषेध किया है। उनका कहना है "क्रोचे बाह्य-जगत और जीवन की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता। उसके मत में जगत् भी मानसिक वृत्ति का ही प्रतिबिंब है। दूसरे शब्दों में क्रोचे मन को सर्वसमर्थ और एकमात्र व्यापक सत्ता मानता है। जीवन और जगत् के समस्त स्वरूप मन में समाहित हैं।[3]"

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ॰412
2. वही, पृ॰412-413
3. वही, पृ॰413

क्रोचे की दृष्टि में तर्कशून्य ज्ञान ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही कला है।[1]" उनके लिए सौन्दर्यगत तथ्य रूप है, रूप के अलावा कुछ नहीं[2]। लेकिन सहजज्ञान को अभिव्यंजना मानना, रूप और वस्तु तथा अलंकार और अलंकार्य के भेद को निरर्थक मानना आदि आचार्य शुक्लजी की दृष्टि में असंगत है। इसलिए शुक्लजी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विरोध किया है। अभिव्यंजनावाद को वे वाग्वैचित्र्यवाद कहते हैं[3]। लेकिन वाजपेयी जी बताते हैं कि "क्रोचे और ब्रेडले जैसे कलावादियों ने "अभिव्यंजना" या कलावाद के मूल में उत्कृष्टतम मानसिक तत्व और प्रतिभा का अध्याहार कर दिया है[4]।" शुक्लजी जैसे मेधावी विद्वान ने क्रोचे की समस्त उपपत्तियों को एक किनारे पर रखकर केवल "अभिव्यंजना" शब्द मात्र पकड लिया है, इस पर उन्हें आश्चर्य होता है। इस प्रकार का खंडन ध्यान देने योग्य ही नहीं है, यही उनकी राय है। काव्य की मानसिक भूमि और सामाजिक आधार का लेखा न लगाने के कारण शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद की भित्ति को दुर्बल माना है। वाजपेयी जी समझाते हैं कि क्रोचे और अन्य कलापादियों का यह पक्ष ही नहीं था। वे स्थापित करते हैं कि शुक्लजी का "लोकधर्म" भी जीवन के प्रगतिशील स्वरूपों का आकलन नहीं करता। वह रूढिबद्ध होकर श्रेष्ठ काव्य की पहचान में असफल सिद्ध हुआ है। इसका कारण यही है कि इस सिद्धांत के पीछे शुक्लजी ने काव्य के निर्माणात्मक और मानसिक उपकरणों की पूरी अवहेलना की है। साथ ही समय या युग-विकास की ओर भी उनका ध्यान नहीं था[5]।"

---

1. To intuite is to express and nothing else (nothing more but nothing else) than to express - Aesthetic, p.11

2. The Aesthetic fact, therefore, is form and nothing but form. Ibid, p.16

3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.572

4. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ.106

5. वही, पृ.106

इस अभिव्यंजना-विषयक विवेचन में वाजपेयी जी के, शुक्लजी से सहमत न होने का कदापि यह मतलब नहीं कि वे उसका पूरा समर्थन करनेवाले हैं । अभिव्यंज सौंदर्य को महत्वपूर्ण मानते हुए भी उसे ही सब कुछ समझने केलिए वे तैयार नहीं है । उनकी राय में "काव्य अथवा कला का संपूर्ण सौंदर्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है । उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानव-वृत्तियों से है, जबकि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौंदर्यपूर्ण प्रकाशन से है ।"[1]

शुक्लजी के विवेचन में क्रोचे की मान्यताओं का खंडन ही अधिकतर मिलता है । वाजपेयी जी की दृष्टि उससे भिन्न है । अभिव्यंजना वाद को लेकर प्रचलित गलतफहमियों एवं आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास ही उन्होंने किया है । डॉ॰ नगेन्द्र को भी शुक्लजी की यह मान्यता हास्यास्पद लगती है कि यह (अभिव्यंजनावाद) पुराने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है । इस सम्बन्ध में उनकी धारणा है - "दोनों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुंतक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा ।"[2] रसमत और अभिव्यंजनावाद की परख वाजपेयी जी ने एक दूसरे के समकक्ष रखकर की है ।

निष्कर्ष

वाजपेयी जी की लेखनी अधिक संयत्, परिष्कृत और प्रगतिशील तत्वों से अनुशासित है । उनका साहित्यबोध अधिक नमनशील है और उनमें निर्वैयक्तिकता, शालीनता और प्रौढता का समाहार बडी मात्रा में हो पाया है । उनकी वाद-समीक्षा यही प्रमाणित करती है । उनका आदर्शवाद प्रगतिशील सामाजिक मूल्यों पर अधिष्ठित है । आदर्शों की ऐतिहासिक प्रगति और परिवर्तन तथा काव्य-स्वरूप का नव-नव विकास और

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ॰93

विन्यास आदि पर भी ध्यान देना वे आवश्यक समझते हैं । छायावाद और रहस्यवाद को उन्होंने स्वच्छन्दतावाद की ही विभिन्न शैलियाँ माना है । प्रगतिवादियों के उद्देश्य में वास्तविकता की कमी वे देखते हैं । साहित्य में विद्रोह-भावना से बढकर कलात्मक सौष्ठव एवं मानवीय मूल्यों को वे महत्व देते हैं । काव्य की प्रक्रिया को भावात्मक माननेवाले वाजपेयी जी को प्रयोगवादी रचनाओं में लक्षित बुद्धिरस का बाहुल्य अटपटा और अग्राह्य लगता है । वे समझते हैं कि श्रम और आयास से उद्भूत कविताएँ कालजयी नहीं बन पाएंगी । "नयी कविता" की परख-पड़ताल उनके विकासोन्मुख व्यक्तित्व की द्योतक है । इस बात पर वे संतुष्ट दीखते हैं कि नयी कविता के उत्तरार्द्ध की रचनाएं बहुत कुछ अपनी सीमाओं और अतिवादों के संकुचित दायरे से मुक्त हो गयी हैं और अपने राष्ट्रीय परिवेश से, राष्ट्र की संघर्षशील परंपरा से अधिक घनिष्ठता भी बरत पायी है । बुद्धिवाद एवं वैदिक दर्शन के अनुशीलन में वे स्थापित करते हैं कि मनुष्य को आलसी एवं स्वार्थी बनानेवाले यंत्रविज्ञान की अपेक्षा जीवन के शाश्वत मूल्यों का महत्व घोषित करनेवाली प्राचीन संस्कृति ही वर्तमान सन्दर्भ में अधिक उपादेय है । अनुकृतिवाद के संबंध में उनकी मान्यता है कि कलाओं के आनन्दात्मक प्रभाव को पहचानना और मूल वस्तु की संवेदना से कलात्मक संवेदना की भिन्नता का निर्देश करना अरिस्टोटल की एक महत्वपूर्ण उद्भावना है । अति भावुकता, अतिबौद्धिकता दोनों का उन्होंने विरोध किया और अत: कलावाद, उपयोगितावाद दोनों को अनावश्यक महत्व नहीं दिया । साहित्य की प्रगति में सहायक तत्वों को ही उन्होंने हमेशा प्रश्रय दिया क्योंकि उनके साहित्यिक कार्यों का लक्ष्य आद्यंत रूप से साहित्य की साधना ही रहा है ।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

पाँचवाँ अध्याय

वाजपेयी जी की शैली

वाजपेयी जी की शैली

शैली-सामान्य परिचय

मनुष्य अनुभूति-संपन्न है । बुद्धि, विवेक एवं कल्पना शक्ति उसके गुण हैं । तीव्र, उदात्त अनुभूतियों की रसमय अभिव्यक्ति ही साहित्य को जन्म देती है । अपने भावों के अक्षय-भण्डार को सहृदय-समक्ष साकार करते समय साहित्यकार को इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि वह जो कुछ बोलता या लिखता है, उसे ऐसे सहज ढंग से प्रस्तुत करे जो सरलता से पाठक की समझ में आ सके । लेखक पाठक से आत्मीयता तभी स्थापित कर सकता है जब उसका विवेच्य विषय नया, मोहक और असाधारण हो तथा प्रतिपादन-प्रणाली सुबोध, मनोरंजक एवं कलात्मक हो । प्रतिपादन-पद्धति इतनी सजीव हो कि उसमें विषय का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने की क्षमता हो । भाव-प्रकाशन में लेखक की कुशलता पाठक की चित्तवृत्ति को आद्यंत बनाये रखने में समर्थ होनी चाहिए । सभ्य एवं परिष्कृत शब्दों का प्रयोग करने तथा पाठक का विश्वास अर्जित कर सकने की कुशलता से ही

लेखक अपने भावों और विचारों को पाठक तक पहुँचा सकता है । इस उद्देश्य से समर्थ लेखक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है, जो बिना अभ्यास के, सहज रूप से पाठक के हृदय को स्वायत्त कर सकता है । इस प्रकार मनुष्य जिस ढंग से अपनी अनुभूतियों को वाणीबद्ध करता है, अभिव्यंजित की वही भंगिमा शैली नाम से अभिहित की जा सकती है । "वस्तु का प्रकार और स्वभाव ही शैली को जन्म देता है[1]।" विषय-वस्तु अथवा विचार, विचार की अभिव्यक्ति ये दोनों बातें काव्य के लिए अपेक्षित हैं । विचारों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है । नियमित ढंग से, निर्दिष्ट उपादानों से भाषा का श्रृंगार करने के प्रति लेखक को सजग रहना चाहिए । सुन्दर, सुबोध एवं सरल भाषा के अभाव में श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विचार भी निरर्थक, प्रभावहीन और अनाकर्षक लगते हैं । उदात्त और भव्य शब्दों के सहारे नीरस और दुरूह विषयों को भी सरल, सरस एवं सार्थक बनाया जा सकता है । भाषा की जीवंतता के लिए उसमें नवीनता का पुट अपेक्षित है । लोकमानस पर पूरा प्रभाव डालने के लिए सर्वबोध, सार्वभौमिक एवं सरल भाषा का प्रयोग वांछनीय है ।

वस्तु और रूप तथा भाव एवं भाषा का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है । श्रृंखलित, स्पष्ट एवं संतुलित विचारों के संयत् व्यवस्थापन द्वारा अभिव्यंजना प्रभावपूर्ण बन सकती है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रचना-शैली को संक्षिप्त एवं स्पष्ट, सजग एवं सरल तथा सरस एवं रोचक होने के साथ ही व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध भी होना चाहिए । "आरंभ और अंत, क्रमयोजना, विचार-गुंफन, इतिवृत्त कथन, वर्णन-पद्धति, भावोद्रेक परिहास और व्यंग्य रचना शैली में होने चाहिए[2]।" प्रत्येक लेखक में अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुसार निजी शैली का स्वतंत्र विकास होता है ।

---

1. डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त और रामसागर त्रिपाठी - बृहद् साहित्यिक निबंध, पृ.372

यही नहीं, मित्रों के लिए, गुरुजनों के लिए, ईश्वर के लिए, विद्वानों के लिए, अशिक्षितों व अर्ध-शिक्षितों के लिए लिखी जानेवाली शैलियों में भिन्नता अवश्य रहती है । भाषा की पुष्टि शैली की पुष्कलता पर अधिष्ठित है । प्रत्येक देश की भाषा-शैली में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस देश की सभ्यता और संस्कृति सहज ही सन्निविष्ट है । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने शैली के उपकरणों के अंतर्गत लेखक का व्यक्तित्व, युग-विशेष के काव्यरूप एवं काव्य-रूढियाँ तथा शास्त्रीय उपस्थापन जिसके अंतर्गत उचित शब्दों का उक्ति, विचारानुकूल व्यवहार वाक्य, आकर्षण एवं विविध शास्त्रीय तत्व आते हैं,की गणना की है । फिर भी सर्वाधिक घनिष्ठ संबंध व्यक्तित्व से माना है । द्विवेदी जी के विचार में "ग्रंथकार की शैली उस के व्यक्तित्व का ही अंग है ।"[1] करुणापति त्रिपाठी ने शब्द, ध्वनि, वाक्य आदि को शैली के बाह्य तत्व और शब्द शक्तियाँ, सरलता, स्पष्टता आदि को आंतरिक तत्व मान लिया है । आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के विचार में विषय के कोमल एवं मधुर अथवा अकोमल एवं कठोर शब्दों के प्रयोग की योजना ध्वनियोजना कहलाती है जो शैली के बाह्य तत्व हैं । शैली के सूक्ष्म पारखी जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के विचार में "शब्द-विन्यास, वाक्य-रचना, मुहावरा और लोकोक्ति तथा अलंकार-योजना शैली के अवयव माने जा सकते हैं ।"[2] डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त की दृष्टि में व्यक्ति, विषय भाषा और पाठक शैली के चार प्रमुख स्रोत हैं ।"[3]

साहित्य-सृजन के क्षणों से लेकर पाठक की रसानुभूति तक की जो-जो प्रक्रियायें होती हैं उन समस्त प्रक्रियाओं से शैली का अटूट संबंध होना चाहिए, होता है अवश्य । अत: कहा जा सकता है कि लेखक का व्यक्तित्व

---

1. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - साहित्य का साथी, पृ॰18
2. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - हिन्दी गद्यशैली का विकास, पृ॰5
3. डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त - साहित्य शैली के सिद्धांत, पृ॰63

और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, विषय और विषयोद्घाटन, युगीन काव्य-रूप, काव्य-रूढियाँ और साहित्यिक परंपराएं, पाठक, भाषा उद्देश्य ये सब शैली के नियामक तत्व हैं, उसके स्वरूप निर्माण के अभिन्न और अनिवार्य अंग हैं । सभी अंगों के संयत् सन्निवेश से ही शैली पूर्णता प्राप्त करती है । इसलिए किसी भी लेखक की शैली के मूल्यांकन के लिए इन सभी अंगों का अनुशीलन अपेक्षित है ।

व्यक्तित्व और शैली

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व व्यक्ति के संबंधों का द्योतक है । वह व्यक्ति के श्रेष्ठ कार्य-व्यापारों एवं उदात्त चित्त-वृत्तियों का समन्वित रूप है । व्यक्ति समाज का अंग है, एकाकी जीवन उसके लिए असंभव है । उसके समस्त चिंतन और कार्य-व्यापार मानवीय संबंधों पर आधृत हैं । प्रत्येक व्यक्ति को अपने दैनिक जीवन में न जाने कितने व्यक्तियों और समूहों से मिलना-जुलना पड़ता है । किंतु मनुष्य के इन वैयक्तिक सम्बन्धों की सफलता तभी संभव है जब कि दूसरों के लिए हितकर, सुखकर एवं श्रेयस्कर कार्यों में उसकी चेतना सक्रिय रहेगी । तभी हमारी आत्मा का संस्कार एवं विकास होता है तभी हमारी सामाजिकता पूर्णत: सार्थक कही जा सकती है । सजग चेतना एवं संस्कृत आत्मा ही श्रेष्ठ व्यक्तित्व की जननी है । स्वस्थ एवं प्रखर मस्तिष्क की सक्रिय एवं संरचनात्मक चेतना ही पुष्ट और प्रौढ विचार प्रदान कर सकती है । उर्वर कलाकृतियाँ उन्हीं की उपजह है, महान व्यक्तित्व उन्हीं की उपलब्धि है ।

व्यक्ति की विशिष्टताओं का मूल्यांकन निश्चय ही एक जटिल समस्या है । निरीक्षण और व्याख्या व्यक्तित्व-मापन का बुनियादी ढंग है

इनकी सहायता के लिए शारीरिक संरचना का आधार, सामाजिक, सांस्कृतिक विन्यास तथा मनोवैज्ञानिक निर्णय प्रविधियों का उपयोग करना पड़ता है । परंतु किसी एक क्षेत्र में व्यक्ति के विकास को आधार मानकर नहीं हो सकती । जीवन के सभी पहलुओं पर व्यक्ति की रुचि का पर्यवेक्षण किये जाने पर ही व्यक्तित्व-संबन्धी रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है । व्यक्ति को समझने के लिए किन-किन स्रोतों से सहायता मिल सकती है, किन-किन वस्तुओं से लाभ उठाया जा सकता है, स्वयं अपने बारे में व्यक्ति की धारणा कैसी है, उसके संबंध में दूसरे व्यक्तियों के विचार कैसे हैं, वह क्या प्रस्तावित करता है, उसके आचरण और व्यवहार कैसे हैं, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण कैसा है, समाज के लिए उसकी देन कितनी मूल्यवान् है आदि व्यक्ति के गुण-दोषों से संबन्धित समस्त विशेषताओं और प्रवृत्तियों के सम्यक् आकलन से ही व्यक्तित्व का सामान्य रूप उपलब्ध होता है । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण, उसकी मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ और मानसिक प्रक्रियाएँ, युग-चेतना, व्यक्ति की व्यवहार-क्षमता, परंपरा वातावरण, पारिवारिक, परिस्थितियाँ, सामयिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियाँ साहित्यिक साहचर्य आदि का समन्वित प्रभाव व्यक्तित्व की संरचना में योग देता है । दृढ और प्रौढ व्यक्तित्व में अनुभूतियों एवं अनुभवों की अंतरतम गहराइयों में पैठकर स्वतंत्र एवं मौलिक निर्माण की क्षमता सन्निविष्ट है ।

महान्कृतियाँ बड़े चाव से पढी जाती हैं । सहृदयों पर उनका असर चिरस्थायी होता है । "जिनकी चेतना व्यापक एवं उदार हो, जिनका मन क्षुद्र उद्देश्यों और स्वार्थों की संकुचित सीमा का अतिक्रमण करता है, जिनका मस्तिष्क महान विचारों से परिपूर्ण रहता है, जिनका लक्ष्य और प्रयत्न उच्चतर है, वे ही मानवता के लिए स्थायी महत्व की रचनाएँ दे पाते

महानता का क्षेत्र असीम्य, अनंत एवं अबोध है, अत: कोई भी व्यक्तिपूर्ण रूप से महान होने का दावा नहीं कर सकता[1]।" प्रतिभा किसी कटघरे में बन्द नहीं रहती[2]।" अनेक मार्गों की मंजिल, अनेक दिशाओं को जोडनेवाला क्षितिज, अनेक सरिताओं को बांधनेवाला सागर केवल प्रतिभा के जादू से ही प्रस्तुत हो सकता है। जिस प्रकार बट का एक नन्हा-सा बीज, जल की एक बूँद का स्पर्श पाकर विराटता को साकार करता हुआ, अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं के साथ शताब्दियों की गाथा सुनाने को खडा हो जाता है, ठीक उसी प्रकार केवल प्रतिभा की संजीवनी शक्ति से ही एक व्यक्तित्व अनेक रूपों में उच्चतम मान-बिन्दु तक पहुँचता है[3]।" ऐसी प्रतिभाएँ ही काल की अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित न होकर मत-मतांतरों के झंझावात से विनष्ट न होकर, सिद्धांतों या वाद-विशेषों के कटघरे में बंद न होकर समय का अतिक्रमण करती हैं। जिस प्रकार साहित्य आत्माभिव्यक्ति अथवा अनुभूतियों का कलात्मक प्रतिस्फुटन है, उसी प्रकार व्यक्तित्व भी आत्मबोध, आत्मविस्तार, आत्मसंगीत और आत्मवस्तूकरण से पूर्णता प्राप्त करता है। समस्त कलाकृतियाँ वस्तुत: सर्जकों के आत्मिक व्यापारों और आंतरिक संघर्षों का समुच्चय, सामंजस्य और समन्वय है। अत: उत्तम कृतियों के अनुशीलन से कृतिकार के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश पडे बिना नहीं रह सकता। इसलिए कलाकार के व्यक्तित्व के सही मूल्यांकन के लिए उसकी संपूर्ण रचना-सृष्टियों से गुज़रना, उसकी समस्त उपलब्धियों पर विचार करना आवश्यक है।

आचार्य वाजपेयी जी का व्यक्तित्व

व्यक्तित्व की महत्ता व्यक्ति की महानता पर निर्भर है।

---

1. सं॰ डॉ॰ गणपतिचंद्र गुप्त - आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - व्यक्तित्व एवं साहित्य

वाजपेयी जी के व्यक्तित्व के विवेचन में उनके व्यक्ति-रूप, लेखक रूप दोनों पर सहज ही दृष्टि पड़ती है । पारिवारिक जीवन, शिक्षा-दीक्षा, वंश-परंपरा, राजनैतिक दृष्टिकोण और अन्य चारित्रिक विशेषताओं का प्रभाव उनके व्यक्ति-रूप को अधिक व्यापकता प्रदान करता है तो संपादक, अध्यापक, शोध निर्देशक, वक्ता, युग-द्रष्टा, समीक्षक आदि रूपों से समन्वित उनकी बहुमुखी प्रतिभा उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को सम्पुष्ट बनाने में सहायक हुई है । इन विविध रूपों के सम्यक् आकलन से ही वाजपेयी जी के व्यक्तित्व का सही रूप उजागर होगा । इसलिए उन प्रमुख पहलुओं पर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है जिनसे उनका व्यक्तित्व प्रौढ धरातल पर प्रतिष्ठित हो सका ।

राजनैतिक दृष्टिकोण

वाजपेयी जी जब कालेज के विद्यार्थी थे तब आज़ादी का आन्दोलन ज़ोरों पर था । राजनैतिक समस्याएँ पल प्रति पल वृद्धि पा रही थी । तनाव और संघर्ष, घुटन और कुंठा सर्वत्र पैशाचिक रूप धारण कर चुकी थी । पढ़ाई के साथ ही साथ वाजपेयी जी का ध्यान इस जटिल संकटग्रस्त वातावरण एवं स्वतंत्रता-संग्राम की ओर भी आकृष्ट हुआ था । उनके पिताजी पहले ही देश के महान् नेताओं की संगति में आ चुके थे जिनका स्पष्ट प्रभाव बालक वाजपेयीजी पर भी परिलक्षित था । बचपन में ही लोकमान्यबालगंगाधर तिलक जैसे देश के सूत्रधारों की विचारधाराओं से वे खूब प्रभावित हो चुके थे । महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो सत्याग्रह असहयोग आन्दोलन हुआ था उसमें वाजपेयी जी के पिताजी ने भी सक्रिय योग दिया था । इन सब परिस्थितियों में पलकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने की उत्कट अभिलाषा उनमें थी ही, किंतु पारिवारिक असुविधाओं ने उनकी इच्छा को व्यावहारिक बनाने में बाधा उपस्थित की । देश के क्रांतिकारी नेताओं के साथ

पिताजी जेल भेजे गये । घर संभालने की पूरी जिम्मेदारी वाजपेयी जी पर आ पड़ी । ऐसी हालत में पिताजी का अनुगमन कर जेल-जीवन बिताना उनके लिए असंभव-सा रहा । फिर भी वे चुप न रहे । स्वतंत्रता-संग्राम से संबद्ध भावनाएँ ज़ोरदार भाषणों द्वारा उन्होंने जनता के सम्मुख प्रस्तुत कीं । उनके ये ज्वलंत भाषण इस बात के प्रमाण थे कि भाषण कला में वे कितने प्रवीण थे ।

पिताजी के समान राष्ट्रीय संकट में न उलझने का और एक मुख्य कारण यह भी था कि साहित्य-साधना ही उनके जीवन का चरम ध्येय थी । जीवन का अर्थ उनके लिए काव्योपासना था । जितना उन्हें साहित्यिक कार्यों के लिए अनुकूल, आवश्यक एवं सहायक लगा, उतना ही उन्होंने राजनीतिक बातों में हाथ बँटाया । साहित्य से पृथक् रहकर उन्होंने किसी तरह का राजनीतिक संबंध किसी से स्थापित नहीं किया । पिताजी का सहवास इसके लिए काफी प्रेरणादायक था, किंतु वे कभी राजनीतिक मामलों में न पड़े । संपादक की हैसियत से भी उन्हें राष्ट्रीय नेताओं का परिचय और संपर्क आवश्यक हुए थे । अंग्रेज़ी अधिकारियों द्वारा बरती जानेवाली राजनीतिक असहिष्णुता ने उनमें विदेशी शासन के प्रति अनास्था पैदा की थी । मगर साहित्यिक सेवा के एकांत लक्ष्य ने उन्हें अन्य विषयों से एक हद तक अछूता ही रखा । राजनैतिक विचारों में गांधीवादी रहते हुए भी हिन्दू आदर्शवाद उन्हें अधिक प्रिय रहा और यह भावना उनके आकर्षक व्यक्तित्व में आद्यंत दिखाई देती भी है । राष्ट्रीयता और समाजवाद का संतुलित समन्वय उनके साहित्यिक उपक्रमों के मूल में समाविष्ट है ।

निर्भीक, प्रेरणादायक संपादक

भावप्रवण, विचारशील एवं कल्पना-संपन्न विद्वान ही सफल संपादक बन सकता है । वाजपेयी जी स्वस्थ चिंतक एवं प्रतिष्ठित विचारक थे । मर्मी विद्वान होने के नाते विषय की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता, प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता, व्यापकता - संक्षिप्तता आदि तथ्यों से वे पूर्णत: अवगत थे । संपादन का सामग्री-संकलन उनके लिए सरल कार्य था । पक्षपात-हीनता, परंपरा का निषेध तथा पूर्वाग्रह-मुक्ति उनके संपादन-कार्य में देखी जा सकती हैं । राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना से समन्वित स्वच्छन्द दृष्टि प्रारंभ काल से ही उनमें लक्षित होती थी ।

वाजपेयी जी के संपादकीय व्यक्तित्व में उनकी प्रौढ़ प्रतिभा एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य का स्पष्ट निदर्शन मिलता है । तत्कालीन राजनीतिक पत्रिका "भारत" के संपादक बनकर संपादन-क्षेत्र में उनका प्रवेश हुआ । "भारत" इलाहाबाद से प्रकाशित एक साप्ताहिक पत्र था । सी·वाई· चिंतामणि उस समय के प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक एवं पत्रकार थे । वाजपेयीजी की रचनात्मक प्रतिभा एवं कलात्मक अभिरुचि से साहित्य-जगत परिचित हो चुके थे । अपनी सृजनात्मक प्रतिभा को अधिकाधिक समृद्ध बनाने का पूरा अवसर उन्हें उस समय प्राप्त हुआ । पत्र का संपादक रहते हुए समय-समय पर जो सामाजिक राजनीतिक संपादकीय, अग्रलेख, टिप्पणियाँ आदि लिखते थे उनमें उनका समीक्षक रूप भी स्पष्टत: उभर आया है । पत्रकारिता का पूर्व परिचय न होने पर भी अपनी कुशलता, नई सूझ-बूझ तथा नयी अनुभूतियों एवं अनुभवों से उन्होंने "भारत" का संपादन-कार्य सफलतापूर्वक संपन्न किया । अपनी रुचि एवं दृष्टि के अनुकूल वे सामग्री इकट्ठा करते थे । किसी पूर्व-निर्दिष्ट संपादन-पद्धति का उन्होंने अंधानुकरण

नहीं किया । सरकार की कठोर नीतियों के प्रति असंतोष प्रकट करने में उन्होंने कोई बुराई नहीं देखी । राजनैतिक पत्र होने के कारण राष्ट्रीय समस्याओं के लिए "भारत" में अधिक स्थान दिया जाता था । अहिंसात्मक क्रांति को महत्व देने की ओर गांधीजी ने जनता का ध्यान दिलाया तो वाजपेयी जी ने भी 3, नवंबर के अंक में दमन और अहिंसा शीर्षक टिप्पणी लिखी[1] । " आज़ादी के आन्दोलन का जीता-जागता स्वरूप "भारत" सदैव प्रस्तुत करता रहा । इस संग्राम की सफलता किस प्रकार हो सकती है, इसके दुर्बल पक्ष क्या-क्या हैं, किन-किन प्रकारों का सुधार-कार्य किया जाना है, इन सभी समस्याओं पर इस पत्र ने विचार किया । राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य को लेकर उनकी जो-जो भावनाएं होती थीं उन सबको "भारती" के माध्यम से वे वाणी देते रहे । हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता अनुभव करते हुए उनकी एक संपादकीय टिप्पणी निकली जो प्रत्येक भारतवासी की आँखें खोल देनेवाली है[2] । साम्प्रदायिक रक्तपात पर वे बार-बार क्षोभ प्रकट करते रहे । "भारत" के 30-31-32 के अंकों से होकर वाजपेयीजी की राष्ट्रीय भावना की पूरी झलक मिलती है । इस पत्र के माध्यम से जिन राष्ट्रीय भावनाओं को वाजपेयी जी ने अभिव्यक्ति दी वे ही उनकी समीक्षा में भी यत्र-तत्र देखने को मिलती है । अपनी रचनाओं को राष्ट्रीय तत्वों से समृद्ध बनाने की ओर सदैव उन्होंने ध्यान दिया । उनका "राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध" शीर्षक रचना ही इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रीय चेतना उनके दृष्टिकोण का एक प्रमुख अंग रही और व्यापक मानवीय दृष्टि के भीतर रखकर राष्ट्रीयता को पुष्ट करने के वे पक्षपाती रहे ।

---

1. "अहिंसा आत्मा की शक्ति है, दमन पशु की शक्ति है ।
आत्मशक्ति को पशुशक्ति क्षीण नहीं कर सकती ।"

2. [illegible]

1 सितंबर 1930 से 10 नवंबर 1932 तक वाजपेयी जी "भारत" के संपादक रहे । उनके संपादक-व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को उजागर करने में यह काल सहायक रहा । राष्ट्रीय भावनाओं के साथ ही सामाजिक चेतना को पुष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने स्वतंत्रता-आन्दोलन में किसानों, मज़दूरों, छात्रों और समाजवादी विचारधारा के समर्थकों की समस्याओं को प्रमुखता दी थी। अस्पृश्यों की समस्याओं पर बार-बार विचार किया गया । अर्थ-समस्या, बेकारी की समस्या आदि भी "भारत" की चर्चा के विषय रहीं । सामयिक स्थितियों पर पूरी सजगता के साथ टिप्पणी करते हुए एक निर्भीक, सजग संपादक का रूप उन्होंने उपस्थित किया । मूलत: साहित्य-क्षेत्र के व्यक्ति होने की वजह से वाजपेयी जी पत्र-संपादन के साथ ही अपने समय की रचनाशीलता को भी पोषित करते रहे । चलताऊ पत्रकारिता की भाषा से बढ़कर एक पहुँचे हुए साहित्यकार की भाषा की झलक "भारत" की हरेक अभिव्यक्ति में होती थी । धीरे-धीरे यह परिणाम निकला कि वाजपेयी जी के अध्यापक और समीक्षक रूप ने संपादक-रूप पर अधिकार जमाया और "भारत" के माध्यम से तत्कालीन साहित्यिक रचनाएँ भी प्रस्तुत की जाने लगीं । नये साहित्यकारों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत होने लगे । छायावादी कवियों - प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी के विषय में उनका विवेचन प्रकाशित होता रहा । प्रसाद और निराला की छोटी-छोटी रचनाएँ भी इसमें स्थान पायीं ।[1] छायावाद के सृजनात्मक स्वरूप का उद्घाटन करने के लिए, छायावाद के संबंध में प्रचलित अनेक भ्रांतियों का निराकरण करने के लिए "भारत" ही महान योग प्रदान कर सका ।

---

1. प्रसाद की कविता "समुद्र-तट की ऊषा", 24-3-32
   निराला का लेख "साहित्य और भाषा" 25-2-32
   मैथिलीशरणगुप्त के "साकेत" का एक अंश उर्मिला-मिलन, 9-6-32

इस प्रकार हिन्दी-काव्य में छायावाद को प्रतिष्ठित करने की भरसक कोशिश "भारत" के माध्यम से वाजपेयी जी ने की । वाजपेयी जी की कुछ कविताएँ भी अनाम प्रकाशित हुई ।[1] 13, फरवरी 1931 को "साहित्य का विकास" नाम से वाजपेयी जी का जो संपादकीय निकला वह विशेष ध्यान देने योग्य है । व्यंग्यात्मक होते हुए भी वाजपेयी जी की प्रगतिशील दृष्टि को स्पष्ट करने में उनकी टिप्पणी बिलकुल समर्थ हुई है[2] । यों बताया जा सकता है कि वाजपेयी जी के समीक्षक-व्यक्तित्व को रूपायित करने में "भारत" संपादक वाजपेयी जी का महान योग है । लेकिन उनके इन स्वतंत्र विचारों के फलस्वरूप कई लेखक अप्रसन्न हो गये और वाजपेयी जी के नाम पर शिकायत की बौछार पड़ने लगी । विचारों के स्वातंत्र्य पर प्रतिबंध वाजपेयी जी जैसे स्वतंत्र-चेता व्यक्ति के लिए असह्य था । फिर भी आधुनिक साहित्य से संबंधित अनेक लेख उन्होंने लिखे । नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर नयी शैली के उनके गंभीर लेखों ने निश्चय ही नये वातावरण की सृष्टि की । किंतु जब उनकी स्वच्छन्द वृत्ति की कडी आलोचना होने लगी, मतैक्य न रह गया तो पत्र के अधिकारियों से उनका मन-मुटाव हो गया और उन्होंने "भारत" के संपादन से त्यागपत्र दे दिया ।

"भारत" से विरक्त होकर 1933 में वे काशी लौट आए तो वहाँ की नागरी प्रचारिणी सभा में "सूरसागर" का संपादन कार्य उन पर सौंपा गया । यह काम पहले ही श्री जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर ने शुरू कर दिया था, उनके निधन के पश्चात् ही वाजपेयी जी पर इसका दायित्व आ गया । 33 के अंत से लेकर 1937 तक इस कार्य में वे लगे रहे । इस संपादन में जो कमियाँ आई हैं उनकी ओर स्वयं वाजपेयी जी ने अपनी लघु

---

1. "चित्रकार के प्रति, 24-12-32
2. "जहाँ राजनीति में चतुर्दिक जागृति देख पड़ती है, वहाँ साहित्य का एक विशाल समुदाय अचेत होकर सो रहा है । ..... विचारवान साहित्यिकों का यह कर्तव्य होगा कि वे व्यक्तिगत रीति से अथवा संबद्ध होकर जैसे भी हो, उपर्युक्त लक्ष्य (साहित्यिक साम्यवाद) की ओर बढें और आगामी भारतीय साहित्य को देश की उच्च परंपरा के तथा युग की गति के अनुकूल बनाने का उद्योग करें ।" (13-2-1932)

भूमिका में संकेत किया है । इस बात पर उन्होंने खेद प्रकट किया है कि "एक शोधपूर्ण प्रशस्त भूमिका भी वे इसे न दे सके हैं । त्रुटियों के होते हुए भी वाजपेयी जी द्वारा संपादित "सूरसागर" की निजी विशेषताएँ हैं और सूर के व्यक्तित्व को व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास संपादक ने इसमें किया है । इस से प्राचीन काव्य और उसके वैशिष्ट्य से भली-भाँति वे अवगत हो सके । प्राचीन साहित्य के उपासक होते हुए भी "भारत" के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विषयों का भी वे निरंतर अध्ययन-मनन करते रहे । नई साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं गतिविधियों से उनका संपर्क तो अधिक दृढ होता रहा । और शायद इसी अध्ययन के प्रभाव और प्रेरणा ने ही उन्हें प्राचीन और नवीन का संतुलित समर्थन करने में सफल बनाया होगा ।

37 से 39 तक वाजपेयी जी का कार्यक्षेत्र गीता प्रेस, गोरखपुर रहा । वहाँ "रामचरितमानस" का संपादक रहकर, उन्होंने भाषा-विषयक समस्याओं पर काफी विस्तार से विचार करते हुए तर्क-बुद्धि से अपनी मान्यताएँ भी प्रस्तुत की हैं । ग्रंथ की प्रामाणिकता, उसका वैज्ञानिक आधार आदि को वे अत्यधिक महत्व देते हैं । भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य के अध्ययन का अवसर उन्हें यहीं मिला जिससे धर्म के वास्तविक स्वरूप का भी ज्ञान हुआ । परिणामत: धर्म के मिथ्या आडंबरों, निरर्थक बाह्याचारों के प्रति उनमें विद्वेष की भावना उत्पन्न हुई थी । इसी बीच "सूर-सुषमा" नाम से एक छोटा-सा संकलन भी प्रकाशित हुआ । निराला को 17-10-28 को लिखे गये उनके एक पत्र में सूचित किया गया है कि गोरखपुर से प्रकाशित "स्वदेश" के विजयांक का भी उन्होंने संपादन किया है[1] ।

---

1. निराला की साहित्य-साधना, तृतीय खण्ड, पत्र सं. 129

इस प्रकार सन् 1930 से 35-40 तक वाजपेयी जी लीडर प्रेस, इलाहाबाद, नागरिप्रचारिणी सभा, काशी तथा गीता प्रेस, गोरखपूर में क्रमशः "भारत", "सूरसागर" एवं "रामचरितमानस" के संपादन-कार्य में संलग्न रहे जिससे साहित्यिक गतिविधियों के साथ ही साथ धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सभी की श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन-आलोचना का मौका भी मिल गया । किंतु प्रकाशकों की बुरी नीतियाँ, सहयोगियों की अन्य मनस्कता, विचार-स्वातंत्र्य पर दमन की नीति आदि अनिष्टकारी परिणामों से वे संपादन कार्य से कुछ-कुछ विमुख हो रहे थे कि अगले वर्ष ही काशी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए । इसके पश्चात् अप्रैल 1956 के 28 वें अंक से अप्रैल 1959 के 26 वें अंक तक वे "आलोचना" पत्रिका का संपादन करते रहे । इन तीन वर्षों के अन्दर वाजपेयी जी ने इस पत्रिका को व्यापक स्वरूप देने का प्रयत्न किया । साहित्य और समीक्षा से संबद्ध कई महत्वपूर्ण लेख समय-समय पर इसमें प्रकाशित होते रहे । भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा रचनाशीलता, हिन्दी साहित्य का पुनर्मूल्यांकन, सामयिक साहित्य, नाटक और काव्यालोचन आदि विषयों पर विचार-विमर्श केलिए काफी अवसर इसके माध्यम से विद्वानों को दिया गया । समीक्षा का स्वरूप, अर्थ, उद्देश्य, दायित्व आदि पर भी विचार व्यक्त किए गए । नई कविता, नए उपन्यास, आधुनिक काव्य-चिंतन आदि विषय भी उसके अंतर्गत स्थान पाए । संपादक के तौर पर यद्यपि वाजपेयी जी को कई चुनौतियों का सामना करना पडा तो भी विभिन्न संस्थाओं के संचालन और विविध कार्यों के संयोजन में असामान्य कुशलता प्रदर्शित करने के साथ ही व्यापक अध्ययन द्वारा नवीन मूल्यों का प्रति-स्थापन भी कर उन्होंने अपने संपादक रूप को चरितार्थ किया ।

आदर्श अध्यापक

अध्यापक से मतलब उस उत्तम व्यक्तित्व से है जो शिष्य से निकटता प्राप्त कर उसे अपना आत्मज मानकर उसकी जिज्ञासावृत्ति को उभारते हैं, अन्वेषक बुद्धि को जाग्रत करते हैं तथा मस्तिष्क को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं। सहृदयता, मुक्त भावना, गहरी और पैनी दृष्टि तथा अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति आदर्श शिक्षक के लिए अपेक्षित है। जिस अध्यापक ने अपने विद्यार्थी को पूर्णत: समझ लिया है वही उसे भली-भाँति समझा सकता है। अध्यापक, अध्येता और अध्ययन ये शिक्षा के तीन प्रमुख अंग हैं। अपनी-अपनी योग्यताओं के अनुसार दायित्व-बोध से सामाजिक जीवन व्यतीत करने में सक्षम उत्तम व्यक्तियों की सृष्टि करना शिक्षा का उद्देश्य है। अध्ययन का केन्द्रबिंदु विद्यार्थी है। पढ़नेवाला और बढ़नेवाला वही है। अध्यापक मात्र मार्गनिर्देशक है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। विद्यार्थी तथा विद्वान दोनों का कार्यक्षेत्र समाज है। इसलिए सामाजिक संबंधों का सही ज्ञान अध्यापक को होना चाहिए। अध्यापक का महत्व अध्ययन की सफलता पर निर्भर है। विद्यार्थी में आत्मविश्वास पैदा करना, उनकी प्रगति का स्पष्ट ज्ञान उन्हें देना, उनकी योग्यता की उचित प्रशंसा तथा प्रयत्नों का उचित समर्थन करना, विद्यार्थी की निजी रुचि पहचानकर उसकी वृद्धि में मदद देना तथा उसके प्रकाशन के उपयुक्त साहचर्य की सृष्टि करना, जीवन की यथार्थता से संबद्ध तथ्यों को पढ़ाना आदि गुण एक आदर्श अध्यापक के लिए अपेक्षित हैं।

व्यापक सहानुभूति, गंभीर आत्मीयता एवं सहिष्णुता समन्वित वाजपेयी जी का शिक्षक व्यक्तित्व छात्रों की दृढ़ मानसिकता का ध्यान रखकर उन्हें मानवता की संप्राप्ति कराने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा। पढ़ने-पढ़ाने की विशेष रुचि उनमें प्रारंभ से ही विद्यमान थी। पिताजी के [illegible]

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक थे । सन् 1941 फरवरी मास में शुक्लजी का निधन हुआ तो उसी वर्ष के जुलाई महीने में शुक्लजी के स्थान पर वाजपेयी जी की नियुक्ति हुई । छः वर्ष वे वहाँ के शिक्षण-कार्य में योग देते रहे । विद्यार्थियों का सामीप्य सदा उन्हें रुचिकर लगता था । सरल आचरण और संकोचशील प्रकृति गुरुजनों का अगाध स्नेह और वात्सल्य का पात्र बनने में उन्हें जितने सहायक हुई, वही निकटता, वैसा ही स्नेहपूर्ण व्यवहार अपने प्रिय विद्यार्थियों से भी प्रकट करना वे चाहते थे । व्यवस्थित एवं वस्तुमुखी अध्यापन पर ध्यान केन्द्रित कर मुट्ठी भर छात्रों को अपने नियंत्रण में रखने में वे पूर्णतः समर्थ थे । थोड़े ही समय में वे असंख्य अनुशासनप्रिय, स्नेहसंपन्न एवं विनम्र शिष्यों की मंडली बना सकते थे । महान अध्यापक निष्क्रिय एवं उद्दण्डी विद्यार्थियों को भी ठीक रास्ते पर कुशलतापूर्वक ला सकते हैं, इसका उत्तम निदर्शन अध्यापक वाजपेयी ने उपस्थित किया । छात्र-जगत से संबंधित सभी समस्याओं का समाधान ढूँढ निकालने में उन्होंने खुले दिल से योग दिया । उनका सद्व्यवहार इतना सराहनीय था कि विद्यार्थियों से उनका आत्मीय संबंध स्थापित हो गया और उनके सहाध्यापक भी उनकी प्रशंसा किए बिना न रह सके । कक्षा में वे पूर्णतः अध्यापक रहे, किंतु बाहर वे अपने छात्रों के सहयोगी एवं परामर्शदाता थे ।

सन् 1947 के मार्च महीने में पंडित जी सागर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष निर्वाचित किए गए । विश्वविद्यालय के शैक्षणिक क्षेत्र का कोई विभाग ऐसा न रहा जहाँ वाजपेयी जी का प्रवेश न हुआ हो । शिक्षाकार्य से संबंधित सभी पदों पर वे शोभित हुए और सभी कार्यक्षेत्रों में वे अपना अमिट असर अंकित भी कर सके । सागर विश्वविद्यालय में आठ-नौ वर्षों तक उन्होंने फैकल्टी ऑफ आर्ट्स (कला-संसद) के डीन के रूप में भी कई क्रियात्मक कार्य किए । सागर में वे करीब अठारह वर्ष रहे और इसके अधिकांश समय

वहाँ की प्रबन्ध-समिति के सदस्य भी बने रहे । काशी विश्वविद्यालय में भी इसी पद पर वे रह चुके थे । उनकी कार्यकुशलता, उत्साहशीलता एवं लोकप्रियता इससे खूब व्यंजित होती है । इस प्रकार अध्यापक के तौर पर उनकी उच्चतम उपलब्धियाँ चिर-नवीन हैं, चिरस्थायी भी । साहित्य-संबंधी नया ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा उनमें उत्कट थी । इस अध्यवसाय के कारण वे अपने विद्यार्थियों को सदैव नयी बातें ही सिखाते थे ।

वाजपेयी जी का प्रगतिशील साहित्यिक दृष्टिकोण सागर विश्व विद्यालय के पाठ्यक्रम में व्यवस्था, क्रम तथा संतुलन लाया । अध्ययन की सुविधाओं पर विशेष ध्यान रखा गया । विशाल चिंतन, गंभीर विचार एवं मौलिक विवेचनात्मक क्षमता से अध्यापकों की श्रेणी में उनका प्रतिष्ठित स्थान था ही, इन्हीं गुणों से अपने शिष्यों को भी ऊँचा उठाने में वे अत्यंत तत्पर रहे । उनके तत्त्वावधान में उनसे प्रभाव ग्रहण कर अनेक अनुसंधित्सु आचार्य तथा अन्य अच्छे एवं सम्मान्य पदों पर आसीन हो चुके हैं । प्रत्येक शिष्य का उनसे हार्दिक संबंध था । अपने नवीन प्रयोगों एवं उचित पथ-प्रदर्शन से उन्होंने संपूर्ण विश्वविद्यालय को उर्वर, क्रियाशील एवं चैतन्ययुक्त बनाया । वास्तव में वाजपेयी जी प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रतीक थे । सदैव उनके यहाँ ज्ञानपिपासु शिष्यों की जमघट थी । श्री सरयूकांत झा के शब्दों में "सादगीपूर्ण, स्वच्छ वेषभूषा में कोमल हृदयवाले आचार्य वाजपेयी भारतीय शिक्षकों की एक लंबी परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं । उन्होंने शिक्षा का एक नया मानदण्ड स्थापित किया है । आज जब कि नये मूल्य स्थिर हो रहे हैं, समाज तीव्र गति से संक्रमण कर रहा है और भारतीय जीवन की क्षितिज-रेखा नये प्रकाश से आलोकित हो रही है, उस समय नये नेताओं के निर्माण के लिए आचार्य वाजपेयी सफल अध्यापक सिद्ध हुए हैं । उन्होंने दत्तचित्त होकर एक सच्चे कलाकार के समान अपने छात्रों में नये मानव का निर्माण किया है ।"

कुशल शोध-निर्देशक

प्रगल्भ आलोचक, तथा सहृदय साहित्य-सेवक होने पर भी वाजपेयी जी ने अपना कोई ग्रंथ प्रस्तुत कर डाक्टर की उपाधि नहीं ग्रहण की यह बिल्कुल मज़ेदार बात है । किंतु विविध विषयों के अनेक शोध-छात्रों की सृष्टि करके उनके बहुरंगी व्यक्तित्व ने इस अभाव की पूर्ति की है । वस्तुत: उनकी अपनी लेखन-शैली ही उनकी शोध-निर्देशन क्षमता का ज्वलन्त प्रमाण है । एफ·ए· पास करने के पश्चात् एक वर्ष तक वे आचार्य श्यामसुन्दर दास के आदेशानुसार "मध्यकालीन हिन्दी काव्य" में अनुसंधान करते रहे । किंतु परिस्थितियाँ अनुकूल न होने से वे उसे पूर्ण न कर सके । वाजपेयी जी के साहित्यिक जीवन का बहुत अधिक समय शोध-कार्य के निरीक्षण एवं निर्देशन में लगाया गया है । एक सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित योजना से उनका शोध-कार्य चलता था । काशी विश्वविद्यालय में ही नहीं, अन्य अनेक स्थानों पर विविध विषयों पर अनुसंधान और अनुशीलन का कार्य वे करते रहे । उनका शोध-कार्य इतना विकासोन्मुख रहा कि उनके संचालन में सागर विश्वविद्यालय में हिन्दी शोध और अनुशीलन की एक सशक्त संस्था ही संघटित हुई । वाजपेयी जी की प्रेरणा से जो शोध-ग्रंथ प्रस्तुत किए गए हैं वे हिन्दी के विद्यार्थी के लिए बहुत काम के होंगे, इसमें सन्देह नहीं । हिन्दी से संबंधित समस्त विषयों पर दक्षता एवं कुशलता के साथ शोध निर्देशन करने में वे प्रयत्नशील रहे । शोध के लिए विषय का चुनाव, सामग्री-प्राप्ति, रूपरेखा निर्माण आदि सभी बातों में उनकी मर्मग्राहिणी सूझ एवं सर्वग्राहिणी प्रतिभा की पहुँच हुई है । निश्चय ही इन शोध-ग्रंथों के माध्यम से वाजपेयी की प्रचुर प्रतिभा एवं विद्वत्ता का सहज ही प्रस्फुटन हो पाया है । उनके द्वारा निर्देशित शोध-प्रबन्ध उनकी पूर्वाग्रहहीन दृष्टि के प्रमाण हैं । विभिन्न दृष्टिकोण से युग की परख-पहचान एवं मूल्यांकन उनका उद्देश्य था, जिसमें वे पर्याप्त सफल हुए ।

वाजपेयी जी विचारों की अभिव्यक्ति में पूर्ण स्वतंत्रता के उद्घोषक थे । उनके शोध छात्र भी विचारों को प्रगट करने में पूर्णत: स्वतंत्र थे । स्वतंत्र विचार एवं मूल्यांकन ही उन्हें अधिक प्रिय थे । हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के विषय में जो स्वच्छन्द विचार उनके शोधकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं उनका महत्व अक्षुण्ण है । छायावाद युग की अनेकमुखी व्याख्या के साथ ही साथ परवर्ती काव्य की भी वस्तुनिष्ठ विवेचना इन शोध-कृतियों द्वारा हुई है ।

कवि वाजपेयी

बी·ए· तथा एम·ए· की कक्षाओं पढ़ते हुए वाजपेयी जी ने कई छोटी कविताएँ लिखी हैं जो उनकी विराट कल्पना एवं भावप्रवणता के कारण आकर्षक बन गई हैं । अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में जो कविताएं उन्होंने लिखी है वे यही सिद्ध करते हैं कि यदि चाहते तो वे उच्च श्रेणी के कवि बनते । छायावादी कविताओं की सुकुमारता, प्रवाहमयता, स्वच्छन्दता आदि विशेषताएँ उनकी कविताओं में दृष्टिगत होती हैं । उदाहरणार्थ, उनकी "कली" नामक एक कविता जो "विशाल भारत" के जुलाई 1928 के अंक में नंददुलारे वाजपेयी बी·ए· नामसे प्रकाशित हुई थी, यहाँ प्रस्तुत की जा सकती है -

मनोरंजिनी कली खिली थी, विश्ववाटिका में कमनीय
रानी-सी श्रीमती छबीली मुकुलित शुचि शोभा में लीन ।
था कुल गौरव-कथा सुनाता विनत व्यजनरत मदिर समीर,
बांदी वल्लरियाँ चरणों में सेवा की करती तदबीर
आसमान भी छत्र तानकर संतत परिचर्या में लीन,
स्वयं प्रकृति भी रही दीखती उसकी दासी-सी श्रीहीन ।
वही हाय निरुपाय पड़ी जब खाकर निठुर समय की मार,

यहाँ विषय-रचना, शैली, प्रतीक-विधान सभी में उनकी छायावादी दृष्टि दिखाई देती है । इसलिए यह स्वाभाविक है कि साहित्य-जगत् के प्रतिष्ठित आचार्यों की कडी आलोचनाओं और विवादों से दम घुटते रहनेवाले छायावाद को अपने सर्वप्रथम समर्थक के रूप में वाजपेयी जी जैसे समीक्षक प्रवर प्राप्त हुए ।

चारित्रिक विशेषताएँ

वाजपेयी जी का घरेलू वातावरण उनके चरित्र निर्माण में सहयोग देनेवाला था । निराला के शब्दों में वाजपेयी जी विद्यार्थी जीवन में ही "न दैन्यं न पलायनम्" के प्रतीक थे । बचपन में अपने अशिक्षित एवं निर्धन ग्रामीण साथियों के संपर्क में रहते हुए उनमें विनय, सहानुभूति, त्याग, प्रेम आदि श्रेष्ठ भावनाओं का उदय हो चुका था । घमंड उन्हें छू तक नहीं सका । पिताजी के आर्यसमाजी प्रभाव से विभिन्न विषयों में वे निष्णात हो चुके थे । किंतु ज्ञान का दंभ तनिक भी नहीं रहा । विद्वत्ता एवं शील के मणिकांचन संयोग ने उनके चरित्र को अतिशय महान सिद्ध किया । शालीनता, सरलता, संकोचशीलता, सहृदयता तथा मिलनसार स्वभाव ने उन्हें बृहद् शिष्यवृन्दों और मित्रों से संपन्न बनाया । विनयसमन्वित अभिमान, सरल व्यवहार, गर्वहीन पांडित्य, अलंभावरहित ज्ञान पिपासा, सब पर विजय पानेवाली, मन को मुग्ध करनेवाली सहज मुस्कान उनकी उल्लेखनीय विशेषताएँ थीं । वैचारिक दृढ़ता और स्पष्टवादिता के होने पर भी निंदकत्व की भावना उनमें बिलकुल नहीं थी । किसी तरह का पक्षपात, चाटुकारिता या दोलचाल की मनोवृत्ति उनके व्यवहार या वचन में कभी न दृष्टिगत हुई । उनके निर्मल एवं उन्मुक्त मुस्कान के आकर्षण से मित्र-मंडली तथा शिष्य-समूह सदैव आनन्दविभोर हो उठते थे । अतिथियों के आदर-सत्कार में वे इतने दिलचस्प रहते थे कि उनके हार में सदैव सबका सहज प्रवेश हो सकता था ।

इतने सहृदय थे कि किसी का अनिष्ट करना तो दूर वे सोच भी नहीं सकते थे। उदारता तो उनकी जीवन-संगिनी थी। मगर स्वाभिमान कभी न छोड़ा। उनका बाहर-भीतर समान था, वचन और व्यवहार में सत्यता रही। जितना हो सका, दूसरों की भलाई करते रहे। प्रतिदान की प्रतीक्षा कभी नहीं की। बातचीत में विपन्नता या व्यवहार में रूक्षता कभी न ज़ाहिर होती थी। निजी माता के अभाव की करुणा, विमाता की उदारता और ममता की छाप आरंभिक संस्कारों के रूप में उनके किशोर हृदय पर पड़ी थी। जीवन के संघर्षों से संग्राम करने की शक्ति तथा सांत्वना की भावना उन्हें पत्नी से प्राप्त हुई थी। अपने गुरूजनों से आत्मगौरव एवं निर्भीकता का पाठ पढ़ा। बचपन में सुखद व सुरम्य प्राकृतिक दृश्यों के साहचर्य में पलकर उनमें सौन्दर्यान्वेषिणी चेतना तथा स्वच्छन्द वृत्ति का उदय हुआ जिसका क्रमिक विकसित रूप उनके समूचे व्यक्तित्व में परिव्याप्त है। उनकी आध्यात्मिक धारणा अधिक गंभीर है जो एकांतिक न होकर नैतिक एवं सामाजिक आदर्शों पर आधृत है। किसी संप्रदायविशेष के समर्थक वे कभी न रहे। मानवता को उसके पूर्ण परिवेश में आत्मसात् किया। रूपये-पैसे, खान-पान, कपडे वगैरह देकर भी वे विद्यार्थियों की सहायता करते थे। भव्यता तथा सौष्ठव के मानों वे साकार रूप थे। सरसता, दयालुता और परदु:खकातरता भी उसी मात्रा में थी। सभी उनके लिए आत्मज थे, सबसे मुक्तभाव से मिलते थे। उनका कुंठाहीन व्यक्तित्व सबको मोहित करता था। इस प्रकार वाजपेयी जी के व्यक्तित्व का चारित्रिक पक्ष सभी अर्थों में उत्कृष्ट था जो उनकी मानवतावादी दृष्टि को पुष्ट करने में पूर्णत: सहायक रहा।

कुशल वक्ता

वाजपेयी जी एक अधिकारपूर्ण व्याख्याकार हैं। वे एकमात्र ऐसे व्याख्याता हैं जिन्होंने स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा पर भाष्य देकर छायावाद की रहस्यात्मकता और संकीर्णता को दूर किया।

अपनी वक्तृताओं द्वारा उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण की व्यर्थता सिद्ध करने के साथ ही भारतीय परिस्थितियों में पाश्चात्य सिद्धांतों के उपयोग की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर भी विचार किया । पश्चिमी सिद्धांतों की कृत्रिमता, दुर्बलता एवं खोखलेपन का उन्होंने खुल्लमखुल्ला चित्रण किया जिससे उन्हें कई प्रकार के विरोधों एवं संघर्षों का भी सामना करना पडा । संपूर्ण हिन्दी-क्षेत्र को विराट, विशाल तथा सशक्त बनाने का उन्होंने अथक प्रयास किया । वक्तृत्व-कला में अद्भुत कुशलता उन्होंने प्रदर्शित की । नई सूझ एवं नवीन दृष्टि के साथ प्रौढ एवं सारगर्भित विचारों को सुन्दर भाषा में आकर्षक शैली में सादे ढंग से प्रस्तुत करके, श्रोतागण को अपने साथ बहा ले जाने में आपकी उत्तेजनापूर्ण वक्तृताएँ समर्थ हुई हैं । विषय के विविध पहलुओं पर विचार करते हुए आप उस संबंध में एक ऐसा ही निष्कर्ष निकाल देते थे जिससे श्रोता या पाठक सहज ही सहमत हो जाते थे । उनकी निर्भीक किंतु रससिक्त वाणी बीच-बीच में स्वच्छ निर्मल हास्य का पुट भी रखते हुए, गंभीर भाव के साथ कोमलता भी भरकर व्यंजनापूर्ण शाब्दिक चमत्कार द्वारा श्रोताओं को भावविभोर कर देती थी । भावों की अन्विति, विचारों की गंभीरता तथा अभिव्यक्ति की कुशलता उनके वक्ता रूप को अप्रतिम बना देती हैं ।

युग-प्रबुद्ध दृष्टा

समाज की बहुमुखी आशा-आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयों के विशिष्ट लेखकों को तैयार करने और प्रेरणा प्रदान करने की निपुणता, विभिन्न रुचियों एवं प्रवृत्तियों, विविध समस्याओं के समाधान की क्षमता, विविध सामग्री के समीकरण की कुशलता तथा संगठन-शक्ति के द्वारा साहित्य और समाज को नयी दिशा निर्दिष्ट करने की प्रवणता जिनमें हो वे ही युग का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं । वाजपेयी जी अप्रतिम साहित्य-साधक व [illegible]

उनकी समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों में युग-निर्माता एवं युग-निरीक्षक के रूप दर्शित होते हैं । अतीत और वर्तमान के संबंध में जानकारी रखने के साथ ही, आगामी युग के दिशा-निर्देशन की क्षमता भी उनमें थी । आपने स्वच्छन्दतावादी युग में समीक्षा-साहित्य को एक मौलिक दृष्टिकोण दिया ।

नेतृत्व पक्ष

युग-निर्माता कलाकार में नेतृत्व-भावना सहज ही रहती है । छात्र जीवन में वाजपेयी जी में नेतृत्व-भावना विकसित होने लगी थी । सन् 1941-42 में काशी के प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन और संचालन का कार्य उन्हीं से संपन्न हुआ । भाषा-साधकों में साहित्यिक चेतना का संचार करने का महान कार्य इससे हो सका । उनके संपादक, शिक्षक, शोध-निर्देशक सभी रूपों में नेतृत्व रूप सजीव हो उठा है । वाजपेयीजी की संगठन-क्षमता का सही परिचय 1947 के मार्च महीने की एक घटना मे मिलता है जब कि वे सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे । इसी वर्ष निराला के पचासवें जन्म दिवस पर "निराला स्वर्णजयंती" की योजना की गयी थी । जयंती का प्रमुख केन्द्र काशी में था, किंतु अखिल भारतीय स्तर पर होने के कारण देश के कई भागों में बडे उत्साह एवं उमंग के साथ जयंती मनाई जा रही थी । जयंती के सिलसिले में कलकत्ता और बंबई में दो-दो दिन रहकर करीब बीस हज़ार रुपए इकट्ठा करने तथा निराला को एक विशिष्ट अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने का विचार उन्हें था । किंतु वैयक्तिक असुविधाओं के कारण अभिनन्दनग्रंथ तैयार न कर सके । जयंती के तुरंत पश्चात् ही काशी से उन्हें सागर आना पड़ा । यद्यपि निश्चयानुसार बीस हज़ार रुपए का संग्रह न कर सके तो भी उनकी वाग्विदग्धता, सौम्य व्यवहार तथा अथक प्रयत्न से बहुत अधिक रुपयों का प्रबन्ध हो सका और

जयंती समारोह पर्याप्त फलवती भी रहा । यह कार्यक्रम इतना सफल रहा कि इससे निराला की जनप्रियता बहुत बढ गयी । साहित्यिकों में उन्हें सम्मान्य स्थान प्राप्त हो गया ।

वाजपेयी जी तथा अन्य लेखक मित्रों के बीच साहित्यिक चर्चाएँ समय-समय पर हुआ करती थी । सभा-सम्मेलनों में भी वे अधिक दिलचस्पी लेते थे । इन अवसरों पर जिस दक्षता एवं प्रामाणिकता के साथ वे विभिन्न विषयों पर परामर्श देते थे वे उनकी असामान्य कुशलता के परिचायक थे । दूसरों के विचारों को सुनने और उनकी टीका-टिप्पणी कर उनकी कमज़ोरियों को उजागर करने के साथ ही उनके सद्विचारों की सराहना भी वे खुले मन से करते थे । यही कारण है कि स्वयं लिखने की अपेक्षा उन्होंने लिखवाया अधिक । भाषा के प्रचार केलिए, सामयिक वास्तविकताओं से प्रत्यक्ष परिचय पाने केलिए उन्होंने उत्तर भारत में ही नहीं, दक्षिण के भी कई देशों की यात्राएं कीं । प्रत्येक व्यक्ति की निजी रुचि पहचानकर उसके विकास का अनुकूल मार्ग बता देने में वे विशेष शैक दिखाते थे । उनका ज्ञान इतना गहरा था कि अपने विचारों की सार्थकता एवं व्यावहारिकता का प्रमाण देकर प्रतिद्वंद्वियों पर भी वे विजय पाते थे जिससे उनके अनुयायियों की संख्या निरंतर बढ़ती रहती थी । इस प्रकार एक समर्थ नेता के लिए अपेक्षित सभी गुण वाजपेयी जी में विद्यमान थे ।

आचार्यत्व

आचार्य वह है जो आचरण की शिक्षा देता है, जिसका कार्य आचरणीय है । आचार्यत्व के कई पहलू हैं । चारित्रिक पक्ष, पांडित्य पक्ष, नेतृत्व पक्ष आदि इसके प्रमुख रूप है । सच्चे अर्थ में पंडित होने के साथ ही उसे सहृदय साहित्य-सेवक भी होना चाहिए । विनम्रता और विद्वत्ता का

समन्वित रूप विवेकी व्यक्ति में दीखता है । केवल साहित्य में ही नहीं, साहित्येतर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सार्वजनिक कार्यों में भी उनकी अबाध गति रहती है । जो व्यक्ति अपनी विराट् कल्पना, मौलिक सूझ-बूझ, व्यापक दृष्टि एवं जीवन के प्रौढ़तम अनुभवों से साहित्य और जीवन केलिए अभिनव मार्ग प्रशस्त करते हैं, जिसमें नीर-क्षीर विवेचन की क्षमता है, जो अपने निर्णय पर दृढ रहते हैं ऐसे विवेकशील विद्वान ही आचार्य के नाम से अभिहित किए जा सकते हैं । नेतृत्व करने की क्षमता उनमें बहुत कुछ होती है । इसकेलिए संगठन-क्षमता आवश्यक है । चारित्रिक पक्ष एवं पांडित्य पक्ष जहाँ प्रबल रहते हैं वहाँ नेतृत्व पक्ष सहज ही आ जाता है । सामयिक गतिविधियों, रीति-नीतियों, आचार-विचारों, धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं, आर्थिक राजनैतिक परिस्थितियों को आत्मसात् करने की क्षमता नेतृत्व-भावना का द्योतक है । इस दृष्टि से उनके विचारों में युगीन आदर्शों एवं सांस्कृतिक परंपराओं का समाहार रहता है । तभी साहित्य, समाज धर्म, राजनीति, आदि सभी क्षेत्रों में नेतृत्व रूप का जीवंत प्रभाव रह सकता है ।

आचार्य वाजपेयी समीक्षक, संशोधक एवं समर्थ संगठनकर्ता थे । युगीन नेतृत्व की क्षमता एवं शास्त्रीय ज्ञान उनमें पूरी मात्रा में थे । उनके शोध-निर्देशक व्यक्तित्व ने रचनाओं का विषय निश्चित कर, उनका संशोधन कर समाज का साहित्यिक अनुशासन किया । युगीन भाषा एवं शैली को उन्होंने संयत, प्रौढ एवं व्यवस्थित रूप दिया । उनका अध्यापक-रूप जिसमें अपूर्व सहृदयता, मार्मिक दृष्टि तथा अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति समन्वित हैं, उनके आचार्यत्व को असाधारण गरिमा प्रदान करता है । स्वयं करने के साथ दूसरों को प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देने की क्षमता उनमें थी । समीक्षा के क्षेत्र में भी नये आयामों को उभारकर नये प्रतिमान प्रतिष्ठित कर तथा साहित्य के विभिन्न रूपों पर विचार-विमर्श कर उन्होंने आचार्यत्व की प्रमुख भूमिका को वरीयता दी थी । आधुनिक हिन्दी साहित्य के

संबंध में इतने आधिकारिक रूप से अपने विचार प्रस्तुत करनेवाले व्यक्ति को आचार्यत्व की पदवी देना सर्वथा समीचीन है ।

आचार्य वाजपेयी जी ने एक ओर सूर, तुलसी सरीखे अतीत के महाकवियों के ग्रंथों का संपादन, गवेषणा तथा साहित्यिक समीक्षा द्वारा प्राचीन साहित्य के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है तो दूसरी ओर आधुनिक साहित्य का भी व्यापक अध्ययन किया है । छायावादी साहित्य का उन्होंने मंथन किया है । चिंतन की व्यापकता, भावों की गहनता, भाषा की प्रौढता, प्रांजलता और प्रवाहमयता उनकी विराट् प्रतिभा के निदर्शन हैं । वादों को मान्यता देते हुए भी वाद-निरपेक्ष रहकर उन्होंने बीसवीं शताब्दी के संपूर्ण हिन्दी साहित्य का परख-पर्यवेक्षण किया है । मानवतावाद के प्रबल समर्थक रहे । उनका दृष्टिकोण प्रगतिशीलता के व्यापक आदर्शों से ओत-प्रोत है । किसी तत्व या सिद्धांत की मामींसा करते समय वे उसे विभिन्न परिप्रेक्ष्य में रखकर देख सके हैं तथा विभिन्न निष्कर्ष निकालकर अंत में उनमें संतुलित सामंजस्य स्थापित कर सके हैं । कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि वे आचार्य पद के सर्वथा योग्य हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि समीक्षक की पैनी दृष्टि, संपादक की निर्भीकता, पत्रकार की स्पष्टवादिता अध्यापक की विश्लेषणपटुता, दार्शनिक की गंभीरता, आचार्य की विद्वत्ता, पहुंचे हुए लेखक की प्रौढ़ता, परंपरावादी की सांस्कृतिक दृष्टि की गरिमा, स्वच्छन्दतावादी की स्वतंत्र चेतना सभी गुण वाजपेयी जी में प्रकट होते हैं । अपनी समीक्षा में जिस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को उन्होंने महत्व दिया वही सामंजस्य उनके व्यक्तित्व में भी निहित है । भारतीय संस्कृति की विशद व्याख्या, राष्ट्रीयता के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन पश्चिमी

काव्यशास्त्र के मूल्यवान तत्वों को भी आत्मसात् करने की आधुनिक दृष्टि, सभी प्रकार के मतवादों से साहित्य को दूर रखकर उसके शुद्ध साहित्यिक रूप को सुरक्षित रखने का आग्रह, सौष्ठववादी समीक्षक की सौंदर्यप्रियता, सृजनात्मक कलाकार की मौलिकता आदि ऐसे गुण हैं जो उनके समीक्षक व्यक्तित्व को अधिक सार्थक साबित करते हैं ।

शैली और व्यक्तित्व का घनिष्ठ संबंध है । बाबू गुलाबराय के मत में म्याऊँ की ध्वनि और बिल्ली का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध व्यक्ति, विषय और अभिव्यक्ति के बीच है[1] । शैली के नियामक तत्वों में ग्रंथकार के व्यक्तित्व का विशेष महत्व है । युगीन वातावरण और परिस्थितियाँ, साहित्यिक परंपराएँ, साहित्यकार का दृष्टिकोण आदि से परिचालित होकर व्यक्तित्व विकास प्राप्त करता है । कृति का प्रत्येक शब्द कृतिकार के व्यक्तित्व से जुड़ा रहता है । अपने-अपने व्यक्तित्व की छाप प्रत्येक लेखक की शैली को एक दूसरे से पृथकता प्रदान करती है । जिस प्रकार गंभीर विचार शैली को भी प्रौढ़ बना देता है उसी प्रकार विषय की प्रकृति भी शैली के विन्यास में महत्वपूर्ण योग देती है । किन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि विचारों के अनुरूप ही विषय होता है और विचार व्यक्तित्व के अनुरूप होता है । तब भी यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तित्व ही शैली का मूल है तथा विचार-गुंफन, विषय-निर्णय, प्रतिपादन-प्रणाली सब के सब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यक्तित्व से संबद्ध है । प्रभावपूर्ण शैली में अनुभूति और भाषा का स्वस्थ और सहज सम्बन्ध सदैव बना रहता है ।

---

1. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ.233

कई विद्वान प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति को शैली मानते हैं । इस प्रभाव द्वारा पाठक से शैली का विशेष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । किन्तु सभी पाठकों की रुचि समान कभी नहीं हो सकती । यही नहीं, कभी-कभी उनकी रुचियां एक दूसरे के विरुद्ध भी हो सकती हैं । अत: एक ही रचना द्वारा सब प्रकार के पाठकों में समान प्रभाव उत्पन्न करना कठिन है । इस कार्य में वही लेखक सफल निकलता है जिसके महान व्यक्तित्व में सर्वमान्य रूप से विविधता में भी एकता, कठिनता में भी सरलता को दर्शाने की अपूर्व क्षमता है । यहाँ भी शैली मूलत: व्यक्तित्व पर आ टिकती है ।

विवेचन की विदग्धता, प्रतियोगियों की मान्यताओं के खण्डन के प्रसंगों में भी अटूट आत्मविश्वास से युक्त सहज विनम्रता, सरलता आदि से समन्वित वाजपेयी जी के व्यक्तित्व की व्यक्त छाप उनकी शैली में भी अंकित है । गुरुतुल्य द्विवेदी जी का अत्यधिक आदर करनेवाले वाजपेयी जी निस्संकोच उनकी रचनाओं की प्रखर आलोचना करते हैं । साथ ही उनकी निस्वार्थ साहित्य सेवा की प्रशंसा में यह भी बता देते हैं कि "काशी नागरीप्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का बहुमूल्य सहयोग भांति-भांति से प्राप्त हुआ है, जिसके लिए सभा उनकी कृतज्ञ रहेगी । - - - - - - - सभा को अपने विद्या-वैभव और कार्य की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की अमूल्य संपत्ति, सहस्रों पुस्तकें और "द्विवेदी-पदक" निधि के रूप में प्रदान की है--- द्विवेदी जी के ये दान-वृद्धावस्था की लकडी का सहारा भी छोड देना - आत्मोत्सर्ग की सीढियां हैं, जिन्हें भविष्य की संतान सदैव स्मरण रखेगी ।" प्रेमचन्द, रामचंद्र शुक्ल, आदि के विवेचन भी इसी प्रकार के हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.55

सौम्य और सरल प्रकृति के होते हुए भी कहीं-कहीं वाजपेयी जी की आक्रमणकारी प्रकृति भी प्रकट होती है । समीक्षा-क्षेत्र में उनका प्रवेश उसी रूप में हुआ । तत्कालीन परिस्थितियों को ललकारते हुए ही उन्हें अपना दायित्व निबाहना पड़ा था । वास्तव में उन सभी विद्वानों से उन्हें मोर्चा लेना पडा जो छायावाद के विरुद्ध उठ खडे हुए । स्वतंत्र-चिंतन अथवा स्वच्छन्दता उनके प्रतिपाद्य, प्रतिपादन-प्रणाली दोनों में दर्शित है । कोरे शब्दाडम्बर से उनकी शैली मुक्त रही । विचारों की कसावट एवं संतुलन सर्वत्र दृश्य हैं । पूरे आत्मविश्वास से, भली-भाँति विषय की परख करके किसी भी विषय में अपनी प्रतिक्रिया निस्संकोच वे प्रकट करते हैं । उनके व्यक्तित्व की यह दृढता विशेष उल्लेखनीय है कि निकट मित्र के विषय में भी अपने विचार चाहे वे उनके अनुकूल हो या प्रतिकूल, खुले हृदय से कह देने में वे नहीं हिचकते । किंतु उनका निर्णय और प्रतिपादन-प्रणाली इतनी प्रभावपूर्ण है कि उससे सहमत हुए बिना हम रह नहीं सकते । पंतकाव्य के मूल्यांकन में कई स्थानों पर उनकी यह प्रवृत्ति लक्षित है । महादेवी के विषय में भी उन्हें शिकायत है । उनके काव्य की प्रशंसा करते हुए भी समाज की वास्तविक और प्रगतिशील चेतना से दूर रहने की बडी कमज़ोरी उनमें वे देखते हैं ।

व्यक्तित्व की सटीक अभिव्यक्ति के लिए निबन्धात्मक शैली ही अधिक उपयुक्त है । अपनी प्रकृति के अनुरूप स्वच्छन्द गति वाजपेयी जी की शैली में दीखती है । उदात्तता का जो उत्कृष्ट गुण उनमें है वह उनकी शैली को भी उदात्तता के स्तर से कभी नीचे उतरने नहीं देता । व्यंग्य-विनोद के प्रसंगों में भी वे अपने उच्च धरातल को बनाये रखते हैं । व्यक्तित्व की भाँति शैली भी ओज गुण तथा प्रसाद गुण से समन्वित है । समालोचक-व्यक्तित्व के प्रज्ञात्मक तत्व का भी यथेष्ट योग उसमें हो पाया है ।

छोटे-छोटे वाक्यों में ही विचारों का संसार खोल कर रख दिया गया है । वैज्ञानिक दृष्टि-समन्वित निगमनात्मक शैली उनके निबन्धों को अधिक प्रामाणिक रूप प्रदान करती है । किसी प्रकार का हल्कापन या छिछलापन उनकी शैली में है ही नहीं । अपनी मान्यताओं की पुष्टि सशक्त आधारों से ओजस्वी भाषा में ही वे करते हैं । व्यक्तित्व की दृढता, चिन्तन की मौलिकता, दृष्टिकोण की स्वच्छता ही उसके आधारभूत तत्व हैं । यथार्थवादी रचनाओं की एकांगी दृष्टि की ओर संकेत करते हुए वे पूरी दृढ़ता से कहते हैं - "साहित्य केवल वैज्ञानिक जानकारी भी नहीं, क्योंकि यह जानकारी स्वत: अपने में एक अधूरी वस्तु है । कोरा वैज्ञानिक बहुत कुछ जानता है, पर उस जानकारी को क्या वह सदैव जीवन में बरत पाता है - जीवन का अंग बना पाता है ? स्पष्ट ही यह विज्ञान या वैज्ञानिक जानकारी का अधूरापन और असमर्थता है, जिसकी पूर्ति साहित्य द्वारा होती है । साहित्य केवल मतवाद के प्रचार का माध्यम भी नहीं बना करता, और न प्रत्यक्ष और प्रतिदिन बदलनेवाले किसी "राष्ट्रीय कार्यक्रम" का संगी ही बन सकता है । यह "वालेंटियरी वृत्ति" उसे शोभा नहीं देती ।"

आत्म-संशोधन वाजपेयी जी के व्यक्तित्व का एक महनीय गुण है । अपनी धारणा में जहाँ कहीं कोई त्रुटि दिखाई दी तो उस पर पुनर्विचार कर अपनी गलती समझने, उसे स्वीकार करने और स्वयं उससे बचने का आग्रह उनमें लक्षित होता है । उनके कोमल, कमनीय, सौम्य व्यक्तित्व में आत्मस्वीकृति का यह गुण बडी मात्रा में है । विरोधी दृष्टिकोण रखनेवालों में भी कोई गुण दिखाई देता है तो खुले हृदय से वे उनकी प्रशंसा करते हैं तथा अपने स्नेही पात्रों में भी दोष दिखाई देने पर निस्संकोच उसका पर्दाफाश कर देते हैं । "आँसू" की आलोचना में जो त्रुटि उन्हें दिखाई दी उसे व्यक्त करते हुए बाद में वे कहते हैं - "आज मैं प्रसाद के "आँसू" काव्य को देखता हूँ तो

---

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका पृ.८९

उसमें अंग-संघटन की बडी कमी दिखाई देती है[1]।" उनकी समीक्षा-दृष्टि में उत्तरोत्तर जो विकास होता रहा उसकी भी सूचना इस प्रकार की मान्यताओं से मिलती है । समीक्षक की प्रौढ़ता यहीं दर्शनीय है।
"कामयनी" के विषय में भी वे समझ लेते हैं कि "कामायनी" अपने युग की सर्वसुन्दर काव्यकृति है, किन्तु अपूर्णता इसमें भी कुछ न कुछ है ही ..... "कामायनी" की उक्ति के अनुसार यह रचना कोमलता में बल सांती हुई है । यद्यपि यह बलखाना बल-संचय के लिए ही है, फिर भी इससे रचना की किशोर तन्वंगिता भुलायी नहीं जा सकती । इसमें कोलाहल और कर्कशता नहीं, किन्तु महाकाव्य का गंभीर स्वर भी इसमें पूरे वेग से नहीं उतरा । युग की नवोन्मेषशालिनी और नूतन समन्वयकारिणी वाणी तो "कामायनी" में है, पर युग की प्रौढ़ता और परिपक्वता कदाचित् इसमें नहीं है - और न हो ही सकती थी[2]।" प्रेमचन्द के विषय में भी बहुत कुछ यही बात है । उनके प्रारंभिक उपन्यासों को ध्यान में रखते हुए वाजपेयी जी ने यही निष्कर्ष निकाला था कि "कथानक, चरित्र, विचारसूत्र और कला की निर्मिति में प्रेमचन्द जी प्रथम श्रेणी के यूरोपीय औपन्यासिकों की ऊँचाई पर नहीं पहुंचते[3]।" किन्तु बाद में उन्होंने व्यक्त किया कि प्रेमचन्द जी का "गोदान" उपन्यास प्रकाशित हो जाने पर हमारी इस धारणा में परिवर्तन हुआ है । "हंस" के आत्मकथांक को लेकर प्रेमचन्द जी और वाजपेयी जी में जो वाद-विवाद चला उसके विषय में भी वास्तविक स्थिति का बोध होने पर उन्हें विस्मय होता है कि "जिस मूलवस्तु को लेकर यह संपूर्ण विवाद हुआ, वह "हंस" का तथाकथित "आत्मकथांक" वास्तव में आत्मकथा नहीं "संस्मरणांक" के रूप में निकला है । यदि इसका विज्ञापन करनेवाले इस विभेद का ध्यान रखकर संस्मरणांक के नाम से विज्ञापन करते तो शायद इतना तूफान उठने की नौबत ही न आती । तथापि आत्मकथा के विषय में प्रेमचन्द जी की

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न : निकष, पृ.7
2. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ.38

बातें सुनने, अपनी बातें कहने और अनेक आदरणीय हिन्दी-लेखकों और कवियों की बातें जानने का मुझे जो सुअवसर प्राप्त हुआ, उसका श्रेय "हंस" के "तथा विज्ञापित" "आत्मकथांक" को ही है । हिन्दी-जनता का इस कहा-सुनी से जो मनोरंजन हुआ - और मुझे सूचना मिली है कि उसका पर्याप्त मनोरंजन हुआ है - वह अलग ।" वाजपेयी जी का "नयी कविता" विषयक विश्लेषण भी इसी दृष्टिकोण की पुष्टि करता है । "नयी कविता" की गतिविधि पर पहले वे संतुष्ट नहीं थे, लेकिन हिन्दी-कविता को विकासोन्मुख बनाने की सभी क्षमताएँ उसमें दर्शाते हुए बाद में उन्होंने प्रतिपादित किया कि "नई कविता में पिछली काव्य-धाराओं की अनेक प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं । उसमें छायावाद की रोमानी दृष्टि भी है, प्रगतिवाद की सामाजिक चेतना भी और प्रयोगवाद की वैयक्तिक भाव-बोध भी । नई कविता इन सभी प्रवृत्तियों को अपने भीतर समाहित किए हुए समय के अनुरूप नये भावबोध तथा नए शिल्प को भी प्रश्रय देती हुई आज की प्रमुख काव्य-दिशा का प्रतिनिधित्व कर रही है[2]।" इस प्रकार के और भी उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें उनकी समन्वय दृष्टि और आत्मनिरीक्षण क्षमता प्रतिबिंबित हैं ।

व्यक्तित्व की चरम उपलब्धि उन्हीं कृतियों में हो सकती है जहाँ लेखक किसी चिरंतन भावतत्व को संपूर्ण वास्तविकता के साथ अभिव्यक्त कर, पूरी ईमानदारी के साथ अपने को प्रस्तुत करता है । तभी उसका व्यक्तित्व सामान्य स्तर से ऊपर उठकर व्यापक एवं असामान्य धरातल ग्रहण करता है । भावव्यंजन की यही कुशलता वाजपेयी जी की शैली को उच्चस्तरीयत प्रदान करती है । किसी भी तथ्य को इतनी ईमानदारी से वे प्रस्तुत करते हैं कि

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 148
2. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 73

पाठक उसमें पूर्णत: तल्लीन हो जाते हैं । इस ईमानदारी के कारण ही उनकी शैली अधिकाधिक प्रवाहपूर्ण होती गयी है । हिन्दी भाषा एवं साहित्य के भविष्य पर पूर्णत: आश्वस्त होते हुए जो विचार उन्होंने प्रकट किए हैं वे उनकी आशावादी दृष्टि को स्पष्ट करने के साथ ही उनकी ज़ोरदार प्रवाहपूर्ण आकर्षक शैली का भी परिचय देते हैं । हिन्दी साहित्य की उर्वरता एवं उज्ज्वल प्रगति की कामना एवं संभावना करते हुए उनका कथन है - "सच बात तो यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य का वर्तमान रूप बडा चमत्कारपूर्ण है । इसमें भावी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे । ..... काल का धर्म भी पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है । इस अवस्था में जीवन है, प्राण है, उत्साह है, उमंग है और सबसे बढ़कर बात यह है कि भविष्योन्नति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की शक्ति और कामना है । जिसमें ये गुण हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं । हिन्दी में ये गुण वर्तमान हैं और उसकी उन्नति अवश्यंभावी है । हिन्दी और उसके साहित्य का भविष्य बडा ही उज्ज्वल और सुन्दर देख पड़ता है । आदर तथा सम्मान के पात्र वे महानुभाव हैं जो अपनी कृतियों से इस मार्ग के कंटकों और झाड-झंखाडों को दूर कर उसे सुगम्य, प्रशस्त और सुरम्य बना रहे हैं ।[1]" विचारों की दृढ़ता, उक्ति की स्पष्टता तथा भाव की पूर्ण अन्विति इस कथन में स्पष्ट हैं । संक्षेप में बताया जा सकता है कि वाजपेयी जी की रचनाओं में व्यक्तित्व ही शैली के रूप में उपस्थित हुआ है ।

विषय और शैली

विषयवस्तु और शैली का घनिष्ठ संबंध है । कला की सुन्दरता के लिए दोनों का समन्वय अपेक्षित है । एक का दूसरे से पृथक्करण नितांत

---

1. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ.111-112

अकाल्पनिक है । शैली का औचित्य विषयवस्तु से उसके संबंध पर आश्रित है । शैली और विचार अन्योन्याश्रित है । दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, दोनों परस्पर उत्तेजना और उत्कर्ष प्रदान करते हैं । शब्द ही विचारों को रूप, सौष्ठव एवं स्पष्टता प्रदान करता है । एक ही सृजन व्यापार से वस्तु, शैली दोनों का संबन्ध है । प्रत्येक व्यक्ति हर वस्तु को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखता है । अत: एक के लिए जो विषयवस्तु है दूसरे के लिए उसका वही रूप नहीं रह सकता और जब विषय वस्तु ही बदल गयी तब शैली का बदल जाना अनिवार्य है क्योंकि दोनों दो वस्तुएं नहीं है वरन् एक ही हैं[1]।" कभी-कभी एक ही व्यक्ति विभिन्न विषयों का प्रतिपादन विभिन्न शैली में करता है और कभी एक ही विषय विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया जाता है । इस प्रकार व्यक्ति वैशिष्ट्य और विषयजन्य विशिष्टता दोनों का समन्वित रूप शैली में निहित है । इसी पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ गणपति चन्द्रगुप्त ने लिखा है - "जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न प्रकार की पोशाकें धारण करता है या वह विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है फिर भी इन सब में उसका व्यक्तिवैशिष्ट्य बना रहता है, वैसे ही एक लेखक विषय की प्रकृति के अनुसार विभिन्न शैलियों का प्रयोग करता है किन्तु उन सबमें उसकी वैयक्तिक विशिष्टता बनी रहती है[2]।"

वाजपेयी जी की शैली निबन्धात्मक है । एक निबन्धकार का व्यक्तित्व लेकर वे समीक्षा-क्षेत्र में अवतरित हुए । विषय विवेचन की दृष्टि से उनके निबन्धों में असंपूर्णता दीखती है । शायद निबन्ध की विशेषता भी यही हो । मार्मिक लगनेवाले प्रसंगों को ही उन्होंने स्पर्श किया है । विषय की पूरी रूपरेखा या उसका सर्वांगीण विकास उनके निबंधों में

---

1. डॉ॰ श्यामशर्मा - आधुनिक हिन्दी गद्यशैली का विकास, पृ॰102
2. साहित्य की शैली पृ॰24।

नहीं मिलता । भूमिका उपसंहार आदि भी उनके निबन्धों में विरल हैं । कृतिकार के व्यक्तित्व की कसौटी पर ही उसकी कृति की परीक्षा करने के कारण आधुनिक दृष्टिकोण से सहानुभूति स्थापित करने में वाजपेयी जी विशेष सफल हुए हैं । अपने विचार इतने संयत ढंग से वे प्रस्तुत करते हैं कि विषय से बाहर कभी नहीं जाते । विषय की विविधता उनके निबन्धों में दृष्टव्य है । प्राकृतिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, भाषिक, साहित्यिक जैसे अनेक विषय उनके निबन्धों की सीमा में आते हैं । "हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग" "भाषा साहित्य एवं संस्कृति का अनूठा संगम" है । यद्यपि यह रचना विभिन्न समय पर विभिन्न विषयों पर दिए गए भाषणों का संकलन है तो भी साहित्य, संस्कृति, भाषा-आदि से संबद्ध अनेक मौलिक विचार सरलतम शैली में इसमें प्रकाशित हुए हैं । यात्रा विषयक रचना की दृष्टि से "केरल की शारदीय परिक्रमा" सुन्दर बन गयी है । भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, देशोन्नति में हिन्दी का दायित्व, साहित्य और सामाजिक प्रगति, "राष्ट्रभाषा की समस्याएं" के अधिकांश निबन्ध उनकी उत्कृष्ट शैली के दृष्टान्त हैं । साहित्यिक निबन्ध ही अधिक संख्या में उन्होंने लिखे हैं जिनमें उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की अमिट छाप अंकित हुई है । संस्मरण, महाकाव्य, प्रगीतकाव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, इतिहास, आलोचनाएं आदि साहित्य के प्राय: सभी मुख्य रूप उनके निबन्धों के अंतर्गत आते हैं । "प्रकीर्णिका" के निबन्धों में इन सभी रूपों की आलोचनाएं उपलब्ध हैं । पूरब और पश्चिम के साहित्यिक सिद्धांतों की विकास रेखाएं भी अपने अलग दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी हैं । उनके विचारों से भली-भांति पाठकों को अवगत कराने के लिए समीक्षा विषयक सप्तसूत्री व्याख्या तथा "समीक्षा संबंधी मेरी मान्यताएं" नामक निबन्ध भी प्रस्तुत हुए हैं । उन्मुक्त चिंतन की प्रवृत्ति वाजपेयी जी की उल्लेखनीय विशेषता है । प्रगतिशील नवीन मूल्यों का वे खुले हृदय से स्वागत करते हैं । गवेषणात्मक दृष्टि भी कई स्थानों पर प्रकट होती है ।

लगभग सभी साहित्यिक विधाओं को उन्होंने चर्चा का विषय बनाया । नये अनुशीलन की भूमिकाओं, नव्यतम समीक्षा-शैलियों, नवीन साहित्यिक विधाओं तथा नयी काव्य प्रवृत्तियों पर बिलकुल नये ढंग से विचार किया । साहित्य, जीवन दोनों में वे नवीनता के इच्छुक रहे । साहित्य-विषयक प्राचीन सिद्धांतों की नयी व्याख्या, आधुनिक विषयों का नवीन ढंग से विश्लेषण प्राचीन काव्य कवि एवं दर्शन को आधुनिक सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न, कृतिकार की आंतरिक चेतना में ही कृति के सौंदर्य को ढूंढने की प्रयास आदि उनकी नूतन दृष्टि के ही परिचायक हैं । उनके ग्रंथों के आरंभ में दी गयी विशद भूमिकाएं ही पूरे युग का स्वरूप निर्दिष्ट कर एक उत्कृष्ट समीक्षा कृति बनने की पूरी क्षमता रखती हैं । आधुनिक युग का साहित्य ही मुख्य रूप से उनकी समीक्षा का विषय रहा है तथा इसीलिए उनकी मान्यताएं अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय मानी जा सकती हैं क्योंकि आधुनिक युग के साहित्यिक इतिहास के जिस स्वरूप को उन्होंने प्रस्तुत किया है उनके अधिकांश भाग से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है । स्वानुभूत सत्य को ही अधिकांशत: निबन्धों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । छायावादी कवियों से उनका निकट सम्बन्ध रहा था । सूरदास के काव्य से भी उनका रागात्मक संबन्ध था । इस कारण अपनी अनुभूतियों से ईमानदारी बरतने में अन्य समीक्षकों की अपेक्षा वे अधिक सफल हुए हैं । इसीलिए उनमें मौलिकता का भी अधिक दावा किया जा सकता है । भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में ध्वनिसिद्धांत एवं पश्चिमी सिद्धांतों में अभिव्यंजनावाद से वे अधिक प्रभावित हुए । दोनों सिद्धांतों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान तथ्यों को आत्मसात कर अपने ढंग की एक नूतन समीक्षा-पद्धति का निर्माण करने में उनकी विवेकसंपन्न सारग्राहिणी दृष्टि सफल हुई । कवि की अंत: चेतना टटोलने में मनोविश्लेषण का महत्व भी यथावसर माना गया है । साहित्य की स्वतंत्र सत्ता कायम रखने का आग्रह बार-बार उन्होंने प्रकट किया है ।" समीक्षा में रचयिता, आलोचक, पाठक तीनों का महत्व वे

---

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, भूमिका, पृ. 1-2

स्वीकार करते हैं ।· इस कारण उनकी समीक्षा-दृष्टि सभी प्रकारों से श्लाघ्य एवं स्वागतयोग्य है । सुन्दर, परिनिष्ठित, व्यवस्थित भाषा का वे निर्माण कर सके जिसमें विशुद्ध साहित्यिक एवं सांस्कृतिक चेतना उजागर हुई है ।

लेखक का लक्ष्य और शैली

किसी भी कृति के मूल में कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है । यह उद्देश्य विभिन्न रचनाओं में विभिन्न हुआ करता है और उसकी सिद्धि के लिए स्वीकृत मार्ग और प्रणालियाँ भी विभिन्न रहती हैं । समीक्षक का तो एक ही लक्ष्य रहता है, कृति का समुचित मूल्यांकन । उस मूल्यांकन के लिए जो मानदण्ड स्वीकार किया जाता है उसका प्रभाव उसकी शैली पर भी पड़ता है। परिस्थिति, विषय एवं प्रसंग के उपयुक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा ही उसके उद्देश्य का उचित निर्वाह हो पाएगा ।

आचार्य वाजपेयी की शैली तो इतनी प्रौढ़ है कि लक्ष्य उसमें स्वत: स्पष्ट हो जाता है । सौष्ठववादी मानदण्ड ही उनके प्रेरक तत्व रहे । कृति में कृतिकार की चैतन्य आत्मा की झलक वे देखना चाहते थे । प्रेमचंद के विवेचन में यह दृष्टिकोण उन्होंने सामने रखा है । उनके विचार में "कला की पहली आवश्यकता यह है कि जो कुछ अभिव्यक्त किया जाय उसकी आकृति कलाकार के मस्तिष्क में स्पष्ट खिंच जाय । कलाकृति का प्रत्येक अंग - उपन्यास का प्रत्येक परिच्छेद उसके रचयिता के सामने आरसी-सा दिखाई देना चाहिए । चिकने, खुरदरे, धुंधले, साफ, सुन्दर, असुन्दर भाँति-भाँति के

रूप जैसे भी व्यक्त किए जाएं, लेखक को प्रत्यक्ष होने ही चाहिए।[1]" इस कथन से यही स्पष्ट होता है कि लक्ष्य जब स्पष्ट है तभी रचना का स्वरूप, अभिव्यक्ति का ढंग सब लेखक के स्मृतिपथ में स्पष्ट प्रतिबिंबित होते हैं।

पाठक और शैली

चाहे सृजनात्मक साहित्यकार हो, चाहे समीक्षक, अपने प्रति रचना के प्रति और पाठक के प्रति उसकी प्रतिबद्धता रहती है। सच्चे साहित्य में सभी के हित-साधन प्राप्त होते हैं याने सभी स्तरों के पाठकों के लिए रास्ता खुला रहता है। लेखक और पाठक के भावों, विचारों एवं निर्णयों में एकरूपता होने पर ही कृति आस्वाद्य बन जाती है। रचना के स्थायित्व के लिए यह अत्यंत आवश्यक है। लेकिन पाठकों में रुचिभेद एवं स्तरभेद का होना स्वाभाविक है। लेखक इससे अवगत है। वह जब कुछ लिखता है तो अनजाने ही उसका संबंध एक विशेष रुचिवाले पाठक वर्ग से हो जाता है। जहाँ पाठक एवं लेखक के दृष्टिकोण परस्पर मेल खाते हैं वहीं शैली सार्थक साबित होती है। क्योंकि अपनी रचना के विषय एवं उद्देश्य के उपयुक्त शैली ही लेखक ग्रहण कर सकता है। पाठक का पूरा ध्यान रखते हुए प्रत्येक शब्द पर, प्रत्येक संकेत पर अपना व्यक्तित्व का असर डालते हुए ढाली जानेवाली शैली ही उत्कृष्ट है। एफ.एल.ल्यूकस, हरबर्ट रीड्र आदि अंग्रेज़ी आलोचकों ने पाठकों को ध्यान में रखते हुए ही स्पष्टता, संक्षिप्तता तथा रोचकता के गुण शैली के लिए आवश्यक माने हैं। भारतीय आचार्यों द्वारा असमर्थत्व, अवाच्यत्व, अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व आदि को काव्य रचना के दोष माने जाने के मूल में भी यही भावना है।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.127

भाषा-शैली का स्वरूप-निर्माण सदैव पाठक की बौद्धिक एवं मानसिक स्थिति को ध्यान में रखकर होना चाहिए ।

इस विवेचन का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि किसी पूर्व निर्दिष्ट सिद्धांत या धारणा के बल पर लेखक को शैली का स्वरूप गढना पड़ता है । सच तो यह है कि साहित्य-सृजन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और उसकी सफलता के लिए आवश्यक उपादान समर्थ लेखक की कल्पना में सहज ही सन्निविष्ट है । आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यकार नाम के लिए न होकर सच्चे अर्थ में साहित्यकार हो ।

वाजपेयी जी की रचनाओं में शैली के विविध रूप प्रयुक्त हुए हैं । खंडनात्मक, मण्डनात्मक, भावात्मक, बौद्धिक, व्यंग्यात्मक, विवेचनात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक, चित्रमयी आदि विभिन्न प्रकार उन्होंने विषय एवं प्रसंग के अनुकूल अपनाये हैं । एक ओर विविधता के तत्व विद्यमान हैं तो दूसरी ओर समासशैली की प्रधानता के कारण विविधता में ही एकता बनाये रखने में भी वह समर्थ हुई है । नवीनता एवं प्रभाविष्णुता के तत्व सब कहीं विद्यमान है । साहित्यिक रुचिरता, गंभीरता एवं आत्मीयता इनके साहित्यिक निबंधों में है तो भाषणों में उनकी शैली ओजगुण प्रधान एवं प्रवाहपूर्ण है । अपनी धारणाओं को सही स्थापित करने की बलवती इच्छा भी उनमें प्रकट होती है । विश्लेषणात्मक एवं उपदेशात्मक शैली के प्रति उनमें अधिक तत्परता नहीं दीखती । वैयक्तिक निबंधों में, व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि संस्मरणात्मक या शोकात्मक निबन्धों में ही प्रकट हुई है । वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण का समन्वित रूप ही उनमें अधिकतर लक्षित होता है ।

साहित्यिक परंपराएँ

साहित्यकार प्रथम और अंतिम रूप से समाज का अंग है, सामाजिक इकाई है । उनकी सृजनात्मक प्रतिभा सदैव नवीन तथ्यों के उद्घाटन के लिए व्यग्र रहती है । इसके लिए या तो वह वर्तमान परिस्थितियों से संघर्ष कर परिवर्तन का शंखनाद फूँकता है या उपलब्ध सुविधाओं और सामग्रियों का सदुपयोग कर उन्हीं में नवीनता खोज निकालने का प्रयास करता है । साहित्यिक परंपराओं का योग इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है । उन्हीं के आधार पर साहित्यकार अपने दृष्टिकोण और अपनी मान्यताओं की स्थापना करता है, अपने साहित्य का स्वरूप निश्चित करता है । इसलिए परंपरा से साहित्यकार का विरोधात्मक, वरणात्मक या समन्वयात्मक संबन्ध हुए बिना नहीं रह सकता ।

समाज में विरोधी शक्तियाँ सदैव सक्रिय रहती हैं । वे ही आन्दोलन, पुनरुत्थान, परिष्कार, प्रगति आदि के आधार हैं । एक वर्ग वर्तमान से संतुष्ट होकर उसके साथ अग्रसर होता है तो दूसरा वर्ग पूर्णत: असंतुष्ट रहकर वर्तमान के प्रति विद्रोही हो उठता है । तीसरा वर्ग मध्यम मार्ग का अवलंब ग्रहण करता है । इन तीनों वर्गों के कार्यों में परंपरा का योग अवश्य रहता है । शैली भी उससे प्रेरित एवं प्रभावित रहती है ।

स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी वाजपेयी जी ने परंपरा का निषेध कभी नहीं किया । वे युगनिर्माता कलाकार थे । यह भी ठीक है कि उन्होंने नयी उद्भावनाओं तथा मौलिक उपस्थापनों द्वारा नयी परंपरा एवं नये युग का निर्माण कर साहित्य का नया अध्याय आरंभ किया ।

लेकिन परंपरागत धारणाओं के सात्त्विक अंशों से अपना संबंध विच्छेद कभी नहीं किया । भारतीय संस्कृति की सहज विशिष्टता समन्वयात्मक दृष्टिकोण उनके व्यक्तित्व एवं साहित्य में आद्यंत दीखता है । साहित्यशास्त्र-विषयक परंपरागत धारणाओं को भी उन्होंने नए भाव, अर्थ एवं मूल्य से समन्वित कर दिया । रस-सिद्धांत का आधुनिक संदर्भ में अवलोकन इसका प्रमाण है । भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के जो-जो अंश साहित्य की सांस्कृतिक चेतनाएवं तद्वारा जीवन-मूल्यों को पुष्ट करने में सहायक रहे उन सबको आत्मसात् करने का प्रयास उन्होने किया । भारतीय सांस्कृतिक विरासत से लाभान्वित होने की प्रेरणा देने के साथ ही जर्जरित निरर्थक रूढियों से दूर रहने की आवश्यकता पर भी बल दिया । आधुनिकता के नाम पर परंपरागत मूल्यों की अवहेलना की प्रवृत्ति उन्हें मान्य नहीं थी । उस पर आक्रोश प्रकट करते हुए बिलकुल व्यंग्यात्मक शैली में वे बताते हैं - "संयोग से इन दिनों पश्चिम में पंडिताई अधिक सुलभ हो गई है, किंतु परिग्रह की व्याधि बढ़ जाने के कारण वहाँ की वास्तविक बुद्धि विभूति के छूट जाने का भी भय कम नहीं है । प्रत्येक आगंतुक प्रश्न को नवीन समस्या कहने और प्रत्येक विचार को नव्य दिव्य संदेश के नाम से घोषित करने की जो प्रथा चल गई है, उससे मनुष्य अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता का कपटाचरण करने लगा है ।"[1] हिन्दी साहित्य की समृद्धि एवं प्रगति के लिए संस्कृत का व्यापक ज्ञान वे इसीलिए आवश्यक समझते हैं कि संस्कृत साहित्य की उपलब्धियों पर भारतीय सांस्कृतिक चेतना की गहरी छाप पड़ी है । संपूर्ण साहित्य को वे भारतीय आत्मा, भारतीय दृष्टि की सुदृढ नींव पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं । उनके विचार में "भारत की दार्शनिक संस्कृति ने ज्ञान के प्रकाश केलिए चारों ओर से कपाट खोल रखे हैं ..... हमारी दार्शनिक संस्कृति अधिक से

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.37

अधिक व्यापक सहिष्णु और सहानुभूतिशालिनी है, उस ज्ञानवती में अज्ञान का अंकुश नहीं। वह तो अमर काल के सिंहासन पर चरण रखकर उन्नत ललाट दिग्वसना खड़ी है। सब देश काल उसके हस्तामलक हैं। इस विराट् चित्रपट पर ज्ञानियों की ज्ञानमुद्राएँ अनन्त जीवन के रहस्य-संकेत हैं, इसलिए अपर व्यक्तियों ने उस पर अपना गाथाचित्र अंकित करने का साहस नहीं किया।[1]" संस्कृति के जिस व्यापक स्वरूप पर यहाँ प्रकाश डाला गया है, वह बड़ी मात्रा में वाजपेयी जी के व्यक्तित्व एवं समीक्षा-दृष्टि में व्याप्त है। सहिष्णुता, सहानुभूति व्यापकता आदि गुण समीक्षक के लिए उन्होंने अत्यंत आवश्यक समझे और अपनी समीक्षा में इन गुणों को समाविष्ट करने की भरसक चेष्टा भी की। संस्कृति के सच्चे तत्वदर्शन से वे अनुप्राणित रहे। यहाँ के साहित्य पर गतिशील, विकासोन्मुख भारतीय जीवनचर्या का जो प्रभाव पड़ा है उससे वाजपेयी जी भी कम प्रभावित नहीं है।

"साहित्य का मर्म" नामक लेख में भी परंपरा के प्रति यह श्रद्धाभावना दर्शनीय है। पश्चिमी एवं भारतीय मान्यताओं के विवेचनके पश्चात् अंत में वे यही निष्कर्ष निकालते हैं कि "भारतीय तत्वज्ञान ही अधिक पुष्ट जान पड़ता है। हम लोगों को संस्कृत की यही परंपरा मिली है यदि हिन्दी को संस्कृत की परंपरा न मिली होती, तो आज हिन्दी को इतना ऊँचा स्थान कदापि नहीं मिलता। यदि हिन्दी और मलयालम का एक-दूसरे से योग हो, और एक नये साहित्य का निर्माण हो, तो उससे राष्ट्रीय चेतना के विकास में भी अधिक योगदान मिलेगा[2]।" इसी प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में स्वतंत्रता के इच्छुक जनता की विचारधारा में जो क्रांतिकारी परिवर्तन लक्षित हो रहे थे उसको चर्चा के प्रसंग में भारत के प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करने की आवश्यकता समझाते हुए वे बताते हैं -

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.145
2. हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग, पृ.102

"हम प्राचीन को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकते । प्राचीन विचार, साहित्य और सिद्धांत नवीन की आधारशिला है[1]।" समाज को अंधविश्वासी और चेतनाहीन बना देनेवाली घातक रूढियों का उन्मूलन भी वे बहुत आवश्यक समझते थे । निराला के काव्य में वेदान्त की सहायता से संपूर्ण विश्व को एक ही सत्ता मानने की जो व्यापक भावना है, प्रसाद-काव्य-खासकर कामायनी में भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्व समन्वयात्मकता की जो प्रबलतम भावना है उन सबका वे पूरा समर्थन करते हैं । भारतीय जीवन-दर्शन से अनुप्राणित साहित्यिक उपलब्धियों पर वे गौरव का अनुभव करते हैं । अन्यत्र भी वे स्पष्ट करते हैं - "जहाँ तक मेरा संबंध है मैं साहित्यिक शैलियों की विविधता का स्वागत करता हूँ क्योंकि उससे साहित्य में समृद्धि आती है । इसी प्रकार जीवन-साँचों का अंतर भी मुझे बड़ी कठिनाई में नहीं डालता, यद्यपि मैं अपने आध्यात्मिक साँचे का पक्षपाती हूँ । एक तो आध्यात्मिक साँचा विशुद्ध भारतीय वस्तु है और परंपरा से गृहीत है, दूसरे इस साँचे के अंतर्गत मानव व्यक्तित्व का महत्व और मनुष्य जीवन की नैतिकता एक स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित है जो मुझे प्रिय है और अपेक्षित भी जान पड़ती है[2]।" उनके विचार में पश्चिम की नयी साहित्यिक कृतियाँ और प्रगतियाँ भारतीय साहित्य के लिए नमूने का काम नहीं दे सकतीं । पश्चिम के अस्ताचलगामी सूर्य से प्रकाश लाने की साधना भारतीय संदर्भ में कभी वे हितकर नहीं समझते । वे घोषित करते हैं - "न तो वादों के क्षेत्र से, न साहित्यिक रचना या समीक्षा की भूमियों से ही हमें पश्चिमी कलम अपने देश में लगानी है । ..... रचना और समीक्षा की भूमियाँ स्वतंत्र ही रहनी चाहिए । ..... समीक्षा के क्षेत्र में यद्यपि पश्चिम से हमें बहुत कुछ सीखना है, पर अपना बहुत कुछ खोकर नहीं । हमें क्रमशः आगे बढ़ना है, अतीत की

---

1. हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग, पृ.48
2. नया साहित्य : नए प्रश्न, निकष, पृ.20

सामग्री का उपयोग करते हुए, साथ ही नए प्रकाश को अपनाते हुए।[1]" पश्चिम की नयी रचनाओं में जो नयी बारीकियाँ हैं, शैली का जो अनोखापन और सौंदर्य है उसको वे ज़रूर उपादेय मानते हैं, किंतु उसमें व्याप्त उच्छृंखलता उन्हें खटकती है। भारतीय दृष्टिकोण का, आवश्यक संशोधन के साथ क्रमिक विकास ही उनकी दृष्टि में वांछनीय है।

विचारात्मक शैली

भाव या विचार रचना की आत्मा है। जब विचार मौलिक, मार्मिक, सघन एवं साधार हो तब शैली सजीव ओजस्वी और प्रभावपूर्ण हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना-शक्ति, मनन-शक्ति, स्मृति-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, विवेक-शक्ति आदि व्यक्ति के बौद्धिक पहलू के प्रमुख अंग हैं। बुद्धि और हृदय अथवा तार्किकता एवं बौद्धिकता का विचित्र संगम, विचारों की शृंखला और तारतम्य, सुगुम्फित एवं सुगठित वाक्य-रचना आदि द्वारा जब मन पूँजीभूत विचारों का उद्घाटन करता है तब विचारात्मक शैली अधिक आकर्षक हो उठती है। बौद्धिक अथवा तार्किक विश्लेषण इसमें प्रमुख रहता है। प्रखर प्रतिभा एवं मौलिक चिंतन के धनी व्यक्तित्व ही विचारात्मक शैली का उपयोग सफलतापूर्वक कर सकता है। गहन अध्ययन, परिष्कृत विचार, पैनी दृष्टि से प्राप्त ज्ञान की प्रचण्ड गरिमा गंभीर विचारों का सप्रमाण व्याख्या, विश्लेषण और मूल्यांकन में समर्थ होती है। अत: ज्ञान की व्यापकता, चिंतन की गहराई, विचारों की प्रौढ़ता, नवीन उद्भावनाएँ, नयी दृष्टि और नया निष्कर्ष विचारात्मक शैली के प्राण हैं।

---

1. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ.54

निबंधों का निजत्व विचारों से स्फुरित होता है ।

वाजपेयी जी विचारात्मक शैली के अच्छे निबन्धकार हैं । भावना और कल्पना का योग, बौद्धिक खंडन, युक्तियुक्त तर्क, विश्लेषण प्रमाण एव तथ्यों को लेकर प्रतिपक्षियों के तर्कों का समाधान देने की प्रवृत्ति आदि उनकी शैली में दिखाई देती है । चिंतन शक्ति, वैचारिक गहराई, नया दृष्टिकोण, नवीन विषय आदि द्वारा नयी उपपत्तियों की स्थापना से उसमें सजीवता आयी है । पाठकों में नयी उत्तेजना, नयी स्फूर्ति एवं नयी उमंग का संचार करने में वह पूर्णत: समर्थ हुई है । वाजपेयी जी ने साहित्य, जीवन, राजनीति, मनोविज्ञान आदि विषयों पर गंभीर विवेचन प्रस्तुत किए हैं । भाषा-लालित्य, वैचारिक स्पष्टता, सुबोधता, वाक्य रचना की संक्षिप्तता आदि के कारण उनकी उक्तियों की प्रभावोत्पादन शक्ति अतिशयकारी है । उनकी सामसिक पदावलियों में विचार-गुंफन की पूर्ण क्षमता है । वे लिखते हैं कम; किंतु उनके उस संक्षिप्त कथन में ही सब कुछ समाहित हो जाती है अधिकतर उनकी शैली आत्मपरक है । विषय के प्रति अडिग आस्था और दृढ धारणा रखनेवाले व्यक्ति ही निर्भीकता एवं विश्वास के साथ इस शैली का सफल प्रयोग कर सकते हैं । नूतन विचार प्रस्तुत करते हुए निबन्ध के आद्यंत एक ही प्रभाव बना रहता है । विचारों की गंभीरता के कारण उनके निबंधों में भी गंभीर वातावरण रहता है । उनकी विचारात्मक शैली रूक्षता, शिथिलता, कर्कशता आदि से मुक्त है । अस्वाभाविक रूप से विचारों को थोप देने की प्रवृत्ति भी उसमें नहीं । बौद्धिकता के प्रति अधिक मोह न रखकर विषय का बिलकुल साधारण ढंग से विवरण करते हुए वे अग्रसर होते हैं । उनके विवेचन में संतुलन, व्यवस्था एवं प्रौढ़ता है । किसी विषय की विशिष्टताओं की ओर संकेत करने पर पहली, दूसरी, तीसरी नम्बर लगाते हुए उसके गुणों को वे पाठकों के सम्मुख रख देते हैं । सात्विकता एवं स्वच्छता उनकी प्रगतिशील दृष्टि के प्राण हैं । स्वच्छन्दता एवं परंपरावादी

दृष्टि का सम्यक् योग उनके विचारों में हुआ है । उदाहरण के लिए "जहाँ कोई सौंदर्य नहीं, वहाँ अंत: सौंदर्य देखा जाता है । जहाँ सौंदर्य है, उसकी अवहेलना की जाती है । जो गीत-काव्य केवल काव्य संबंधी बाह्य-वर्गीकरण की वस्तु है, उसे जीवन के अंत: सौंदर्य का प्रतिनिधि समझा जाता है यह सबका सब भीषण भ्रम है । कविता की प्रकृति समीक्षा में न कहीं गीत-काव्य है, न कहीं अगीत काव्य । न कहीं अंत:सौंदर्य है, न कहीं बाह्य-सौंदर्य । सब प्रकार के काव्य में सब प्रकार का सौन्दर्य समाहित किया जाने योग्य है । हमें देखना यही चाहिए कि कहाँ पर क्या है ।" हिन्दी काव्य-जगत् में व्याप्त हानिकारिणी विचार परंपरा की ओर निर्देश करना ही इस कथन में लेखक का उद्देश्य है[1]।

प्रश्न और प्रश्नोत्तर की शैली

बीच-बीच में नवीन वैचारिक क्रांति की सृष्टि करनेवाले कई प्रश्न उठाने की प्रवृत्ति भी वाजपेयी जी की विचारात्मक शैली में दीखती है । प्रश्नों को बार-बार प्रस्तुत करके पाठकों में जिज्ञासा-वृत्ति जगाने की उनकी क्षमता विशेष सराहनीय है । लेखक स्वयं प्रश्न उठाते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं तथा अंत में उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकालते हैं उससे पाठक सहज ही सहमत हो जाते हैं । युक्तियुक्त तर्कों द्वारा पाठकों को अभिभूत कर उन्हें अपनी ओर मिला लेने की कुशलता उनकी शैली में निहित है । प्रश्न और प्रश्नोत्तर की शैली के भी अनेक उदाहरण उनके निबन्धों में प्राप्त हैं । "भूमिका", "विज्ञप्ति", "निकष" तो इससे भरपूर रहे हैं । वर्ग-निरपेक्षा साहित्य की उपादेयता पर बल देते हुए वे कहते हैं -

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.154

"यदि थोडी देर के लिए यह मान भी ले कि भारतीय समाज में कोई मध्यवर्ग भी है, तो प्रश्न यह होता है कि क्या यह मध्यवर्ग अपना स्वतंत्र अस्तित्व और अपनी स्वतंत्र चेतना रखता है ? यदि नहीं तो इस मध्यवर्ग की सामाजिक उपयोगिता के समाप्त होने का अर्थ क्या है ? ..... फिर प्रश्न यह भी है कि हिन्दी के लेखक किसी विशेष वर्ग के ही लेखक हैं, इसका प्रमाण क्या है ? जिस राष्ट्रीय जागृति का दीपक लेकर हिन्दी साहित्य-युग के आरंभ से आज तक चलता आया, क्या वह दीपक किसी वर्ग-विशेष के हाथ में था या वह पूरी राष्ट्रीय चेतना का ही दीपक था ? जिस दीपक को हमारे राष्ट्रीय साहित्यिकों ने अपने रक्त और पसीने से संजोया, क्या वह आज किसी वर्ग की संपत्ति समझा जाता है ? हमारी समझ में वह दिन हिन्दी-साहित्य के लिए अत्यंत दुर्भाग्य का होगा, जब हम अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को वर्गों की आड़ में छिपाना चाहेंगे । हिन्दी साहित्य सदैव जन-समाज का साहित्य बनकर ही अपनी समृद्धि करता आया है, और अपने इन्हीं गुणों के कारण हिन्दी भाषा राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व करती आयी है ।"[1]

इस प्रकार के प्रसंगों में उनकी शैली में ओज-शक्ति एवं दृढ़ता के गुण परिलक्षित होते हैं । विरोधी भावनाओं का खंडन करने में उनकी तर्कबुद्धि अधिक सजग हो उठती है । उसी प्रकार मार्क्स की सामाजिक और साहित्यिक प्रतिपत्तियों को स्वस्थ साहित्य के लिए अनुपादेय ठहराते हुए वे लिखते हैं - "प्रश्न यह है कि आर्थिक उत्पादन की व्यवस्था को ही सामाजिक विकास की केंद्रीय वस्तु क्यों मान लिया जाय ? क्या महान लेखक, कवि और कलाकार अपनी कृतियों द्वारा शताब्दियों तक मानव-समूह की जीवन-व्यवस्था का नियमन नहीं करते, या नहीं कर सकते ? क्या साहित्य समाज को और

---

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ.49-50

उसकी अर्थनीति और उत्पादन-व्यवस्था को बदलने में समर्थ नहीं है ? फिर उसे अनुवर्ती का स्थान क्यों दिया जाय ? जो बात साहित्य के संबंध में कही गई है, वही धर्म, दर्शन, विज्ञान और दूसरे सामाजिक उपादानों के संबंध में भी कही जा सकती है । ऐसी स्थिति में मार्क्सवाद की मूलवर्ती प्रतिज्ञा ही लडखडाने लगती है । ..... मार्क्सवादी विकास-क्रम में मानवीय मूल्यों की सही-सही प्रतिष्ठा असंभवप्राय हो गयी है[1] ।"

तुलनात्मक पद्धति

वाजपेयी जी की विचारात्मक शैली तुलनात्मक पद्धति से भी समृद्ध है । अपने विषय की महत्ता और उसकी सीमाओं का उद्घाटन कर उसकी विशद व्याख्या के लिए स्थान-स्थान पर उन्होंने तुलना का सहारा ग्रहण किया है । "साकेत" की आधुनिकता की विवेचना के प्रसंग में "कामायनी", "कुरुक्षेत्र" और "रामचरित मानस" से उसकी तुलना की गयी है । गुप्तजी और प्रसाद जी की काव्य-दृष्टि का अंतर स्पष्ट करने के लिए उन्होंने समान भावों एवं विषयों पर रचित दोनों की कविताओं की तुलना की है । वे देखते हैं कि प्रसाद जी के काव्य में एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानस वृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नयी चिंतना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है[2] ।" तथा युगानुरूपता की दृष्टि से कुछ कमियों के होने पर भी "गुप्त जी की एकांतिक आदर्शवादिता और सीधी-सादी भावव्यंजना से कई कदम आगे अवश्य है[3] ।"

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, निकष, पृ.8-9
2. जयशंकर प्रसाद, पृ.11-12
3. वही

प्रसाद-काव्य में जो व्यापक मानवता-भाव है उसको स्पष्ट करने के लिए भी मानवता के निरूपक माने जानेवाले गुप्तजी से उनकी तुलना की गई.है । गुप्तकाव्य को वे अमानवीय नहीं कहते लेकिन वह वाजपेयी जी की दृष्टि में आश्रमवासिनी मानवता है । आश्रमवासी की सारी पवित्रता और संपूर्ण सरलता वे उनमें देखते हैं । दीन-दुखियों का कष्ट-प्रदर्शन ही काव्य के लिए वे अपेक्षित नहीं समझते । इसलिए वे मानते हैं कि "गुप्तजी का काव्य आधुनिक जीवन-व्यापी संघर्ष से अनाकृत और अपरिचित है । उनकी दृष्टि में "गुप्त जी की मानवता और उनकी समस्त भावना और संस्कारों से भिन्न प्रसाद जी की मानव-कल्पना है । प्रसाद जी दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टियों से मानव को जीवन-संघर्ष के लिए उद्यत कर देते हैं । वे कहीं कृत्रिम संतोष का पाठ नहीं पढाते । ..... प्रसाद जी का मानव, धर्म की रूढ़ियों से छूटकर, आत्मा की अमरता की सीख लेता है और खुली आंखों सांसारिक स्थिति को देखता है । व्यक्तिगत सुख-दु:ख से ऊपर उठानेवाली आध्यात्मिकता और रहस्यभावना का प्रयोग, जीवन से पराङ्मुख करने का साधन क्यों माना जाय ? गीता में यही निरूपण अर्जुन को महाभारत के संघर्ष के लिए तैयार कर सका था ।[1]" आगे भी प्रसादजी की दृष्टि को युग के अधिक अनुरूप घोषित करते हुए वे बताते हैं - "जीवन के गहरे और बहुमुखी घात-प्रतिघातों और विस्तृत जीवन-दशाओं में पद-पद पर आनेवाले उद्वेलनों को चित्रित करना, उन्हें संभालना और अपनी कला में उन सबको सजीव करना गुप्त जी और प्रेमचन्द जी की साहित्य-सीमा के बाहर है । प्रसाद जी की अनुभूति तथा सूझ अधिक गहरी और उनकी कलात्मक प्रतिभा अधिक ऊँची अवश्य है, यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने युग-जीवन के उद्घाटन में संपूर्ण सफलता प्राप्त की है[2]।" "प्रयोगवादी रचनाएं" नामक निबन्ध में इस प्रकार की तुलना करते हुए द्विवेदी युगीन, छायावादयुगीन एवं प्रयोगवादी रचनाओं को उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.163

इस प्रकार विभिन्न युगों की काव्य-सृष्टियों की भाँति विभिन्न काव्यरूपों के स्पष्टीकरण के लिए भी वाजपेयी जी ने तुलनात्मक पद्धति अपनायी है । मुक्त-काव्य और महाकाव्य का अंतर स्पष्ट करते हुए वे बताते हैं - "महाकाव्य की भूमिका प्राय: उदात्त और स्वर गंभीर हुआ करताहै जब कि गीतों में माधुर्य की प्रधानता होती है । वर्णनात्मक काव्य में बाह्य-जगत् और जीवन व्यापारों का सौंदर्य दर्शनीय होता है और मुक्त-काव्य में मानसिक स्वरूपों, सूक्ष्म और रहस्यमय मनोगतियों की सुषमा अधिक देखने को मिलती है । दोनों में उच्च कोटि का काव्य, जीवन-सौंदर्य की अभिव्यक्ति हमें मिल सकती है ।"

अपने विचारों की पुष्टि के लिए, युक्तियुक्त प्रमाण उपस्थित करने केलिए, वाजपेयी जी ने इस प्रकार की तुलनाएँ कई स्थानों पर की हैं जो उनकी समीक्षा-शैली को अधिक प्रौढ रूप प्रदान करती हैं ।

भावात्मक शैली

भावनाओं का महत्व इस दृष्टि से अधिक है कि कथ्य और कथन-शैली दोनों से उनका निकट संबंध है । भाव, विषय और शैली दोनों के निर्माण की आधारभूत सामग्री संचित करता है । भावों की उदात्तता, व्यापकता और गंभीरता शैली को भी उत्कृष्ट बनाती है । भावों का आवेग और प्रवाह, अनुभूति की गहराई, भाषा की ऋजुता, सरसता एवं रोचकता, प्रसादमयता, नाटकीयता कलात्मकता, गतिशीलता आदि भावात्मक शैली की विशेषताएं हैं । वैयक्तिक निबंधों की शैली अधिकतर भावात्मक होती है ।

वाजपेयी जी ने यद्यपि विचारात्मक शैली मुख्य रूप से ग्रहण की है तो भी भावात्मक शैली का आभास कहीं-कहीं मिलता है । जयशंकर प्रसाद, सूरदास आदि के विवेचन में यत्र तत्र इस के दर्शन होते हैं ।

वर्णनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली में विषय को लेखक इस प्रकार प्रस्तुत कर करते हैं कि विवेच्य विषय, घटना, दृश्य या व्यक्ति पाठक को प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है । सुन्दर कल्पना, ललित भाषा, भावात्मकता तथा सरसता इसके लिए अपेक्षित है । वर्णन की सूक्ष्मता, कलात्मक रमणीयता, कल्पना की उडान एवं संयत् विचार के साथ लेखक के रागात्मक हृदय का भी योग हो जाने पर वर्णनात्मक शैली में जड पदार्थ को भी सजीव एवं स्पन्दनशील बनाने की अद्भुत शक्ति आ जाती है ।

वर्णनात्मक शैली के कई उदाहरण वाजपेयी जी ने प्रस्तुत किए हैं । साधारण बात को भी सरल एवं चलती भाषा में आकर्षक ढंग से वे कह देते हैं । "केरल की शारदीय परिक्रमा" इसका निदर्शन है । केरल के एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करते हुए जो-जो सुखद अनुभव उन्हें हुए हैं उनका सुंदर वर्णन इस सुदीर्घ लेख में मिलता है । केरल यात्रा के पश्चात् दक्षिण के मंदिरों के दर्शन भी उन्होंने किए थे । मदुरा की मीनाक्षी मंदिर का ऐसा वर्णन किया गया है कि पूरा मंदिर पाठक के सामने साकार हो उठता है - "प्रत्येक स्तंभ पर एक-एक मूर्ति लगी हुई थी । देवताओं की, अप्सराओं की, पौराणिक कथा-पात्रों की मूर्तियाँ सब में एक विशालता थी । सबकी मुद्राएँ सौम्य थीं । ..... मुख्य मंदिर-मीनाक्षी-पार्वती जी का है । काले पत्थर पर बडी ही भव्य मूर्ति निर्मित की गयी है । ..... मैं ने देखा कि मूर्ति में

आलोकित आँखें खूब सुडौल, न अधिक खुली न अधिक मुँदी, सौम्य और साथ ही दीर्घाकार भी थीं। मुझे इस मूर्ति पर भी आर्य-आकृति की छाप दिखाई दी[1] कन्याकुमारी के सूर्यास्त का दृश्य भी बिलकुल चित्रमयी शैली में व्यक्त किया गया है[2]।"

विवरणात्मक शैली

इस शैली में इतिवृत्तात्मक कथन की प्रमुखता रहती है। घटनाओं का यथातथ्य वर्णन होता है। भाषा सुबोध, सरल एवं सुस्पष्ट होती है। व्यंजना का व्यापक प्रयोग होता है। चित्रांकन कुशलता के कारण इस शैली में भी वर्णनात्मक शैली के समान ही विवेच्य विषय का आँखों देखा-सा अनुभव होता है। इस शैली के सिद्धहस्त लेखक कल्पना और अनुभूति द्वारा इतिवृत्तात्मक ढंग से नीरस और शुष्क विषय को भी सरस, सरल, सजीव एवं सप्राण बना देता है।

"राष्ट्रभाषा की समस्याएं" बाजपेयी जी की विवरणात्मक शैली का सुष्ठु रूप उपस्थित करता है। ऐतिहासिक चित्रण एवं यात्रा-वर्णन पर लिखने के लिए उन्होंने इस शैली का उपयोग किया है। इस विवरण में उनकी विनोदप्रियता, व्यंग्यात्मकता, निरीक्षण-कुशलता, वर्णन-कुशलता, सूक्ष्म दृष्टि, आचार-विचार, रीति-नीति आदि का परिचय मिलता है। उनके विवरणों में क्रम, व्यवस्था तथा मार्मिकता है। विषय, भाव और परिस्थिति के अनुरूप छोटे और बडे दोनों प्रकार के वाक्यों का उन्होंने

1. हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग, पृ.135-136
2. वही, पृ.112

प्रयोग किया है । स्थूल और सूक्ष्म वर्णन, कल्पना का पुट, सरस प्रवाहपूर्ण, अलंकृत भाषा, विनोद, हास्य-व्यंग्य आदि का समावेश उनकी विवरणात्मक शैली में हो पाया है । केरल यात्रा से संबद्ध निबंधों में उनकी उन्मुक्त कल्पनाएं, बिंबग्रहण-कुशलता तथा शब्दों को आकार देने की क्षमता ध्यान देने योग्य है । जैसे - रात-भर कुछ भी नया देखने को नहीं मिला, पर प्रातःकाल होते ही नये-नये दृश्य दस बारह हज़ार फुट की ऊँचाई से उडनेवाले वायुयान से दिखाई देने लगे । ..... रास्ते में पड़नेवाली कृष्णा और कावेरी जैसी चौडे पाटवाली नदियाँ ऐसी जान पड़ती मानों मुश्किल से पचास फुट चौड़ी कोई नहर हो । उनके तट के बडे-बडे वृक्ष ऐसे लगते थे, जैसे किसी बगीचे के दो फुट ऊँचे पौधे हो, और ये सारे दृश्य वास्तविक नहीं, चित्र में अंकित से जान पड़ते थे । दक्षिण की सारी भूमि ऐसी लगती थी जैसे किसी चित्रकार का कागज़ पर बनाया कोई रेखाचित्र हो ।[1]"

कथा के रूप-प्रवाह में प्रौढ़-गंभीर विचारों को प्रस्तुत करने की रीति भी उन्होंने अपनायी है । रोचकता और लय की सृष्टि करने में उनकी यह आख्यान शैली समर्थ हुई है जिसका उपयोग साहित्य एवं राष्ट्रभाषा से संबद्ध भाषणों में किया गया है । विषय-प्रतिपादन को सरल बनाने, श्रोताओं पर प्रभाव डालने तथा उनके मनोरंजन करने के उद्देश्य से ऐसे प्रसंगों में यह शैली प्रयुक्त हुई है । हिन्दी पर लगाए गए आरोप, उसकी प्रगति में अवरोध खडा करनेवाले तत्व आदि के स्पष्टीकरण केलिए द्रौपदी परिणय पार्वती-परिणय आदि पौराणिक कथाओं का प्रतिपादन इसका उदाहरण है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग, पृ.107-108

कई स्थानों पर समीक्षात्मक लेखों में भी वाजपेयी जी की शैली में वर्णन और विवरण की प्रवृत्ति अपनायी गयी है । जैसे : उनकी शिक्षा सीमित थी, किंतु उनके संस्कार विकासोन्मुख थे । उनके पास ज्ञान की कोई बहुमूल्य धरोहर न थी, अर्थ की कोई अर्जित-अनर्जित राशि न थी, इसलिए वे अध्ययनशील, अध्यवसायी और कर्मठ थे । उनके पास महान् प्रतिभा या पांडित्य की विरासत न थी, इसलिए वे स्वानुभवी, बुद्धि-व्यवसायी और आत्मनिर्भर थे । नयी साधना और नये निर्माण में उनकी रुचि थी । ..... पर अपनी संतति को पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाना चाहते थे[1] ।"

हास्य-व्यंग्यात्मक शैली

स्वयं वाजपेयी जी के विचार में "हास्य-विनोद के विषय, ढूँढना और आदि से अंत तक उन्हीं पर कलम चलाना कष्ट साध्य काम है । ..... हास्य-विनोद की विशिष्ट कृतियाँ प्रस्तुत करना हीरे और मोतियों के क्रय-विक्रय का कार्य कहा जाएगा[2] ।" हास्य-व्यंग्यात्मक शैली में भाव और विचार का प्रभाव अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ रचना पर पड़ जाता है । पढ़ने और सुनने में यह सरस एवं तमाशापूर्ण लगता है किंतु उन व्यंग्यों द्वारा जो गंभीर विचार प्रस्तुत किए जाते हैं उनका स्थायी महत्व रहता है । हंसी-मज़ाक द्वारा किसी वस्तु, विषय या कार्य के दोषपूर्ण पहलुओं पर गहरा आघात कर, सही रास्ता दिखा देने की कुशलता इस शैली की विशेषता है । हिन्दी के समर्थ व्यंग्य-लेखक डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी के शब्दों में "हास्य रस के लेखकों का अपना गुण-विशेष होता है । कुशल हास्य लेखक इस ढंग से अपना व्यंग्य-बाण चलाता है कि जिसे वह बाण लग जाये, वह भी मुस्कुरा उठे और चुभे हुए बाण को निकालकर चूम ले और कह उठे, "वाह"[3] ।"

---

1. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ॰11
2. प्रकीर्णिका, पृ॰152
3. हिन्दी साहित्य में हास्य रस, पृ॰176

व्यंग्यात्मकता वाजपेयी जी की प्रमुख प्रवृत्ति तो नहीं, किंतु आवश्यकता पड़ने पर पूरी प्रखरता एवं प्रभविष्णुता के साथ उन्होंने व्यंग्य का प्रयोग किया है । प्रतिपक्षियों के तर्कों का निराकरण करने और अपने निष्कर्ष की सार्थकता प्रमाणित करने केलिए यत्र-तत्र उन्होंने हल्के और तीखे व्यंग्यों का सहारा लिया । अराष्ट्रीय, असामाजिक और असांस्कृतिक आधार ग्रहण कर साहित्य के विशुद्ध स्वरूप को लांछित करने की प्रवृत्ति जहाँ भी दिखाई दी वहीं उनका व्यंग्य सजग हो उठता है । छायावाद पर धावा बोलनेवाले आलोचकों को वे नादिरशाह के समकक्ष रखते हैं । पंत जी पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा - "आगे चलकर पंत जी ने एक दूसरा मोड लिया और मार्क्स-दर्शन से अरविंद-दर्शन की ओर आये, तब सहसा हमारे प्रवीण साहित्यिक मित्र रामविलास शर्मा ने यह पहचाना कि पंतजी अपने "पल्लव" वाले काव्य स्तर से कितनी दूर चले गए हैं । "हंस" में प्रकाशित उनकी "उत्तरा" की आलोचना उनकी असंदिग्ध साहित्य-मर्मज्ञता का प्रमाण है । ऐसी मार्मिक समीक्षाएँ आज के ज़माने में कम ही देखने को मिलती हैं, पर पता नहीं रामविलास जी ने "युगवाणी" और "ग्राम्या" आदि पर इसी प्रकार की कृपा-दृष्टि क्यों नहीं की ?"[1]

छायावाद को जिस प्रकार विभिन्न विद्वानों की कठोर आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा उसी प्रकार प्रगतिवाद और प्रयोगवाद पर वाजपेयी जी का निर्मम आक्रमण हुआ । प्रगतिवाद के असाहित्यिक पहलुओं पर वे क्षुब्ध तो थे ही प्रयोगवाद को भी नहीं छोडा । प्रयोग के लिए प्रयोग करने में वे कोई समाजहित अथवा साहित्यिक संस्कार नहीं देखते । उनसे यह कहे बिना नहीं रह जाता कि "ये प्रयोगवादी कवि किसी मंज़िल पर पहुंचे हुए नहीं हैं, राही या राह पर चलनेवाले शायरों और सपूतों की चर्चा सुनी थी, पर अब अज्ञेय जी से ऐसे कवियों का हाल भी सुनने को मिला,

---

1. आधुनिक साहित्य : भूमिका पृ.३२

जो न तो पहुंचे हुए हैं (अर्थात् जो राह पार कर चुके हैं) और न राही हैं अर्थात् जो राह-बेराह किसी ओर चलते ही नहीं। परंतु जो एकाग्र होकर राहों का अन्वेषण करते हैं : अर्थात् जो चलने के अर्थ में बिलकुल ठप हैं। केवल अन्वेषण के लिए इनके पास अन्वेषी की दृष्टि भी नहीं, केवल "दृष्टिकोण है। कदाचित् कहीं न चलने के कारण ही ये प्रगतिशील कहे जाते हैं और दृष्टि के बदले "दृष्टिकोण" रखने के कारण ही अन्वेषी या प्रयोगवादी कहलाते हैं।[1]"

मनोवैज्ञानिक चित्रण के नाम पर वासना की विवृत्ति चारित्रिक पतन एवं यौन असंगतियों का घृणित चित्रण करनेवाले जैनेन्द्र के उपन्यास भी वाजपेयी जी के व्यंग्यात्मक प्रहार से छूट नहीं पाए हैं। नारी-पात्रों को विकृत रूप में प्रस्तुत करने के असाहित्यिक दृष्टिकोण का परिहास करते हुए वे कहते हैं - "ऐसा प्रतीत होता है कि सुनीता को नग्न दिखाकर और उसी स्थान पर उपन्यास की समाप्ति का आयोजन कर जैनेन्द्र की हृदयस्थित कुंठा को उद्घाटित करते हैं। किसी भी बुद्धिवादी उपन्यास में ऐसी दशा-योजना असंगत समझी जाएगी।[2]" भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी आदि के संबंध में भी इस प्रकार की मार्मिक प्रहार करनेवाली उक्तियाँ पेश की गई हैं। प्रेमचंद और उनको उपन्यास-सम्राट की उपाधि देनेवाले प्रशंसकों पर उनका व्यंग्य है - "यह एक अच्छा खासा प्रहसन है कि लोग आपको उपाधि देकर खिसक गए हैं और दबकर आपका तमाशा देख रहे हैं।[3]" प्रसाद के "कंकाल" में अश्लीलता का आरोप करनेवाले कालिदास कपूर की आलोचना वे यों करते हैं - "श्री कालिदास कपूर को यह भ्रम हो गया

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ.70-71
2. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.187
3. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ.123

कि अश्लीलता फैलाना कंकाल का उद्देश्य है और उस भ्रम का कारण यही है कि वे हिन्दी उपन्यासों की उस छिछली धारा में ही तैरते रहे हैं जिसमें गहरे पैठने पर को पानी ही नहीं है।"[1]

वाजपेयी जी की व्यंग्यात्मक शैली का यही स्वरूप है। उन्होंने इस शैली में अधिकतर गंभीर विचारों का ही उद्घाटन किया है। विशेषकर नए तथ्यों के प्रकाशन में इसका प्रयोग अधिक सजीव एवं ओजपूर्ण हो उठा है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त शैली के कई उपभेद भी होते हैं, जैसे प्रवाह शैली, विक्षेप शैली, समास शैली, प्रसाद शैली आदि।

प्रवाह शैली अधिकतर वाच्यार्थ प्रधान होती है। इस शैली में प्रवाहपूर्ण भाषा में लयात्मक विशिष्टता से युक्त होकर लेखक के वैचारिक संघर्ष, अस्तव्यस्तता, मानसिक उथल-पुथल आदि का उद्घाटन किया जाता है। अपूर्ण तथा खंडित वाक्यों से युक्त इस शैली का आवेगपूर्ण प्रवाह रचना को अधिक आकर्षण प्रदान करता है। इसकी भाषा लेखक के भावों को पूरी वास्तविकता के साथ अपनी रचना में उतारने में समर्थ होती है। भावाभिव्यंजन में आद्यंत विशिष्ट लय, तारतम्य या अनुपात प्रवाह शैली में रहता है।

असंबद्धता, भावुकता का आधिक्य, भाषा की अस्तव्यस्तता और बिखराव, तर्कहीनता, शब्दों की पुनरुक्ति, भावों और विचारों का अधूरापन, वाक्य रचना में सुगठितता का अभाव आदि विक्षेप शैली के लक्षण हैं। प्रवाह शैली एवं विक्षेप शैली दोनों भावात्मक शैली के ही अंग हैं।

---

1. जयशंकर प्रसाद, पृ.36

कुछ भावात्मक निबंधों में दोनों का योग रहता है तो कुछ में दोनों में से किसी एक का प्रभाव अधिक और दूसरे का गौण रहता है ।

कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समासशक्ति समासशैली की विशेषता है । थोडे वाक्यों में गंभीर, सारगर्भित भाव अंतर्निहित कर दिए जाते हैं । तत्सम शब्दों से भरे हुए सुदीर्घ तथा संयुक्त वाक्यों का प्रयोग समास शैली में यत्र-तत्र मिलता है । आधुनिक युग में इसका प्रयोग कम होता आ रहा है । संक्षिप्तता ही आज अपेक्षित है ।

प्रसाद शैली में अर्थ-व्याप्ति और भावमयता दिखाई देती है । भाषा मधुर, सरल एवं सहज बोधगम्य होती है । सीधी-सादी भाषा में सरस एवं सार्थक वाक्यों द्वारा सरल भावों की सुखद व्यंजना होती है । सरलता इसके अंग में इस तरह व्याप्त है कि साधारण से साधारण पाठक भी सहजता से, तन्मयता से इसका आस्वाद कर सकते हैं ।

वाजपेयी जी ने अपने विचारों की प्रतिष्ठा एवं तर्कों की पुष्टि के लिए प्रसंगानुसार शैली के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया है । हृदय की निर्मलता एवं स्वच्छता से संबद्ध प्रसाद गुण, कोमलता का प्रतीक माधुर्य गुण, भावों का उत्तेजक ओज गुण तीनों का समादेश उनकी शैली में हुआ है । प्रसाद गुण का प्रभाव ही अधिक प्रबल है ।

वाजपेयी जी की भाषा-शैली

भाषा के सहज स्वाभाविक प्रयोग को वाजपेयी जी महत्व देते हैं । उनका विचार है कि अपनी वक्रगति से संस्कृतियों एवं राष्ट्रीय समूहों का विघटन तक कर डालने की शक्ति भाषाओं में है । सूक्ष्म भावों को भी

वाक्य-योजना

वस्तुत: शैली का सम्बन्ध वाक्य से है । किंतु शैली की परिभाषाओं में अधिकतर शब्द को महत्व दिया गया है । इसका यही कारण है कि वाक्य को कलात्मकता प्रदान करनेवाला तत्व शब्द है । सार्थक शब्दों की सुगठित, सुसंबद्ध, सुव्यवस्थित योजना ही सुंदर वाक्य को रूपायित करती है । समर्थ साहित्यकार सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ-संकेतों की पहचान करनेवाले शब्दों को चुन-चुनकर नये रूपों में नये ढंग से उनका यथायोग्य प्रयोग करता है । कृति की सफलता बहुत कुछ शब्द-चयन की शक्ति पर निर्भर रहती है । शब्द और वाक्य का संबंध इतना अकाट्य है कि एक ओर शब्द वाक्यों को जन्म देता है और दूसरी ओर वाक्य द्वारा ही शब्द का पूरा महत्व आंका जा सकता है ।

ललित एवं धारावाहिक भाषा में सरल एवं संक्षिप्त वाक्यों में वाजपेयी जी ने अपने विचारों को प्रस्तुत किया है । विषय और प्रसंग के अनुरूप सरल, मिश्र, संयुक्त तीनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग उन्होंने किया है । सरलता जो उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है, शब्द-चयन, वाक्य-रचना, विषय-प्रतिपादन सभी में व्याप्त है । अत: उनकी रचनाओं में सरल वाक्यों का सार्थक प्रयोग स्वाभाविक ही है । सूत्रवाक्यों का प्रयोग भी कहीं-कहीं हुआ है जिससे उनकी उद्‌भावनात्मक प्रतिभा का परिचय मिलता है । जैसे -

> जोती हुई भूमि को जोतना आवश्यक नहीं होता[1] अथवा सौंदर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है[2] ।"

गंभीर विवेचन में ही कहीं कभी वाक्य लघु और कभी अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ हुए हैं ।

सूक्तियों के रूप में व्यंग्य का प्रयोग करने में वे सिद्धहस्त हैं । जैसे -

कविता-नारी छन्द के परदे को छोड़कर पहली बार समाज के सम्मुख

निरावरण उपस्थित हुई।[1]"

गंभीर विवेचन में ही कभी वाक्य लघु और कभी अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ हुए हैं। दीर्घ वाक्यों में भी गति प्रवाह एवं स्वाभाविकता आद्यंत रही है। वाक्य को अधिक सशक्त, अर्थपूर्ण और आकर्षक बनाने के लिए साभिप्राय विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है।

वाजपेयी जी की शैली में मुहावरों का प्रयोग भी कहीं-कहीं हुआ है जो पूरे भाव को चारुता प्रदान करता है। जैसे - लोग बाल की खाल अधिक निकालते थे।[1]"

अलंकारों की स्वाभाविक योजना के उदाहरण भी उनकी शैली में बहुत अधिक मिलती है। सरल, सार्थक, सुन्दर एवं भव्य अलंकारों के प्रयोग ने शैली में प्रांजलता, प्रवाहमयता एवं सौंदर्य भर दिए हैं। जैसे - "जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य में उस की प्राणदायिनी बूँदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनंत आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते हैं।[2]"

शब्द-संचयन में भी वाजपेयी जी की समन्वय-शीलता लक्षित होती है। स्थान-स्थान पर विजातीय शब्दों का प्रयोग इसका प्रमाण है। वाक्यों की सहजता को क्षति पहुँचाए बिना ही अंग्रेज़ी, उर्दू और फारसी के शब्द बीच-बीच में उनकी भाषा के अभिन्न अंग बनकर आए हैं। संस्कृत भाषा के प्रति अभिरुचि के कारण उनकी भाषा तत्सम-प्रधान है जो प्रांजल एवं परिमार्जित है। साहित्यिक गरिमा, कलात्मक सौष्ठव, लाक्षणिकता तथा व्यंजनात्मकता से वह पूर्णत: समृद्ध है। शब्दों का अपव्यय वे कभी नहीं करते।

---

1. नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ.50
2. आधुनिक साहित्य, पृ.430

वाक्यों की तार्किक व्यवस्था शैली को जीवंत बना देती है । उसकी असाधारण गति भी आकर्षक है ।

इस प्रकार ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करनेवाले शब्द, सुनियोजित एवं सुसंघटित वाक्य, शोभा और अर्थ की वृद्धि करनेवाले अलंकार, समास-शक्ति से संपन्न मुहावरे, लोकोक्तियाँ और कहावतें, एक वाक्य की समाप्ति और दूसरे वाक्य की इति श्री की सूचना देने के साथ अर्थयुक्त चिह्नों द्वारा भावद्योतन भी करनेवाले विरामचिह्न, प्रस्तुत विचारों के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त परिच्छेद, भावानुरूप वातावरण की सृष्टि करनेवाले अनुच्छेद आदि शैली की श्रेष्ठता के निदान हैं । लेखक की भाषा-शैली तभी पूर्णता प्राप्त करती है जब कि वह भाषा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनों के प्रति सदैव सजग रहे । समकालीन शब्दों और उसके प्रयोगों से अनभिज्ञ रहकर कोई भी रचनाशैली नवीनता और मौलिकता का दावा नहीं कर सकती । शैली की उत्कृष्टता इन दोनों गुणों के प्रस्तुतीकरण में है । इन्हीं गुणों के द्वारा रचनाकार की बौद्धिक, भावात्मक एवं विवेचनात्मक क्षमता का प्रकाशन संभव है ।

मूल्यांकन

आधुनिक युग के प्रमुख शैलीकारों में वाजपेयी जी सम्मान्य स्थान के अधिकारी हैं । अपने व्यापक अध्ययन और गंभीर चिंतन से प्राप्त मौलिक निष्कर्षों का आधार ग्रहण कर उन्होंने अपने जिस महान व्यक्तित्व का परिचय दिया, वही युगीन साहित्य एवं भाषा शैली का निर्माण कर पाठक का दिशा-निर्देश करने में भी समर्थ हुआ । छायावादी युग में प्रगीतों की प्रमुखता रही और प्रगीत मुक्तकों में किसी मनःस्थिति विशेष की तीव्र

संवेदना ही अभिव्यक्त की जाती है । उसके उपयुक्त शैली ही वाजपेयी जी ने स्वीकार की है । उनकी लंबी भूमिकाएं भी छायावादी काव्य के दीर्घगीतों का स्मरण दिलानेवाली हैं । किसी भी रचना या रचयिता के समग्र प्रभाव को संक्षिप्त रूप में सारवत्ता खोये बिना अंकित करने में वाजपेयी जी विशेष कुशल हैं । अनावश्यक विस्तार में वे कभी नहीं जाते । थोडे शब्दों में लेखक की मौलिक विशिष्टता का उद्घाटन ही उनके लिए अभीष्ट है । इसीलिए बृहत् ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति उनमें नहीं दिखाई दी । "महाकवि सूरदास", "कवि निराला", "जयशंकर प्रसाद" आदि पुस्तकों में यही दिखाई देती है । विभिन्न अवसरों पर लिखे गये निबन्ध ही पुस्तकाकार में प्रस्तुत हुए हैं । "जयशंकर प्रसाद" की भूमिका में उन्होंने लिखा है "मैं कोई प्रशस्त लेखक नहीं हूं, जो विषय को विस्तार के साथ समझाते और उसे पूरा-पूरा उद्घाटित कर देते हैं ..... मैं तो साहित्य में रचनाकार की अंत: प्रेरणा का अनुसंधान करने में व्यस्त हूं । इसी के साथ-साथ संक्षेप में बाह्य-स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अंत में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना बस समझता हूं ।"

वाजपेयी जी का संपूर्ण साहित्य ही व्यक्तित्व-प्रधान है जिसमें वस्तुनिष्ठ दृष्टि की विशेषताएं भी बहुत कुछ पायी जाती हैं । विशुद्ध साहित्यिक निबन्धों के अतिरिक्त दार्शनिक, सामयिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक विषयों से संबद्ध निबन्ध भी उन्होंने लिखे हैं । इनके अतिरिक्त विज्ञप्ति, भूमिका, निकष, प्राक्कथन, आशीर्वचन, सम्मति, दो शब्द आदि के रूप में अपनी और दूसरों की पुस्तकों के आरंभ में जो कुछ प्रस्तुत किए गए हैं वे भी उनके व्यक्तित्व याने शैली की विशिष्टता के परिचायक हैं ।

वैचारिक गरिमा के उत्कृष्ट धरातल उनमें उपलब्ध है । भारतीय और पश्चिमी सिद्धांत, प्राचीन और नवीन, स्थूल और सूक्ष्म, भौतिक और आध्यात्मिक, आदर्श और यथार्थ, भाव और शिल्प के समन्वय पर उन्होंने बल दिया । प्राचीन सिद्धांतों के जड, गतिहीन तत्वों के वे विरोधी रहे । सामयिक समस्याओं के सम्यक् आकलन की दृष्टि से उनके भाषण एवं संपादकीय टिप्पणियाँ विशेष मूल्यवान हैं । पुस्तकों की परिचयात्मक समीक्षाएँ तथा विभिन्न अवसरों पर आकाशवाणी द्वारा प्रस्तुत वार्ताएँ उनकी भावप्रवण दृष्टि की द्योतक हैं । "बुद्धिवाद एक अधूरी जीवन-दृष्टि" तथा "वैदिक-दर्शन समग्र जीवन-दृष्टि" उनके दो दार्शनिक निबन्ध हैं जिनमें उनके तत्ववेत्ता चिंतक का रूप प्रकट होता है । संस्मरणात्मक लेखों में वैयक्तिक संबंधों को द्योतित करनेवाले अपने वार्तालापों और छोटी मोटी घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है । प्रेमचन्द और निराला के निधन से संबद्ध संस्मरण इस दृष्टि से अत्यंत प्रभावशाली हो उठे हैं । आत्मीयता का भाव प्रत्येक पंक्ति को नया जीवन प्रदान करता है जिससे उनके विचारों में अधिक विश्वसनीयता एवं स्पष्टता आयी है । डॉ॰ गणेशखरे के शब्दों में "वाजपेयी जी ने अपनी प्रौढ़ और सशक्त लेखनी के द्वारा न केवल आधुनिक युग के वैचारिक निबन्धों की वस्तु-संबंधी गरिमा को आलोकित किया, वरन् निबन्ध-शिल्प तथा शैली का अभिनव स्वरूप प्रस्तुत करके अपने सर्जनशील व्यक्तित्व के द्वारा हिन्दी के शब्द-भंडार की भी श्रीवृद्धि की है[1]।"

निष्कर्ष

विचारात्मक शैली के प्रौढ निबन्धकार आचार्य वाजपेयी जी ने अपने व्यक्तित्व के अनुकूल विषय बनाया और कभी-कभी व्यक्तित्व ने विषय को सीमित कर दिया । तर्क, विश्लेषण, प्रमाण और मौलिक निर्णयों से

---

[1] सं॰ डॉ॰ रामाधारशर्मा : आचार्य नन्ददलारे वाजपेयी:व्यक्ति और साहित्य.

युक्त उनकी शैली की वैचारिक गरिमा उच्च स्तर की है । शब्दों का बिंबग्राहणात्मक प्रयोग करके उन्होंने वाक्य-गठन में चमत्कार और सौंदर्य भर दिए । वाक्य-रचना सुगठित एवं सुस्पष्ट है । लंबे वाक्यों में भी शिथिलता, दुर्बोधता या बनावटीपन नहीं । नीरसता, जटिलता, आडंबर-प्रियता, अस्वाभाविकता या शुष्कता उनकी शैली में खोजने पर भी नहीं मिलेगी । उच्च स्तर की कृतियों के अध्ययन, वक्तृताओं के श्रवण तथा निरंतर लिखने के अभ्यास से उनकी शैली परिष्कृत, सुष्ठु और सुरुचिपूर्ण हो पायी है । अर्थों का आविष्कार करने में वह समर्थ है । उदात्त, भव्य, एवं शिष्ट शब्दावली से युक्त संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग कर अपनी समीक्षा से पाठकों की आत्मीयता स्थापित करने में वे विशेष सफल हुए हैं । व्यक्तित्वजन्य सरलता एवं तरलता, भावों की उदात्तता, भाषा की व्यंजकता, हास्य-विनोद का पुट, व्यंग्यात्मक कटूक्तियाँ, विचार-गुंफन में कसावट आदि उसमें प्रभूत मात्रा में दृष्टिगत होती हैं । समीक्षक की गहरी निष्ठा, जीवन-दृष्टि की उदात्तता, अपार आत्मनिष्ठा, विषय की गहराई, सारग्राहिणी सूक्ष्म निरीक्षण-दृष्टि, सहजता, मार्मिकता, दार्शनिक गंभीरता आदि उनकी शैली की विशेषताएँ हैं । सप्राणता एवं प्रेषणीयता से युक्त उनके निबंध विदग्ध एवं विद्वत्तापूर्ण हैं । भावों की तन्मयता एवं विचारों की यथार्थता उसमें है । गंभीरता में भी लालित्य, व्यापकता में भी संतुलन उसकी विशेषता है । भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार रहा है । वे भाषा की नहीं, भाषा उनकी अनुगामिनी होकर आती है । उसमें ओज, तेज और प्रवाह है । निस्संदेह वाजपेयी जी कुशल शब्द-शिल्पी हैं ।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

छठा अध्याय

हिन्दी समीक्षा के विकास में वाजपेयी जी का योगदान

हिन्दी समीक्षा के विकास में वाजपेयी जी का योगदान

हिन्दी-समीक्षा का विकास - वाजपेयी जी तक

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा बहुत ही प्राचीन, प्रौढ़ एवं महान है । विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किसी भी भाषा के साहित्य का विश्लेषण करने की पूरी सामग्री संस्कृत में उपलब्ध होती है । हिन्दी समीक्षा पद्धति और सैद्धांतिक निरूपण उससे बहुत अधिक प्रभावित है । सूत्र, व्याख्या और विश्लेषण से युक्त एक विशेष प्रकार की अभिव्यंजना-प्रणाली संस्कृत साहित्यशास्त्र में विकसित हुई जो समीक्षा के अनेक नए प्रतिमान स्थिर करने में समर्थ हुई । ऐसा होते हुए भी आधुनिक आलोचना के विकास का प्रमुख प्रेरणास्रोत पाश्चात्य साहित्यालोचन है । आधुनिक युग में उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध आदि में जो नई प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं, समीक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष की विविध प्रवृत्तियों में जो नूतन मान्यताएँ स्थापित हुई हैं उन पर पाश्चात्य समीक्षा का पर्याप्त प्रभाव है ।

भारतेन्दु युग

हिन्दी में आलोचना का आरंभ सच्चे अर्थ में भारतेंदुकाल से मानना उचित होगा । पत्र-पत्रिकाओं की संपादकीय टिप्पणियां अथवा संपादक के नाम पत्रों, पत्रों के जवाबों आदि के रूप में ही आरंभकाल में आलोचना प्रकट होती रही । एक ओर विज्ञापन की हल्की समीक्षा के दर्शन होते है तो दूसरी ओर कलाकृति का भावात्मक सौष्ठव, कलाकार का व्यक्तित्व, उस व्यक्तित्व को रूप देनेवाली परिस्थितियां आदि का गंभीर एवं विशद विवेचन भी दर्शित होता है । सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना, बौद्धिक एवं मानसिक जागृति, भविष्य केलिए संदेश और पथ-प्रदर्शन की समस्त सामग्री इस युग की समन्वयात्मक दृष्टि में निहित थी । सैद्धांतिक समीक्षा के तौर पर भारतेंदु का नाटक शीर्षक निबंध उल्लेखनीय है जिसमें नाटक के विविध अंगों पर गंभीरता से विचार किया गया है । युगचेता कलाकार भारतेंदु द्वारा प्रतिपादित साहित्यिक मान्यताएं उनके सहयोगियों के लिए भी काफी प्रेरणादायक रहीं । यद्यपि आलोचना के कोई निश्चित मानदण्ड स्थापित नहीं हुए तो भी उसके विकास के सभी तत्व इस समय रूपायित हुए ।

द्विवेदी युग

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का कार्यक्षेत्र भाषा-शैली एवं व्याकरण से संबद्ध रहा । काव्य-प्रणाली का एक निश्चित रूप स्थिर करके द्विवेदी जी ने भाव-व्यंजना के तीनों प्रकारों - व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक एवं विचारात्मक केलिए तीन भिन्न-भिन्न शैलियों का विधान किया । वाक्य की सरलता एवं लक्षता, मुहावरों का सुन्दर प्रयोग तथा अधिक व्यावहारिकता व्यंग्यात्मक शैली के लिए आवश्यक समझीं तो आलोचनात्मक शैली के लिए भाषा में गंभीरता, बल, संयम और धारावाहिकता,

काव्य-प्रणाली में तथ्यातथ्य निरूपण क्षमता एवं गवेषणात्मकता तथा विषय-प्रतिपादन में स्थिरता, दृढता एवं प्रौढ़ता पर बल दिया गया । तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक समस्याओं के प्रकाशन के लिए विचारात्मक शैली प्रयुक्त हुई ।

द्विवेदी जी की अधिकांश आलोचनाएं शास्त्रीय आलोचना के अंतर्गत मानी जा सकती है । शैली की सहजता एवं सरलता के प्रति सदैव वे सजग रहे । भाषा-संबंधी गलतियों तथा अन्य प्रकार की शिथिलताओं और दुर्बलताओं से आधुनिक गद्य-रचना को निवृत्त कर शब्दों के सार्थक उपयोग और गठन, छोटे वाक्यों द्वारा भी गंभीर विषयों तक की स्पष्ट अभिव्यंजना, संयत, व्यवस्थित एवं चमत्कारपूर्ण भाषा का प्रयोग आदि द्वारा शैली में अभिनव चैतन्य भर देने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है । पुस्तक-परिचय उस समय की आलोचना का प्रौढ रूप था ।

भाषा और व्याकरण की नींव मजबूत करने के बाद द्विवेदी जी का ध्यान दूसरे एक महत्वपूर्ण कार्य पर पडा, वह था कविता और गद्य की भाषा को एक करना । खडीबोली को व्यवस्थित, व्याकरण-सम्मत रूप देने का कार्य हिन्दी आलोचना के लिए द्विवेदी जी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन है । "सरस्वती", "समालोचक", "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" आदि में प्रकाशित अलोचनात्मक लेख नव-जागरण में सहायक रहे । भाषा, शैली, वर्ण्य-विषय, कवि-स्वातंत्र्य आदि को लेकर जो बृहद् आंदोलन चले उसमें तत्कालीन अनेक आलोचकों का सहयोग द्विवेदी जी को प्राप्त हुआ । हिन्दी भाषा एवं साहित्य के उत्कर्ष एवं समृद्धि की भरसक कोशिश उनके नेतृत्व में की गई ।

शुक्ल-युग की समीक्षा

भारतेंदु युग में साहित्यिक क्षेत्र में जो नूतन दृष्टि सक्रिय रही, उसी का विकसित रूप द्विवेदी युग में लक्षित हुआ और शुक्लजी के काव्यादर्श में वह अपने समस्त वैभव के साथ आगामी पीढ़ी के लिए भी अपेक्षित अनेक तत्वों को संगुम्फित कर प्रौढता की पराकाष्ठा में पहुँच गयी । प्रखर प्रतिभा के धनी आलोचक शुक्लजी में युग-निर्माण की पूरी क्षमता थी । एक समर्थ आलोचक के लिए अपेक्षित इतिहास-बोध, काव्य-मर्मज्ञता एवं सुलझी हुई, लोकजीवनोन्मुख साहित्य दृष्टि शुक्लजी में विद्यमान थीं । पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षा-तत्वों का सुन्दर समन्वय इस काल की समीक्षा पद्धति में दृष्टिगत होता है । विभिन्न साहित्यिक अंगों के सैद्धांतिक निरूपण के साथ ही प्रमुख लेखकों की कृतियों का भी विश्लेषणात्मक अध्ययन स्वतंत्र कृतियों के रूप में होने लगा । शोधकार्य भी इस युग की समालोचना के विकास में सहायक रहा । समीक्षा की ऐतिहासिक पद्धति के विकास के साथ ही मनोविश्लेषणवादी, जीवन चरितमूलक निर्णयात्मक एवं समाजशास्त्रीय पद्धति के भी विकास के लक्षण दिखाई दिए । इन सबके प्रमुख प्रणेता शुक्लजी रहे ।

शुक्लजी द्वारा ही समीक्षा को सर्वप्रथम एक नूतन, प्रौढ़, भारतीय तत्वों से समन्वित स्वरूप प्राप्त हो सका । वास्तविक आलोचना के लिए अपेक्षित अर्थ-विश्लेषण, विवेचन और निगमन की प्रवृत्ति भी इन्हीं के द्वारा विकसित हुई । काव्य की आत्मा पर ध्यान देकर उसके भाव-सौंदर्य के उद्घाटन का प्रयास तब तक सही ढंग से नहीं हो पाया था ।

शुक्लजी ने इस दृष्टि से रस की नवीन व्याख्या की । कवि की विशेषताओं एवं अंतर्वृत्तियों की छानबीन समीक्षा के लिए आवश्यक समझी ।

उन्होंने रस, अलंकार आदि की नवीन और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके तथा उनको साहित्य-समीक्षा के आधुनिक मान में स्थान देकर इन तत्वों का जीर्णोद्धार किया । साहित्य समालोचना और निबंध साहित्य में उनकी प्रतिभा इतनी निखर उठी कि और कोई व्यक्तित्व उनकी टकराहट में न प्रकट हो पाया । समीक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का सही निर्वाह उनमें हो पाया । उनकी मान्यताएँ ठोस आधार पर अधिष्ठित थीं । प्राचीन और नवीन साहित्यिक सिद्धांतों का समुचित उपयोग उनके साहित्यिक प्रतिमानों के निर्माण में हुआ है ।

प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र के मूल्यांकन में पूर्णत: संतुलित वैज्ञानिक दृष्टि उन्होंने अपनायी है । अलंकारवाद में निहित रूढिग्रस्तता को दूरकर सौंदर्य के पर्याय के रूप में उसे स्वीकार किया । लेकिन कहीं-कहीं उनका निष्कर्ष एकांगी जान पड़ता है । कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध काव्य को मुक्तक की अपेक्षा तथा सगुण को निर्गुण की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ मानना, केशव को हृदयहीन एवं कबीर को मूर्खपंथी कहना, छायावाद और रहस्यवाद की उत्कृष्टता को सन्देह की दृष्टि से देखना, डी॰एल॰ राय की रचनाओं को रवीन्द्रनाथ की कृतियों की अपेक्षा अधिक भाव-संवेदनापूर्ण मानना, क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान मानना आदि इसके दृष्टांत हैं । लगता है, मध्ययुगीन विचारधारा के प्रभाव से वे मुक्त न हो पाए थे । इस कारण, नूतन परिस्थिति में उद्भूत छायावादी काव्य के मूल्यांकन में उनके आलोचनात्मक प्रतिमान समर्थ नहीं हुए । इसके फलस्वरूप छायावादी काव्य के समानांतर छायावादी आलोचना भी परिस्थिति की अनिवार्यता बन गयी जो स्वच्छंदतावादी समीक्षा के नाम से अभिहित की गयी ।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा

स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं के आकलन से स्पष्ट होता है कि इस समीक्षा-दृष्टि का प्रेरक तत्व छायावादी काव्य है । छायावादी काव्य की जो विशेषताएं हैं उनसे ही इसके प्रतिमान निर्मित हुए हैं । छायावादी कवि-समीक्षकों की मान्यताओं की परख-पड़ताल भी इस प्रसंग में आवश्यक है । इसलिए छायावाद के प्रतिनिधि कवि जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला तथा महादेवी वर्मा के सैद्धांतिक चिंतन भी संक्षिप्त रूप से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

जयशंकर प्रसाद

हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति के प्रथम प्रयोक्ता जयशंकर प्रसाद माने जा सकते हैं । उनकी छायावाद-विषयक परिभाषा में उसकी सभी विशेषताएं समाविष्ट हैं । अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा को वे महत्व देते हैं । भाव और अभिव्यक्ति का पृथक्करण वे कभी नहीं चाहते । उनके अनुसार श्रेष्ठ काव्य में अनुभूति स्वयं ही विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का स्वरूप ग्रहण करती है । रहस्यवाद का आदि स्त्रोत उन्होंने वेद माना तथा उसे भारतीय मानववादी अद्वैत चिंतनधारा का स्वरूप ठहराया । काव्य की आध्यात्मिकता उन्हें पूर्णत: मान्य है । काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हुए उन्होंने बताया कि रहस्यवादी कविताओं में ही उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है । यथार्थवाद के प्रवर्तन का श्रेय आधुनिककाल में भारतेंदु को दिया गया है ।

मूर्त और अमूर्त के आधार पर कविता को अन्य कलाओं से पृथक् एवं श्रेष्ठ मानना भी प्रसाद जी को अनुचित लगता है क्योंकि सौंदर्य बोध रूप द्वारा ही संभव है । काव्य और दर्शन के बीच छोटे-बड़े के प्रश्न को भी

वे निरर्थक मानते हैं । कवि को ऋषितुल्य और काव्य को आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित कर मूर्त और अमूर्त की सीमित परिधि से उसे उच्च स्थान वे प्रदान करते हैं । साथ ही संगीत, चित्र आदि अन्य कलाओं के समकक्ष रखकर कला की साधारण श्रेणी में भी उसे स्थान देते हैं । अनुभूति को ही वे काव्य की आत्मा मानते हैं । भारतीय रस-सिद्धांत के वे पूर्णत: समर्थक हैं । रस को उन्होंने आनंदमय तथा अलंकार को तर्क और विवेक से उद्भूत माना । काव्यानंद, ब्रह्मानंद तथा समाधिसुख तीनों में वे समानता दर्शाते हैं । उनके मत में रसानुभूति सदैव पूर्ण होती है, उसमें निम्नोन्नत कोटि की अनुभूतियों के लिए अवकाश नहीं रहता । तुलसीकाव्य के विवेचन में शुक्लजी द्वारा निर्धारित निम्नकोटि की रसानुभूति के विश्लेषण का प्रसाद जी ने खंडन किया है । श्रेय और प्रेय, सुंदर और शिव तथा आनंद और मंगल का रस में उन्होंने सामंजस्य माना है । साहित्य और दर्शन का समन्वय कर काव्य को आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित करनेवाली उनकी दृष्टि पश्चिमी चेतना के सात्त्विक अंशों को आत्मसात् करने के साथ ही भारतीय विचारधारा से पूर्णत: अनुप्राणित है । भारतीय आचार्यों द्वारा स्वीकृत समन्वयवादी दृष्टि ही उनमें आद्यंत सक्रिय रही है ।

सुमित्रानंदन पंत

विकास के विविध चरण पंत जी के व्यक्तित्व में दर्शित हैं । छायावाद के समर्थक बनकर वे काव्यक्षेत्र में आए थे । लेकिन जीवन से निकट संबंध बनाये रखने में जब छायावाद असमर्थ हो गया, निराशा और अकर्मण्यता ने जब उसमें घर कर लिया तो पंत जी ने भी नवीन समाज-निर्माण की आकांक्षा से प्रेरित होकर मार्क्सवाद के समाज-दर्शन को स्वीकार किया । लेकिन जब उन्हें लगा कि मार्क्सवाद मात्र आर्थिक समता की वकालत करनेवाला एक भौतिक आन्दोलन है तो उसे भी अनुपयुक्त मानकर अरविंद दर्शन की ओर

उन्मुख हुए । विभिन्न दार्शनिक उपपत्तियों के आलोक में यथार्थवाद आदर्शवाद, जड-चेतनवाद आदि का विवेचन भी उन्होंने किया है । आधुनिक मनोविश्लेषणवाद भी उनसे अछूता नहीं रह गया है । युग-जीवन के विकास केलिए एक हद तक वे साहित्यिक वादों को आवश्यक मानते हैं ।

पंत जी के विचार में कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है । कविता तथा छंद के बीच वे घनिष्ठ संबंध मानते हैं । छन्द और भाषा का सहज संबंध ही उन्होंने माना है, छंद को बंधन के रूप में नहीं । अलंकार का महत्व भी वे मानते हैं । कविता में शब्द और अर्थ का पृथक् अस्तित्व वे स्वीकार नहीं करते । चित्रमयता एवं संगीत को वे भाषा के सहज एवं अनिवार्य गुण मानते हैं । सौंदर्य की पूर्णता के लिए सांस्कृतिक चेतना भी आवश्यक समझते हैं । काव्य की आलोचना में कृति की मूल प्रेरणाओं का अध्ययन भी अपेक्षित मानते हैं । राग, लय, गति समन्वित मुक्त छंद पर मुग्ध होकर उन्होंने स्थापित किया कि किसी भी काव्य में उसका प्रयोग सफलतापूर्वक हो सकता है । मानव-मंगल की कामना वे कला केलिए अनिवार्य मानते हैं । एक ही युग चेतना से अनुप्राणित होने की वजह से प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को उन्होंने छायावाद की उपशाखाएं मान ली हैं । तीनों का परस्पर पूरक माना गया है ।

महादेवी वर्मा

महादेवी की सभी विवेचनाओं में विषय से संबद्ध एक भूमिका भी रहती है । जीवन को केंद्रित कर ही उन्होंने कला की व्याख्या की है । काव्य-चेतना को वे एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना मानती हैं । सौंदर्य के माध्यम से प्रत्यक्ष, परोक्ष सभी प्रकार के सत्यों की अभिव्यक्ति उसमें वे देखती हैं । उनकी दृष्टि में काव्य सर्वोत्तम कला, सत्य उसका साध्य एवं

सौंदर्य उसका साधन है । काव्य में सर्वाधिक महत्व अनुभूति का ही माना गया है क्योंकि किसी जीवन-सत्य के साक्षात्कार में अनुभूति ही सक्षम होती है । जीवन, सत्य, सौंदर्य, कला सब को वे एक दूसरे का पर्याय समझती हैं ।

उपयोग की कला, सौंदर्य की कला दोनों को महादेवी परस्पर निकट मानती हैं । उनके अनुसार उपयोग का तत्व उत्कृष्ट कला में सहज ही निहित है । उपयोगिता से उनका मतलब है रसमयता अथवा संवेदनशीलता याने मानव मन को उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करना । छायावादियों की आत्मवादी दृष्टि एवं कल्पना की विशिष्टता उन्हें मान्य है, काव्य की मूल प्रेरणा उनकी दृष्टि में करुणा है । संस्कृति के मौलिक तत्वों से भी उसे संबद्ध कर दिया । दर्शन के ब्रह्म की छाया उस पर आरोपित की । रहस्यवाद को भी उन्होंने वैदिक काल से जोडा । भारतीय काव्य-परंपरा के अनेक तत्व वे रहस्यवाद में पाती हैं । भारतीय रहस्यवाद को वे सांप्रदायिकता से पूर्णत: मुक्त मानती हैं । प्रगतिवाद या यथार्थवाद के प्रति वे पूरी उदारता नहीं बरत पायी । गीतिकाव्य के प्रति उनका विशेष आकर्षण रहा है । गीत को वे अपने युग की महान आवश्यकता मानती हैं । उनके विचार में मन की प्रत्येक गति की पहचान कराने में गीतिकाव्य समर्थ है ।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

मुक्तक छन्द के प्रयोग के सर्वाधिक प्रबल समर्थक निराला जी थे । वे मानते हैं कि जीवन में मंगलमय, स्वाधीन भावना का संचार करने में मुक्त काव्य-साहित्य सहायक होता है । इसी आधार पर उन्होंने वैदिक काल के साहित्य की स्वच्छन्द दृष्टि की सराहना की है । अनुशासन के नाम पर अनावश्यक नियमों के कटघरे में साहित्य को बंधित रखना वे कभी उचित नहीं मानते ।

सौष्ठववादी दृष्टि के विकास में निराला जी की काव्य-विषयक धारणाओं का महान योग है । काव्य उनकी दृष्टि में सौंदर्य की सृष्टि है । काव्य और संगीत के समन्वय का वे आग्रह करते थे । कविता में व्यंजित चित्रों की सजीवता और सत्य का निर्वाह करने में वे सौंदर्य की स्थिति देखते हैं । भारतीय आदर्श की व्यंजना ही वे कला का लक्ष्य मानते हैं । किसी कृति को उसकी पूर्णता में देखे बिना खंड रूप में देखकर की जानेवाली आलोचना की उन्होंने निंदा की है ।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि कुछ बातें इन समीक्षकों में समान रूप से दिखाई देती हैं । वे हैं, अनुभूति को सर्वाधिक महत्व देना, भारतीय परंपरा को सुरक्षित रखने का आग्रह रखना, आदर्श और यथार्थ को परस्पर-पूरक मानना, "सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" का सामंजस्य काव्य के लिए आवश्यक समझना, किसी भी कृति के मूल्यांकन में कृति को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने की आवश्यकता पर बल देना आदि । स्वच्छन्द दृष्टि विकसित कर हिन्दी समीक्षा के नए प्रतिमान निर्धारित करने के हेतु इनका योगदान ज़रूर महत्त्वपूर्ण है ।

वाजपेयी जी के समकालीन अन्य प्रमुख समीक्षक

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

वाजपेयी जी की भाँति द्विवेदी जी भी चित्तगत उन्मुक्तता को बड़ी चीज़ समझते हैं । वे व्यक्ति की स्वतंत्रता में नहीं, मनुष्य की मुक्ति में विश्वास रखते हैं । मानवतावाद के वे प्रबल समर्थक हैं । मनुष्य ही उनके लिए सबसे बडा तत्व है । संपूर्ण इतिहास को मनुष्यता से संबद्ध करने की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया । उनकी दृष्टि में मानवता को विकसित करना ही साहित्य का मूल प्रयोजन है । इसके लिए परंपरा के

पोषक तत्वों का संरक्षण वे आवश्यक समझते हैं । उनके विचार में मनुष्य और मनुष्यता ही एकमात्र शाश्वत सत्य है । द्विवेदी जी के मानवतावाद के अंतर्गत वे सभी भाव, विचार और व्यापार आते हैं जो व्यापक और उत्कृष्ट सत्य से जोड़ते हैं, जो मनुष्य के भीतर स्थित भेद-बुद्धि, खंड-भाव को तोड़ते हैं । अतीत से अर्जित संस्कार के साथ नए प्रयोग, मूल्य एवं चिंतन भी उसमें आते हैं । वह वैज्ञानिक व्याख्याओं पर आधारित होकर भी साम्प्रदायिक रूढ़ि से मुक्त है । इसलिए मानवता की ज्योति जगानेवाली सभी रचनाओं को वे महत्व देते हैं । भक्तिकाव्य, छायावादी काव्य, प्रगतिकाव्य सब उन्हें आकृष्ट करते हैं क्योंकि ये सब कला-सौंदर्य के आविष्कारक है ।

ऐतिहासिक दृष्टि द्विवेदी जी की आलोचना में यत्र-तत्र प्रकट है । उनके साहित्य का मूल स्वर संस्कृतिपरक है तथा सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण ऐतिहासिक दृष्टि द्वारा ही हो सकता है । तुलसी का समन्वयवाद, कबीर का विद्रोही स्वर, सूर का आध्यात्मिक स्वर, छायावाद की नूतन चेतना, प्रगतिवादी दृष्टि सभी में लोकमंगल देखनेवाले द्विवेदी जी में मानवतावादी दृष्टि ही अधिकाधिक व्यापक बनती आयी है । उनकी आधुनिक आलोचना मौलिक दृष्टि से ओत:प्रोत है ।

द्विवेदी जी सौंदर्य के उस रूप के उपासक है जो जड वस्तुओं में भी जीवन भर देता है । उनकी दृष्टि में सौंदर्य सामंजस्य का नाम है और सारे बाह्य जगत् के असुंदर को छोड़कर सौंदर्य की सृष्टि नहीं हो सकती । सामाजिक सन्दर्भ में ही उन्होने सौंदर्य को स्वीकार किया । उनके मत में असुंदर को मिटानेवाला विद्रोही स्वर भी सुंदर है और सामाजिक पीडा के बीच चुपचाप बैठकर मंगल प्रवचन करनेवाले आत्मोन्मुखी कलाकारों के अमन राग असुंदर है । उनकी रस-विषयक धारणा भारतीय सिद्धांत के सामान्यत: स्वीकृत स्वरूप के उपयुक्त है । काव्य में आंतरिक अनुभूति की व्यंजना को वे प्रमुख मानते हैं तथा काव्यानंद या रस को विशुद्ध मानसिक आनंद कहते हैं ।

कवि के रचना-सौंदर्य को सहृदय को अनुभूत कराने की क्षमता द्विवेदी जी आलोचक केलिए अपेक्षित मानते हैं । साहित्यिक मानदंडों से रचना के सौंदर्य तथा उसके विधायक तत्वों को समझने का प्रयास उनकी अधिकांश आलोचनाओं में लक्षित होता है ।

डॉ॰ नगेन्द्र

नगेन्द्र के अनुसार साहित्य का मूल धर्म और प्रेरक तत्व आत्माभिव्यक्ति है याने 'अपने आपको प्रस्तुत करना' है । कुंतक का 'वक्रोक्तिवाद", क्रोचे का "अभिव्यंजनावाद" दोनों से वे प्रभावित हैं । अनुभूति को अत्यधिक महत्व देते हुए भी मात्र अनुभूति को वे काव्य नहीं मानते । उनके विचार में रमणीय अनुभूति, उक्ति-वैचित्र्य, छंद अर्थात् वर्ण-संगीत और लय-संगीत इन तीनों का समन्वित रूप ही कविता है । मनोविज्ञान उनकी दृष्टि में काव्य के सर्वाधिक निकट है ।

रस-विषयक धारणा

नगेन्द्र शुक्लजी की रसवादी परंपरा को शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर नूतन दृष्टिकोण से पुष्ट करनेवाले आलोचक हैं । शुक्लजी की भाँति ये भी रस को अंतिम परिणति के रूप में स्वीकार करते हैं । उन्होंने काव्यानुभूति को ऐंद्रिय अनुभूति से अधिक शुद्ध परिष्कृत तथा बौद्धिक अनुभूति से अधिक सरस माना है । उनकी दृष्टि में साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है । रसमय अभिव्यक्ति के लिए सौंदर्य तत्व का पूर्ण समावेश वे अपेक्षित समझते हैं । रस उनके विचार में सौंदर्य का पर्याय भी है ।

शांतिप्रिय द्विवेदी

शांतिप्रिय द्विवेदी का नाम छायावाद के प्रबल समर्थकों के अंतर्गत आता है । उनकी आलोचना छायावादी कवि आलोचकों की उपलब्धियों से मेल खाती है । वर्तमान साहित्य और सामयिक समस्याओं का विवेचन उन्होंने मुख्य रूप से किया है । शास्त्रीय आलोचक के साथ सहृदय कलाकार की दृष्टि भी उनके चिंतन में प्रकट है । उनका छायावादी साहित्य का विश्लेषण कला-पक्ष की दृष्टि से उत्कृष्ट बन गया है । उनके निर्णयों में अनुभूतियों की मौलिकता दर्शित है ।

वाजपेयी जी के समकालीन प्रमुख समीक्षकों की सैद्धांतिक मान्यताएं संक्षेप में ऊपर प्रस्तुत की गई हैं । उन समीक्षकों से किन-किन बातों में वाजपेयी जी में समानता है, कहाँ-कहाँ असमानता है यह भी इसके द्वारा स्पष्ट होताहै । वाजपेयी जी के पूर्व के समीक्षकों में शुक्ल जी ही सर्वाधिक प्रौढ़ हस्ताक्षर हैं । अत: शुक्लजी और वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टियों का अंतर समझ लेना भी अपेक्षित है । शुक्ल जी, वाजपेयी जी दोनों अपनी प्रतिभा अभ्यास और अध्यवसाय द्वारा प्रौढ समीक्षक केलिए अपेक्षित सभी क्षमताएं प्रकट कर सके । व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्रतिस्फुरण दोनों की समीक्षाओं में दर्शित है । हिन्दी की ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के लिए सपुष्ट पीठिका तैयार करने में दोनों का विशेष योगदान रहा । पश्चिमी काव्य शास्त्रीय विचारधारा से दोनों प्रभावित हैं । शुक्ल जी की आलोचना के प्रतिमान वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, जायसी आदि की कृतियों के आधार पर बने थे जिन पर शैली, कीट्स आदि पश्चिमी साहित्यकारों की कृतियों के अनुशीलन की भी गहरी छाप थी । भरत, मम्मट, विश्वनाथ के साथ मैथ्यू आर्नल्ड, ऐ.ए. रिचर्ड्स आदि का भी

साहित्यिक आदर्श उनके सामने था । स्वच्छंदतावाद के भी वे प्रशंसक थे । जायसी, घनानंद, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पांडेय आदि की स्वच्छंद दृष्टि पर वे संतुष्ट भी थे । तुलसी के लोकमंगल की भावना से प्रभावित शुक्लजी ने साहित्य का संबंध लोकहित से जोड़ा तो वाजपेयी जी छायावादी चेतना के सन्दर्भ में अपने नवीन समीक्षादर्श का निर्माण किया । जिस छायावादी काव्योन्मेष को शुक्ल जी मान्यता नहीं दे सके उसी के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में वाजपेयी जी प्रकट हुए ।

आलोचक की हैसियत से शुक्लजी का जो दायित्व रहा उससे बहुत कुछ भिन्न प्रकार का था वाजपेयी जी का दायित्व । शुक्लजी के पूर्व के अधिकांश विद्वान रीतिकालीन प्रभाव से पूर्णत: मुक्त न हो पाए थे । पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबंधु आदि ने यद्यपि समीक्षा-साहित्य को समृद्ध करने का प्रयास किया था तो भी समीक्षा को व्यापक, सुदृढ़, स्थायी प्रतिमान प्रदान करने का कार्य उनसे न हो सका । शुक्लजी ने साहित्यालोचन-संबंधी मौलिक उपपत्तियों से संपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र को चरमोत्कर्ष की ओर प्रशस्त किया । शुक्लजी द्वारा प्रवर्तित मार्ग को अधिक विस्तार देने का कार्य ही वाजपेयी जी के लिए शेष रहा था ।

सैद्धांतिक समीक्षा का हर पहलू शुक्लजी के विवेचन का विषय रहा । सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर उन्होंने कवियों और कृतियों की सर्वांगीण परीक्षा की । उन्होंने स्थापित किया कि सामान्य लोकभूमि पर ही काव्य की भावसत्ता स्थापित होती है, इसलिए कोरी वैयक्तिक अनुभूतियों का साहित्य में कोई मूल्य नहीं है । समाज-मंगल में सहायक रहनेवाले साहित्य ही उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट थे । लोक-संग्रह में ही सौंदर्य के दर्शन कर उसी के आधार पर उन्होंने रस-सिद्धांत, काव्य का उद्देश्य,

उक्ति-वैचित्र्य का विरोध, साधारणीकरण का महत्व, भाव और मनोविकार आदि पर लिखा था । साहित्य को लोकमंगल का विधायक मानते हुए भी शुक्लजी एक दार्शनिक जैसे प्रकट होता हैं जब कि सौंदर्य को जीवन का विधायक माननेवाले वाजपेयी जी की दृष्टि मानवीय जीवन की वास्तविक स्थिति को महत्व देनेवाली रही । शुक्लजी ने जगत को अव्यक्त की अभिव्यक्ति और साहित्य को उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति माना तो वाजपेयी जी की दृष्टि में साहित्य विकासशील मानव जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति है । शुक्लजी शिव तत्व पर ज़ोर देते हैं, वाजपेयी जी के विचार में साहित्य का धर्म मुख्यत: सौंदर्य का संप्रेषण है । छायावादी-सौंदर्यबोध से ही उनका यह सौंदर्यबोध निर्मित है । इसलिए उनकी काव्यगत धारणा अनुभूतिप्रवण है, प्रत्यक्ष और तथ्यमूलक है । वे आत्मानुभूति को ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं । इतना गंभीर एवं उदात्त भावों का नियोजन इसके लिए वे आवश्यक समझते हैं कि उसे ही मानवमूल्य और काव्यमूल्य भी स्वीकार करते हैं । अनुभूति को ही काव्य का मूलभूत तत्व और प्रतिमान घोषित करते हैं । इसी आधार पर उन्होंने प्रसाद और निराला के काव्य को युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य घोषित किया क्यों कि इन दोनों कवियों में जीवनानुभव की वास्तविकता, व्यापकता और गहराई पूरी मात्रा में पायी जाती है । सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में ही वे काव्यत्व के दर्शन करते हैं । नयी कविता पर शुक्लजी, वाजपेयी जी दोनों असंतुष्ट रहे, लेकिन वाजपेयी जी ने लोक-मंगल की भूमिका पर नये कवियों की अनुभूतियों एवं शैलियों का अनुशीलन कर, उसकी सार्थकता पर विचार किया । इसी कारण वाजपेयी जी की दृष्टि अधिक उदार एवं अनुशासित दीखती है । पूर्ण तटस्थता उनमें भी नहीं दीखती, लेकिन अपनी दृष्टि को अधिकाधिक उदार एवं व्यापक बनाने का प्रयत्न उनमें आद्यंत दीखता है ।

वाजपेयी जी ने नैतिकता, मानवीय चेतना एवं सौंदर्य के परिप्रेक्ष्य में रसात्मक चेतना को स्वीकार किया । शुक्लजी ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण रखकर कला मात्र के आनन्द को उसकी सीमा में रखा । उनके द्वारा निरूपित लोकमर्यादा, लोक कल्याण और रस की अलौकिकता का खण्डन वाजपेयी जी ने स्थान-स्थान पर किया है । अभिव्यंजनावाद, वक्रोक्तिवाद दोनों पर शुक्लजी ने प्रहार किया । वाजपेयी जी ने भी अभिव्यंजनावाद को उसी रूप में नहीं ग्रहण किया, लेकिन क्रोचे के सिद्धांत के विशद आकलन का प्रयास किया है ।

शुक्लजी की साहित्यिक धारणा "रामचरितमानस" के अनुशीलन से निर्मित हुई थी । वे कट्टर नीतिवादी रहे । नैतिकता को महत्व देते हुए भी वाजपेयी जी उसका प्रत्यक्ष नियंत्रण आवश्यक नहीं समझते थे । नैतिक दृष्टि के परिणामस्वरूप ही शुक्लजी रस और अलंकार तथा भावपक्ष एवं शैलीपक्ष को पृथक् करके देखते हैं । लेकिन वाजपेयी जी के विचार में भाव और टेकनिक दो पृथक् तत्व नहीं हैं, वे एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से संबद्ध है ।

वाजपेयी जी ने छायावाद को विलायती नकल न मानकर नैसर्गिक विकास का परिणाम माना । लोकधर्म से जोड़कर साहित्य का परीक्षण करनेवाले शुक्लजी सूर साहित्य में उसका अभाव देखते हैं तो वाजपेयी जी उसके भावोत्कर्ष की चर्चा करते दीखते हैं । दोनों की सूर-विषयक स्थापनाओं में महान अंतर दीखने का एक कारण यह है कि परिवेशगत यथार्थ की स्वीकृति तथा प्रबंध काव्य के प्रति आकर्षण जो शुक्लजी में है वह वाजपेयी जी में उसी मात्रा में नहीं । कथा लेखन के विश्लेषण में वाजपेयी जी कुछ अनुदार ही नज़र आते हैं ।

निर्णयात्मक, निगमनात्मक, प्रभावात्मक तीनों प्रकार की समीक्षाओं के तत्व शुक्लजी के साहित्यचिंतन में उपलब्ध हैं । निर्णयात्मक

पद्धति ही अधिक अपनायी गयी है । वाजपेयी जी के विचार में कला का मानसिक आधार ग्रहण करने केलिए कलाकार का तटस्थ रहना अत्यंत आवश्यक है । समीक्षक को वे साहित्य का संरक्षक, साहित्यिक प्रगति का पुरस्कर्ता तथा एक अर्थ में जातीय जीवन का नियामक भी मानते हैं । संक्षेप में बताया जा सकता है कि शुक्लजी का साहित्यादर्श जो स्थिर एवं अटूट रहा, उसे गतिशील एवं विकासोन्मुख बनाने का प्रयास वाजपेयी जी द्वारा हुआ । शुक्लजी ने साहित्य के जिन अंगों और समीक्षा के जिन अवयवों को अधूरा या उपेक्षित छोड़ दिया था, उन्हें अधिक पुष्ट करने की चेष्टा वाजपेयी जी द्वारा हुई ।

काव्य, कला, सौंदर्य, अनुभूति, अभिव्यक्ति, छन्द, अलंकार, रस आदि के विषय में वाजपेयी जी और अन्य छायावादी समीक्षकों की मान्यताओं में कोई उल्लेखनीय अंतर लक्षित नहीं होता । सौंदर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से सब अनुप्राणित दीखते हैं । रसवादी नगेंद्र ने रस को सर्वाधिक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया । उसे वे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक मानवतावादी भूमि प्रदान करते हैं । उनकी दृष्टि में रस की अखंडता में व्यष्टि और समष्टि, सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अंतर मिट जाता है । वाजपेयी जी ने भी रस को संपूर्ण मानवता से संबद्ध कर दिया है । वाजपेयी जी में यदि व्यष्टि की प्रमुखता है तो नगेन्द्र में व्यष्टि और समष्टि को समान महत्व देनेवाली सामंजस्यपूर्ण दृष्टि निहित है । मानवतावादी दृष्टि का उत्कृष्ट स्वरूप हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के चिंतन में दीखता है । वस्तुत: डॉ॰ नगेंद्र की रसवादी दृष्टि, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की मानवतावादी दृष्टि आचार्य वाजपेयी की सौष्ठववादी दृष्टि में बहुत समानताएं हैं ।

वाजपेयी जी की समीक्षा का मूल्यांकन

आचार्य वाजपेयी किसी पूर्व निर्धारित सिद्धांत की छाया में रचना की समीक्षा करने के पक्षपाती नहीं है । भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा, पाश्चात्य समीक्षा : सैद्धांतिक पक्ष जैसे निबंध उनकी समन्वयात्मक दृष्टि के परिचायक हैं । "आधुनिकता बनाम भारतीयता" भी ध्यातव्य है । आधुनिकता के नाम पर भारतीयता भूल जाना, भारतीयता का नाम लेकर आधुनिकता से मुँह मोड लेना दोनों वे खतरनाक समझते हैं । उनके विचार में आधुनिकता का अर्थ जैसे कि कुछ लोग समझते हैं, पश्चिम की नवीन जीवन-दृष्टि, विचारधारा एवं रचनाशैली से संबद्ध नहीं क्योंकि योरोपीय चिंतना किसी भी दिशा में गतिमान नहीं है । वरन् उसकी अनेक दिशाएँ होती हैं । आधुनिकता को वे भारतीय परिवेश में देखने के प्रयासी हैं । वह आधुनिकता विश्वजनीय है परंतु उसकी जडें और बुनियाद हमारे राष्ट्रीय परिवेश की रहनी चाहिए । आँखें मूँदकर पश्चिम की नई काव्य-शैलियों का अनुकरण करना वे बिलकुल निरर्थक समझते हैं क्यों कि अनुकरण उनकी दृष्टि में हीनता का द्योतक है ।

कविता की भावात्मक निष्पत्ति एवं रूपात्मक सौंदर्य ही वाजपेयी जी के लिए मुख्य हैं । कालिदास, जयदेव, तुलसी, सूर जैसे प्राचीन कवियों के प्रति भी उनकी उतनी ही आस्था है जितनी किसी छायावादी कवि के प्रति । प्रसाद और निराला का समर्थन वे इसलिए नहीं करते कि वे छायावादी कवि हैं, बल्कि इसलिए कि वे "कवि" शब्द को सार्थक बनानेवाले हैं । वाजपेयी जी का विश्वास है कि पौरुष तत्व के कारण ही ये दोनों कवि कोरे भावनावादी, कोरे कल्पनावादी या पलायनवादी न रहकर मानव-अनुभवों की यथार्थता अपने काव्य में अंतर्निहित कर सके ।

जीवन को उसके अंतरंग में जाकर देखने से ही इनके काव्य में बीभत्सता नहीं आयी । निराला को भारतीय जन-जागरण के अतुलनीय कवि, उनकी काव्य-प्रकृति को स्वच्छन्दतावादी, सांस्कृतिक मानवतावादी और आस्थामूलक तथा उनका काव्य-संदेश उत्थानमूलक माना गया है । कोरे यथार्थवाद या कोरे आदर्शवाद में इस पौरुष की व्यंजना असंभव माननेवाले वाजपेयी जी प्रसाद और निराला के उदात्त रसात्मक स्वच्छंदतावादी काव्य-सृजन में उसका प्रकाशन देखते हैं जो उनकी दृष्टि में बीसवीं शताब्दी के संपूर्ण काव्य के शीर्ष अंश का समाकलन है । पौरुष के अतिरिक्त और एक उत्कृष्ट गुण भी इन कवियों में वे दर्शाते हैं । वह है काव्य के प्रति इनकी अप्रतिम निष्ठा । प्रसाद काव्य में निहित दार्शनिक अंतर्धारा को वे कबीर की अन्योक्ति पद्धति या जायसी की समासोक्ति पद्धति से बिलकुल भिन्न देखते हैं । सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वे समझा देते हैं कि प्रसाद की अधिकांश उद्भावनाएँ - युगों पूर्व के दार्शनिक चिंतन को साम्प्रदायिक स्वरूप से मुक्त कर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में ग्रहण करना, इतिहास और मानव मनोविज्ञान के सहारे शास्त्रीय वस्तु में नव्यता का समावेश करना आदि - एकदम नवीन हैं तथा उनकी दार्शनिकता पर काव्यात्मकता पूरी तरह व्याप्त रहती है । दर्शन से प्रभावित होते हुए भी निराला काव्य में सौंदर्य के दर्शन काफी मात्रा में पाते हैं पंत जी की परवर्ती कविताओं में काव्यत्व का अभाव, महादेवी की कुछ कविताओं में रहस्यवादी रूढियों का अधिक पालन आदि की शिकायत इसीलिए वे करते हैं । प्रसाद और निराला में कौन अधिक श्रेष्ठ है, यह वे व्यक्त नहीं करते । इतना तो कहते हैं कि दोनों ही कवि अपनी प्रतिभा में महान, अप्रतिम और अपराजेय हैं । फिर भी लगता है, प्रसाद की उपलब्धियों को ही वे अधिक गरिमामय मानते हैं क्योंकि छायावाद की सर्वोत्कृष्ट विभूति "कामायनी" की सृष्टि करनेवाले प्रसाद के काव्य-विकास में कहीं कोई अवरोध उपस्थित नहीं हुआ है जब कि निराला में

विकटित दार्शनिकता का चरण भी दर्शाते हैं । "ऐ गर्म पकौडी", "बापू", यदि तुम मुर्गा खाते" जैसी कविताओं को काव्याभास ही वे समझते हैं ।, राष्ट्र कवि के तौर पर भी वे प्रसाद और निराला को सर्वथा योग्य समझते हैं । उनकी राय में प्रसाद में सांस्कृतिक समाहार और निराला में विद्रोह की वाणी मुखरित है । निराला एवं प्रसाद के बाद शैली-प्रसाधन के स्तर पर तथा भावस्थितियों के प्रौढतर विकास के स्तर पर वे अज्ञेय को विशिष्ट कवि मानते हैं ।

साहित्य की समाज-सापेक्षता के संबंध में वाजपेयी जी के विचार काफी मज़बूत हैं । वे सामाजिक जीवन-सापेक्ष ही नहीं, राष्ट्रीय और जातीय भूमिका के साहित्य के भी आकांक्षी हैं । वे अपने को आध्यात्मिक वहाँ तक मानते हैं जहाँ तक आध्यात्मिक होने का अर्थ गंभीर संवेदनाओं के प्रेमी है । कविता की संवेदनाएँ कैसी हैं, किस कोटि की हैं, उसका बाह्य और अंतरंग सौन्दर्य हमारी चेतना और सौंदर्य दृष्टि को किस रूप में और किस कारण प्रभावित करता है, यही उनके लिए ज्ञातव्य है । व्यक्ति-स्वातंत्र्य वे लेखक के लिए अत्यंत आवश्यक समझते हैं । वे चाहते हैं कि आत्मशक्ति की प्रखरता कवि-व्यक्तित्व का अंग हो ।

मध्यवर्गीय यथार्थ के प्रति वाजपेयी जी की आस्था नहीं है । राष्ट्रीय जीवन के उद्घाटक प्रेमचंद एवं उनकी परंपरा को आगे बढानेवाले यशपाल, नागार्जुन, रेणु जैसे लेखकों का ही उपन्यास के क्षेत्र में वे अधिक समर्थन करते हैं । अपनी साहित्यिक परंपरा के प्रति सद्भाव और सम्मान रखने में ही वे कवि की ईमानदारी देखते हैं,। यद्यपि उन्होंने उपन्यास, कहानी, नाटक सभी रूपों और मध्ययुगीन एवं आधुनिक कवियों पर आलोचनाएँ प्रस्तुत की तो भी काव्यालोचन में ही उनकी प्रतिभा निखर उठी है । अनेक कवियों की तुलना कर उनमें लक्षित सूक्ष्म अंतर उन्होंने स्पष्ट किया । उदाहरणार्थ

गुप्तजी, प्रसाद जी और निराला जी की राष्ट्रीय कविताओं की तुलना करते हुए उन्होंने द्विवेदीकालीन राष्ट्रीयतावाद और छायावादी मानव-ऐक्य की भावनाओं का मौलिक अंतर व्यक्त किया । गुप्तजी का "नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है", प्रसाद का "अरुण यह मधुमय देश हमारा", निराला की "प्राणप्रणव ओंकार" जैसी पंक्तियों के आधार पर इन सभी कवियों के दृष्टिकोण का सूक्ष्म विवेचन वे कर सके । सौंदर्यानुसंधान ही काव्य में उनका मुख्य कार्य रहा था । किंतु कथा-साहित्य और नाटक की आलोचना में भिन्न दृष्टि अपनायी गयी है । मूल जीवन-चेतना और सामाजिक प्रभाव तथा उसके परिदृश्य का आकलन ही इसमें उन्होंने किया है । जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय के कथा-साहित्य तथा अश्क के नाटकों का विवेचन इसके दृष्टान्त हैं । अपने मौलिक चिंतन एवं यथार्थ की पहचान की सम्यक् क्षमता के परिणामस्वरूप ही वे प्रसाद एवं लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को यथाक्रम स्वच्छन्दतावादी एवं पुनरुत्थानवादी स्थापित कर सके हैं ।

वाजपेयी जी ने अपने सिद्धांतों का निर्माण व्यावहारिक समीक्षा के सन्दर्भ में किया है । रचयिता की मनस्थिति और जीवन दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका को आधार बनाकर किया जानेवाला विवेचन ही वे सही मानते हैं । विविध प्रकार की शास्त्रज्ञता या सिद्धांतवादों के आधार पर की जानेवाली परीक्षा ही उसके लिए पर्याप्त नहीं है । उनके अनुसार समीक्षा के सिद्धांत साहित्य पर आधारित होने के साथ ही उससे उद्भूत भी होने चाहिए । वे मानते हैं कि धर्म, दर्शन, विज्ञान, शास्त्र सबका निजी महत्व होते हुए भी साहित्यालोचन का प्रतिमान साहित्य विषयक ही होना चाहिए । एक सच्चे साहित्यवादी की भाँति वे घोषित करते हैं कि काव्य का महत्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं । इसके सही अध्ययन के लिए कवि की आत्मा में अपनी आत्मा को मिलाकर विकास की प्रत्येक दिशा में उसके साथ तन्मय होकर - आगे बढ़ना वे आवश्यक मानते हैं ।

वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि में समयानुकूल जो बदलाव दर्शित होता है वह उनकी विकासोन्मुख दृष्टि को मूचित करता है । अवश्य ही उनके समीक्षा-सिद्धांत प्रत्यक्ष जीवन और उपलब्ध साहित्य से गृहीत हुए हैं । किसी साहित्येतर शास्त्र, विज्ञान या अध्यात्म विद्या से नहीं । अनुभूति का संबंध वे आत्मा से मानते हैं तथा कवि की सौंदर्य-चेतना के माध्यम से इस अनुभूति की अभिव्यक्ति भी आवश्यक मानते हैं । इस प्रकार अनुभूति, अभिव्यक्ति और सौंदर्य को वे सहगामी अथवा समानधर्मी मानते हैं । यह अनुभूति, जो कालातीत है, उनकी दृष्टि में अंतर्वृत्ति है जो अलौकिक न होकर स्वाभाविक अनुभवों से निर्मित है । अनुभूति को काव्य का प्रतिमान मानने के साथ ही भाषा, छन्द, अलंकार आदि पर भी उन्होंने ध्यान दिया है । तुलसी की छंदयोजना की खूब प्रशंसा की गयी है । कृति को उसकी पूरी वास्तविकता में वे देखना चाहते हैं । प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में शास्त्रीयता की उपेक्षा वे कभी करना नहीं चाहते । प्राचीन साहित्य के समीक्षण में भी नई तर्क-पद्धति वे अपनाते हैं ।

वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि इतनी व्यापक है कि अनेक प्रकार के आलोचकीय प्रतिमानों का प्रयोग उसमें दिखाई देता है । यही कारण है कि छायावादी, स्वच्छंदतावादी, प्रगतिशील स्वच्छंदतावादी, रसवादी, सौष्ठववादी, कलावादी, सृजनशील, समन्वयशील आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग उनके लिए हुआ है । अपनी स्वच्छंद चेतना से अनुप्राणित विविध तरह की मान्यताओं की अभिव्यंजना में ही इन सब का प्रयोग हुआ है । समीक्षा को सृजनात्मक मानते हुए उन्होंने उस सृजनात्मक चेतना के निर्माण की कोशिश की जो छायावादी सौंदर्य चेतना की पहचान के लिए आवश्यक थी । उनके रस-सिद्धांत द्वारा जिसमें नैतिक, व्यावहारिक और बौद्धिक भूमियाँ सहज ही समाविष्ट हैं, प्राचीन और नवीन, प्रबंध और प्रगीत, गद्य और पद्य, स्वदेशी और विदेशी सभी प्रकार के, सभी स्तर के काव्यों की मीमांसा की जा सकती है और इसकी एक विशिष्टता यह भी है कि अपने आसपास,

आगे-पीछे, दूर-निकट सभी दिशाओं का निरीक्षण करने की क्षमता उसमें हैं । इस आधार पर एक हद तक रसवादी दृष्टि तो उनमें मानी जा सकती है, किंतु रसवादी आचार्य के नाम से वे अभिहित नहीं किए जा सकते । रस का सांगोपांग विवेचन करते हुए भी काव्य के रस और कला के सौंदर्य को वाजपेयी जी ने प्राय: एक ही भूमिका पर उपस्थित किया है । याने सौंदर्य-संवेदना का आह्लाद एवं रसास्वादजन्य आनन्द उनकी दृष्टि में भिन्न नहीं है । इसीलिए वे व्यक्तिगत अनुभूति को सामाजिक अनुभूति से प्रभावित मानते हैं, साथ ही व्यक्तिगत अनुभूति की स्वतंत्र सत्ता की भी घोषणा करते हैं । रस-मत और क्रोचे के कला-सिद्धांत को एक दूसरे के समकक्ष रखकर परखने में वे कोई हानि नहीं देखते । इस विवेचन में वे एक कलावादी के रूप में दृष्टिगत होते हैं । लेकिन कला को जीवन-सापेक्ष मानने के कारण वे कोरे कलावादी नहीं है । काव्य के प्रति उनका दृष्टिकोण भी शास्त्र-निबद्ध नहीं, स्वच्छन्द है । मानवीय पक्ष की प्रमुखता वहाँ भी देखी जा सकती है । अभिव्यंजनावाद के विवेचन में भी यही दृष्टि झलकती है । कोरी अभिव्यंजना से बढ़कर मानव-जगत् और मानव-वृत्तियों से संबद्ध काव्य को वे अभिव्यंजना से भी उच्चतर वस्तु स्थापित करते हैं । काव्योत्कर्ष की भावात्मक परीक्षा में ही वे काव्य के वास्तविक सौंदर्य के दर्शन करते हैं । इसी आधार पर सूर-काव्य को बेजोड़ माना गया है । इस कारण उन्हें अभिव्यंजनावादी भी नहीं माना जा सकता । इस प्रसंग में यही विचारणीय है कि उन्हें सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी मानना कहाँ तक संगत है ।

स्पष्ट है, वाजपेयी जी की चेतना बहुत कुछ सौष्ठववादी विचार-धारा से अनुप्राणित है । अपने को इसी दृष्टिकोण का पोषक मानते हुए सांस्कृतिक समीक्षाधारा, साहित्यिक समीक्षा आदि नाम भी वे उसे देते हैं । लेकिन सौष्ठववादी दृष्टिकोण को अपने शुद्ध रूप में वे मान्यता नहीं देते । उन्हें तो इस पद्धति का प्रमुख प्रवक्ता ही मानाजा सकता है । व्यापक मानों द्वारा इसके स्वरूप को विस्तृत बनाकर आलोचना-जगत से अराजकता की

आशंका को दूर करने के आग्रह से उन्होंने अन्य समीक्षा-पद्धतियों के सिद्धांतों को भी आत्मसात् करने का प्रयास किया है । इसी आग्रह से प्रेरित होकर उन्होंने व्यक्ति-सत्य तथा व्यापक सत्य, व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगलएवं मार्क्सवाद तथा मनोविश्लेषणवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं से अनुप्राणित आलोचना पद्धतियों को समन्वित करने की कोशिश की थी । आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जी ने उसकी तीन रेखाओं की व्याख्या की है । पहली रेखा का संबंध आलोच्य वस्तु के देश, काल एवं परिस्थितियों से है । ऐतिहासिक निरूपण की उपयोगिता की ओर ही यहाँ संकेत किया गया है । दूसरी रेखा साहित्य-वस्तु की परीक्षा और उसकी शैलियों के उद्घाटन से संबद्ध है । इसमें आलोच्य कृति अथवा कृतिकार के संपूर्ण साहित्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष का मूल्यांकन आ जाता है । तीसरी रेखा वह है जो साहित्य को अपना मान बनाने का प्रयास करती है । यह भी एक प्रकार का मूल्यांकन है । सौष्ठव का महत्व स्पष्ट करते हुए वे बताते हैं कि कला का अपना आधार तथा सौष्ठव हमेशा बना रहता है । महान कृतियों में सौंदर्य का अनुभव किया जा सकता है, यही उनका विश्वास है । ऐतिहासिक निरूपण, वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष का मूल्यांकन, वास्तविक सौंदर्य की प्राप्ति ये तीनों उनकी दृष्टि में आलोचना के आधारभूत तत्व हैं ।

नव्यतम समीक्षा-शैलियों की चर्चा में भी साहित्यिक समीक्षा-पद्धति में ही समीक्षा के मूल उद्देश्य - साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन - को पूर्ण करने की क्षमता वे देखते हैं । उनकी दृष्टि में समाजशास्त्रीय पद्धति, मनोविश्लेषणात्मक पद्धति तथा प्रभावाभिव्यंजक पद्धति अपने में पूर्ण नहीं है । वे आग्रह करते हैं कि ये सभी प्रणालियाँ एक दूसरे के अधिक निकट आ जायें और सब समीक्षा पद्धतियों के मूल्यवान तथ्यों के समन्वय द्वारा एक नूतन व्यापक समीक्षा दृष्टि निर्मित हो जाय जिसमें सभी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के सही मूल्यांकन की क्षमता रहे । साहित्य के निजी स्वरूप को

क्षति पहुँचानेवाला कोई तत्व वे स्वागतयोग्य नहीं समझते । हिन्दी समीक्षा के उद्भव से लेकर आज तक जिन-जिन महानुभावों ने अपने व्यापक अनुशीलन से, साहित्य के मूल रूप को सुरक्षित रखते हुए, भाव, भाषा और शैली में नयी चेतना, नया अर्थ एवं नयी शक्ति भर दी उनका अनुकरण ही साहित्यिक मूल्यांकन केलिए वे सहायक मानते हैं । अपनी समीक्षा-पद्धति को भी उन्होंने इसी कोटि का बताया है । साहित्य के विचारपक्ष, भावपक्ष, कलापक्ष सभी प्रकार की विवेचनाओं में उसके मूलवर्ती साहित्यिक तथ्य को वे नहीं भूलते । पश्चिमी शब्दावलियों का उपयोग किया, दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि से भी काम लिया, लेकिन उनकी मूलवर्ती भूमिका साहित्यिक ही बनी रही । अपनी समीक्षा में कवियों की विविध परिस्थितियों और जीवन-दृष्टियों को पूरी सहृदयता और तटस्थता के साथ देखने का प्रयास उन्होंने किया है । स्वयं वाजपेयी जी ने स्पष्ट किया है कि साहित्य की रूपगत, भावगत और शैलीगत स्वरूप की विवेचना करते हुए जिस नयी समीक्षा-शैली को शुक्लजी ने स्थापित किया है उसीका अधिक संशोधित एवं परिष्कृत रूप ही उनकी शैली है जो विशुद्ध साहित्यिक शैली मानी जा सकती है । उसे शुक्लधारा का ही एक नया प्रवर्तन या विकास मानना वे उचित समझते हैं । उनका सैद्धान्तिक विवेचन नए चिंतन का उदाहरण है । उनका सिद्धान्त-निरूपण प्राय: सूत्र-पद्धति से हुआ है, इसलिए उसमें इंगित अधिक है, व्याख्याएँ कम । वाजपेयी जी की यह साहित्यिक समीक्षा-शैली परिष्कृत युग-चेतना के अनुरूप प्रगतिशील दृष्टि के आधार पर निर्मित थी ।

वाजपेयी जी ने अपनी रचनाएँ अधिकतर निबन्धों के रूप में प्रस्तुत की है । निबन्धों की जब एक निश्चित संख्या हो जाती है तो उन्हें पुस्तकाकार में व्यवस्थित करते हैं । इसी ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है कि उन्हें हिन्दी का मुक्तक आलोचक कहा जा सकता है ।

अपनी आलोचना के विषय में अन्यत्र उन्होंने स्पष्ट किया है कि आलोचना को वे साहित्यके सौन्दर्य को स्पष्ट करने का साधन मानते हैं, साहित्य उन केलिए एक सांस्कृतिक उपादान है। स्वतंत्र साहित्य समीक्षा का आग्रह करते हुए उन्होंने बताया है कि स्वस्थ विचार-पद्धति, स्वस्थ मनोविज्ञान, स्वस्थ सामाजिकता तथा सुव्यवस्थित कलात्मक अभिरुचि हमारी साहित्य-समीक्षा के आवश्यक गुण हो सकते हैं। यह भी वे महसूस करते हैं कि समय और समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को पहचानने के साथ ही साहित्य की अपनी परंपरा और विशेषता का ज्ञान रखनेवाले, सामाजिक जीवन-विकास के साथ-साथ काव्य-पद्धति और काव्य-स्वरूप की अंतरंग और प्रशस्त अभिज्ञता रखनेवाले दृष्टिसंपन्न लेखकों की आवश्यकता है।

वाजपेयी जी की विवेचनाओं में ऐसे कई स्थल हैं जो उनके दृष्टिकोण की तटस्थता के परिचायक है। छायावादी कवियों का मूल्यांकन ही इसका निदर्शन है। निराला और प्रसाद को अपनी आदर्श मानते हुए भी उनकी कविताओं में जहाँ आरोपित दर्शन की प्रतीति होती है अर्थात् जहाँ कविता और दर्शन का मणिकांचन योग नहीं हो पाता, वहाँ कविता दुरूह, बोझिल एवं अनाकर्षक मानी गयी है। निराला के अतिशय दार्शनिकता प्रधान गीतों तथा "कामायनी" के अंतिम सर्गों को वे इसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं। पंत के विषय में यह शिकायत बार-बार उठायी गयी है। "पल्लव" को कवि की अतिशय कल्पना-सृष्टि मानते हुए भी "पल्लव" के बाद की रचनाओं में किसी-किसी को काव्य कहना भी वे नहीं चाहते। सदैव वाजपेयी जी इसी विचार के समर्थक रहे कि युग की विभिन्न प्रतिक्रियाओं में भी सभी प्रकार के खिंचावों अथवा प्रत्याक्रमणों का अतिक्रमण कर कविता के सहज सौन्दर्य को सुरक्षित रखने में ही बुद्धिमानी है। उनकी राय में यदि पंत अपने काव्य-सृजन में वाद को गौण महत्व देते

तो कुछ मूल्यवान उनकी लेखनी से निसृत होती । लेकिन इन मान्यताओं का मतलब कदापि यह नहीं कि पंत की कविताओं को वे पसन्द नहीं करते । सदैव वे उनके प्रिय कवि रहे और अवसर मिलने पर उनकी कविताओं के सही पहलुओं का उद्घाटन भी वे करते रहे । वैयक्तिक रुचि कभी उनके विवेचन में बाधक न रही । सारे विवेचन में पूरी तटस्थता निबाहने में उन्होंने अतिशय कुशलता प्रदर्शित की है ।

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में ही शायद वाजपेयी जी की ख्याति स्वच्छन्दतावादी समीक्षक के रूप में अधिक हुई हो । उनकी रचनाएँ ज़रूर इसकी सादी भी हैं । सौष्ठववादी दृष्टिकोण ही इसका प्रमाण है । वास्तव में वाजपेयी जी एक ऐसे समीक्षक हैं जो एक ओर स्वच्छन्दतावादियों की सी वैचारिकता, जीवन-दृष्टि, भावचेतना तथा मानवतावादी दृष्टि का आग्रह करते हैं तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति के धरातल को क्लासिकी शिल्प की सी ऊँचाइयों तक प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं । रचना में अराजक स्थिति का कभी वे आग्रह नहीं करते । स्वच्छन्दतावादी, छायावादी, सौष्ठववादी आदि नाम इसी आधार पर उन्हें मिले हैं कि हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य छायावाद के समीक्षक के रूप में समीक्षा-क्षेत्र में उनका प्रवेश हुआ । छायावाद की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने निरंतर संघर्ष किया और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता । प्रसाद के "आँसू" की मार्मिक पंक्तियाँ, निराला की "तुम और मैं", "जुही की कली" और अन्य अनेक रचनाएँ तथा "पल्लव" के बहुत-से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बनकर उनके समक्ष आए थे । उनका कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था । "गीतिका" के प्रकाशन के अवसर पर निराला की स्वच्छन्द दृष्टि का समर्थन भी उन्होंने किया था ।

हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य को उसकी समग्रता में देखकर सैद्धान्तिक, व्यावहारिक दोनों दिशाओं में अपनी प्रतिभा का प्रयोग कर वाजपेयी जी छायावाद युग के प्रतिनिधि समीक्षक बन गये । प्रसाद, निराला एवं पंत को छायावाद की बृहत्त्रयी मानकर उनके विषय में स्वतंत्र पुस्तकें भी प्रस्तुत की' । आधुनिक साहित्य की भूमिका में स्पष्ट किया गया है कि छायावादी परंपरा से अग्रसर होते हुए भी प्रसाद-निराला-पंत की सामाजिक पृष्ठभूमि पर की गई लोक-रचनाओं से महादेवी दूर होती गयी । लेकिन स्वच्छन्दतावाद के व्यापक दायरे में उन्हें भी लेना आवश्यक समझा क्योंकि वाजपेयी जी के अनुसार उसका एक पक्ष रहस्यभावना का भी है ।

इस प्रकार वाजपेयी जी की संपूर्ण समीक्षात्मक प्रवृत्तियों पर सम्यक् दृष्टि से विचार किया जाएगा तो स्पष्ट होगा कि स्वच्छन्दतावादी दृष्टि उनमें बहुत अधिक सक्रिय रही है । हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य छायावाद की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से उनका लेखन-कार्य आरंभ हुआ था तथा "धर्मयुग" में प्रकाशित उनके अंतिम निबंध में भी मौलिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का आग्रह करते समय स्वच्छन्दतावाद शब्द का ही प्रयोग किया है । जो सौंदर्य-बोध, जो प्रगतिशील दृष्टि वाजपेयी जी में है उसे स्वच्छंदतावाद में समाविष्ट कर सकते हैं क्योंकि उस शब्द की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने ही स्वीकार किया था कि स्वयं स्वच्छन्दतावाद शब्द में इतनी व्याप्ति है कि वह केवल सौंदर्यवादी या कलावादी प्रवृत्तियों को ही नहीं, युग-जीवन, व्यक्ति और समाज की नाना प्रवृत्तियों और आदर्शों को भी समाहित कर सकता है । निराला के स्वच्छन्दतावादी काव्य में भी सौन्दर्यानुभूति एवं कल्पना के साथ ही सामाजिक एवं युग-जीवन के तत्वों का गंभीर योग उन्होंने पहचान लिया था । साहित्य की नवीन रूप-रेखाओं में व्यापक सौन्दर्य चेतना की आवश्यकता की पूर्ति का ऐतिहासिक कार्य यदि छायावादी कवियों ने संपन्न किया तो समीक्षा में इस कार्य का निर्वाह वाजपेयी जी की सक्ष्म, स्वच्छन्द, सौन्दर्यान्वेषी दृष्टि द्वारा हो सका ।

लेकिन एक बात यहाँ भी उल्लेखनीय है कि पश्चिमी समीक्षा-सिद्धांत को स्वच्छन्दतापूर्वक ग्रहण करने पर भी समग्र रूप में उसे उन्होंने स्वीकृति नहीं दी है । व्यक्ति और समाज की सभी एकांगी विचार-पद्धतियों को उन्होंने अपूर्ण एवं संदोष समझा । वस्तुत: मानवतावादी चेतना अथवा मानवास्था विषयक चिंतन का क्रमिक विकास ही उनकी समीक्षा-दृष्टि में आद्यंत निहित है । छायावाद के मूल में जो मानववादी भावचेतना अस्पष्ट रूप से अंतर्निहित है, उसी को पूर्ण बनाने का प्रयास वाजपेयी जी में दृष्टव्य है । अनुभूति से सीधा संबंध होने के कारण वाजपेयी जी ने रस को काव्य का मूलभूत अंतर्वर्ती तत्व मान लिया है अनुभूति-व्यंजना को रस-निष्पत्ति मानने के आधार पर ही उन्होंने छायावादी काव्य की समीक्षा की है ।
स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही साधारणीकरण विषयक स्थापना में रस के अवयवों के स्थान पर कवि-कल्पित समस्त व्यापार का महत्व माना गया है । रस को उदात्त नैतिक चेतना से भी संबद्ध माना गया है जिसमें आदर्शों एवं रूढ़िवादी नियमों के लिए स्थान नहीं है । बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति सबको रसमय अभिव्यक्ति को ही वे महत्व देते हैं । अपनी आलोचना को अधिक प्रामाणिक स्वरूप देने के लिए उन्होंने वैयक्तिक अनुभवों को सामाजिक भाव प्रदान किया है । इसी उद्देश्य से रस-संवेदन अथवा साहित्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति केलिए कृति का वस्तु निष्ठ विवेचन, ऐतिहासिक निरूपण तथा समाज शास्त्रीय चित्रण अपेक्षित माना है । उनकी स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि उत्तरोत्तर विकास ग्रहण करती हुई इतनी परिष्कृत, समृद्ध एवं व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाती है कि मूल रूप को सुरक्षित रखते हुए ही राष्ट्रीय, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं के भी आकलन के साथ अधुनातन बौद्धिक उपलब्धियों तक को मान्यता देती हुई वह आगे बढ़ती है । पाश्चात्य संवेदनीयता से भारतीय रस-सिद्धान्त का सामंजस्य उनकी समीक्षा में हुआ है ।
"महाकवि सूरदास" के विभिन्न अध्यायों में उनकी विश्लेषण-पद्धति और व्याख्यात्मक पटुता का उत्तम निदर्शन उपलब्ध होता है । वाजपेयी जी का

वाजपेयी जी का "सूरदास" विवेचन शुक्लजी के विवेचन की अपेक्षा अधिक प्रौढ, व्यापक, गवेषणापूर्ण एवं विद्वत्ता-समन्वित है । सूरकाव्य के नैतिक एवं सौस्कृतिक पक्ष का विवेचन तथा भावपक्ष की कमनीयता का उद्घाटन सर्वाधिक सबल शब्दों में उन्होंने किया है । सभी अर्थों में सूरकाव्य को वे तुलसीकाव्य की भाँति ही उत्कृष्ट मानते हैं क्यों कि विषय के परिमित होने पर भी उसमें अनुभूति और संवेदना की तीव्रता और तन्मयता तुलसी से किसी भी रूप में कम नहीं है ।

समीक्षा-विषयकजिन सप्तसूत्री मान्यताओं का उल्लेख वाजपेयी जी ने किया है उनसे उनके विकासोन्मुख व्यक्तित्व का ही पता चलता है । रचना के भावबोध, रचयिता की परिवर्तित दृष्टि आदि के अनुसार समीक्षक के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन वे आवश्यक समझते हैं । कवि की अंतर्वृत्तियों के अंतर्गत कृति की आंतरिक सौंदर्य-चेतना, कृतिकार की अनुभूति दोनों आती हैं । इन अंतर्वृत्तियों के अनुशीलन में पूरे सामाजिक परिवेश से परिचय पाना आवश्यक हो जाता है जिसका प्रभाव कवि पर पड़ा है । दूसरे सूत्र में कृति के भावपक्ष, कलापक्ष दोनों आते हैं । मौलिकता से मतलब कवि की अनुभूति शक्ति से है तो शक्तिमत्ता अथवा कला-सौष्ठव से तात्पर्य उनकी अभिव्यंजनाशक्ति अथवा सौन्दर्य विषयक धारणा से है । अनुभूति के संप्रेषण में भाषा-शैली का जो महत्व है वह इसमें स्पष्ट किया गया है । तीसरा सूत्र याने रीतियों, शैलियों और बाह्यांगों का अध्ययन दूसरे सूत्र का स्पष्टीकरण मात्र है । कृति के आंतरिक पक्ष के अध्ययन के साथ बाह्यांगों का भी महत्व इसमें व्यक्त होता है । चौथे सूत्र में युगीन प्रभावों की पहचान पर बल दिया गया है । साहित्य और युग बोध का सम्बन्ध अर्थात् युग-बोध के बदलने के अनुसार रचना के स्वरूप में लक्षित होनेवाले परिवर्तन की ओर संकेत किया गया है । वाजपेयी जी समीक्षक की दृष्टि में कालानुरूप परिवर्तन के हिमायती हैं । जो उनकी प्रौढ, उदार मानसिकता का द्योतक है । कवि के व्यक्तित्व और रचना पर पड़नेवाले उसके प्रभाव के अध्ययन को महत्व देनेवाला पाँचवाँ सूत्र

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति से संबद्ध है । मानस विश्लेषण को यहाँ वाजपेयी जी ने पूरी व्याप्ति के साथ ग्रहण किया है । कवि के दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विचार तो सचमुच उनके व्यक्तित्व के अध्ययन के अंतर्गत आनेवाले हैं । अत: छठा सूत्र पाँचवें सूत्र का ही अधिक विकसित रूप है । सातवें सूत्र में कृति के समूचे मूल्यांकन की बात उठायी गयी है जिसके लिए लेखक का उद्देश्य, संदेश, कृति की जीवन-सापेक्षता आदि तथ्यों का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक रहता है । संक्षेप में बताया जा सकता है कि वाजपेयी जी के विचार में सच्चे, ईमानदार समीक्षक के लिए कृति से संबद्ध समस्त पहलुओं का अनुशीलन एवं आकलन अपेक्षित है जिसके अंतर्गत साहित्य एवं जीवन से अनुस्यूत सभी महत्वपूर्ण तथ्य स्थान पाते हैं । रचना के मर्म में प्रवेश कर, रचयिता की संवेदना को आत्मसात् कर, काव्य-सौन्दर्य एवं अनुभूति व्यंजना की परीक्षा कर निर्णय निकालनेवाले समीक्षक को ही वे सफल मानते हैं । साहित्य के मौलिक तत्वों के अतिरिक्त अन्य कोई आधार उन्होंने नहीं ग्रहण किया । अपनी सभी समालोचनाएँ इसी व्यापक आधार पर उन्होंने प्रस्तुत की हैं । मात्र छायावादी भावसूत्रों से आबद्ध रहनेवाले स्वच्छन्दतावादी समीक्षक न रहकर साहित्य-रूपों को पहचाननेवाले, खुले दिल से परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित होनेवाले, पुराने मूल्य, नए भावबोध दोनों से प्रभावित रहनेवाले तटस्थ, संवेदनशील कलाकार के रूप में वे नज़र आते हैं । लेकिन कहीं-कहीं समीक्षक की तटस्थ दृष्टि कुछ फिसलती-सी लगती है । रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभेच्छिनी सेविका एवं सहृदय स्वामिनी बनने में कठिनाई अनुभव करती है । प्रयोगवादी दृष्टि की अपेक्षा प्रगतिशील प्रवृत्तियों को वे अधिक श्रेष्ठ मानते थे, किंतु कविता के प्रसंगों में श्रेष्ठ कविता के उदाहरणों के रूप में प्रयोगवादी और नए कवियों की पंक्तियाँ उद्धृत करते थे । यही मानना पड़ता है कि उनकी भी सीमाएं थीं । कम से कम, वाजपेयी जी की ऐसी मान्यताएँ उस विषय में अधिक प्रौढ समीक्षाएँ प्रस्तुत करने में आगामी विचारकों के लिए सहायक रहीं, इस दृष्टि से उनका ज़रूर महत्व है ।

प्रगतिशील विचारक होने के नाते वाजपेयी जी की दृष्टि मात्र सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति में विलीन न रही, बल्कि अधिक यथार्थोन्मुख रहकर स्थूल एवं सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित करने की ओर रही है । व्यक्ति अथवा रचना के कोमल, कठोर दोनों पक्षों पर वे समान रूप से प्रकाश डालते हैं । कृति के कलात्मक आधार के साथ ही सामाजिक और सांस्कृतिक आधार को भी वे महत्त्व देते हैं । सारांश यह है कि सूक्ष्म निरीक्षण एवं विश्लेषण की क्षमता, गहरी अंतर्दृष्टि, आधुनिक युग के बौद्धिक विकास से अनुस्यूत वैज्ञानिक दृष्टि, सौंदर्य बोध, सांस्कृतिक आधार, तटस्थता, भावुकता सबके सब वाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि में विद्यमान हैं । स्वतंत्र समीक्षा-दृष्टि के प्रयोक्ता के रूप में ही वे सर्वत्र प्रकट होते हैं । स्वयं उन्होंने ही बताया है कि अपने को साहित्य-समीक्षक कहना वे अधिक पसंद करते हैं । स्वच्छन्द चिंतक वाजपेयी जी की समीक्षा निश्चय ही उनकी संवेदन-क्षमता, परिष्कृत बुद्धि एवं उदात्त नैतिक चेतना से समन्वित, सात्त्विक प्रकृति तथा अनवरत सरस्वती-साधना से अनुस्यूत साहित्य-विवेक की उपज है जिसने मानवतावादी प्रतिमानों को ग्रहण कर, सौंदर्य की मार्मिक अनुभूतियों का विश्लेषण किया । निस्सन्देह वे साहित्य में साहित्यिक मूल्यों के हिमायती हैं ।

हिन्दी के प्रमुख समीक्षकों में आचार्य वाजपेयी का स्थान

आचार्य वाजपेयी क्रियात्मक और रचनात्मक साहित्यकार हैं । एक समीक्षक के तौर पर उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता इस बात में है कि उन्होंने साहित्य के विशुद्ध मानदण्ड को मान्यता देकर उसी का आधार ग्रहण किया और इस प्रकार समालोचना के साहित्यिक मूल्यों को समृद्ध बनाया । अपनी उच्च कोटि की सौंदर्य-संवेदना, पुष्ट सामाजिक चेतना एवं समृद्ध साहित्यिक संस्कार द्वारा वे साहित्य के उत्थान एवं उत्कर्ष में सजीव योग प्रदान करते रहे । विकासशील जीवन के साथ बदलनेवाले साहित्य के मूल्यांकन की

समस्या का समाधान सफलतापूर्वक उन्होंने ढूँढ निकाला । पूरी सहृदयता से तटस्थ होकर जिस अध्यवसाय एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि से उन्होंने आधुनिक साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया वह आगामी आलोचकों के लिए भी मार्ग दर्शक रहा । उन्होंने ही सबसे पहले पश्चिमी साहित्य के विभिन्न संप्रदायों और वादों का समुचित परिज्ञान प्राप्त कर सौन्दर्यपरक एवं कलात्मक दृष्टि से उनका महत्व प्रोक्षित कर हिन्दी-जगत् को उनके वास्तविक स्वरूप से अवगत कराया ।

अपने देश की विपुल साहित्यिक संपत्ति पर गौरव का अनुभव करनेवाले सहृदय की संयत्, संतुलित दृष्टि वाजपेयी जी में लक्षित होती है । असामाजिकता, एकांगिता या वैचारिक असंतुलन उनकी समीक्षा-दृष्टि में नहीं है वह स्वस्थ एवं स्वच्छन्द होने के साथ ही पुष्ट एवं प्रखर भी है जिसके द्वारा प्रगीत काव्य की विशेषताओं का स्पष्टीकरण हुआ, संत काव्य का सांस्कृतिक महत्व सिद्ध हुआ, छायावाद के प्रति हुए विरोध का निराकरण हुआ तथा नए सांस्कृतिक उत्थान के रूप में अन्य आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का भी मूल्यांकन हुआ । समन्वयात्मकता से बढ़कर उनके युग-बोध में आधुनिकता अधिक झलकती है । युग-बोध से परिचालित होते हुए भी युग की विकृतियों से वे दूर रहे, युगीन संकीर्णताओं से ऊपर उठे । ऐतिहासिक सांस्कृतिक बोध के साथ युगीन संवेदना और अभिव्यक्ति को पहचानकर रचनाकार के मनोभाव से निकटता प्राप्त कर कृति के भीतर अपने प्रतिमान प्राप्त करने में उन्हें कभी कठिनाई नहीं महसूस हुई । परिवर्तित परिस्थितियों, दुर्जय चुनौतियों एवं बदलते जीवन मूल्यों से गुज़रकर, सामयिक सन्दर्भों से भी जुड़े रहकर, सभी प्रकार के साहित्यिक पूर्वग्रहों से असंपृक्त रहकर, पूरे खुलेपन के साथ नये प्रतिमानों के निर्धारण, ग्रहण एवं प्रयोग में वाजपेयी जी की सृजनात्मक प्रतिभा समर्थ हुई । युग-दृष्टि को समझने, सुलझने व संवारने में सक्रिय सहयोग देकर उन्होंने हिन्दी-समीक्षा में संवेदनशील सात्विकता एवं प्रौढ़ता भर दी,

उसे चिंतनशील एवं गंभीर बनाया जिससे साहित्य-संसार चमत्कृत हो उठा। उनकी चिंतन सरणि में रसवाद, कलावाद, सौष्ठववाद, स्वच्छन्दतावाद, नवोत्थानवाद सभी प्रवृत्तियों से संबद्ध महत्वपूर्ण, साहित्यिक मूल्य-समन्वित तथ्य स्थान पाते हैं। अनादि काल से आज तक अक्षुण्ण रहकर अग्रसर होने वाली रस-परंपरा को वाजपेयी जी ने राष्ट्रीय भूमि की वस्तु बनाकर उसे सर्वाधिक व्यापक बनाया। साहित्यशास्त्रीय, पूर्व निर्धारित मान्यताओं की अपेक्षा रचनाकार की अंत:प्रेरणा के अनुशीलन में रुचि रखकर उन्होंने आलोचना में नवजागरण की शंखध्वनि बजायी और इस प्रकार पूर्ण रूप से युग-निर्माता समीक्षक के रूप में समादृत हुए। कवि की भावात्मकता और संवेदनशीलता के साथ कलाकार की सौंदर्यान्वेषी दृष्टि के मंजुल सामंजस्य ने उनके व्यक्तित्व को एकसाथ सौम्य, आकर्षक और गंभीर बनाया है। उस संश्लिष्ट व्यक्तित्व में मनन-विश्लेषण आलोचना और अनुशीलन तथा उद्भावना एवं निर्माण की रचनात्मक प्रतिभा निहित थी। उनका जीवन इसका साक्षी है, उनकी उपलब्धियाँ इसकी प्रमाण हैं। सोलह आने वे साहित्यिक-व्यक्तित्व संपन्न हैं।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

संदर्भ ग्रन्थ - सूची

सन्दर्भ ग्रंथ - सूची

आचार्य वाजपेयी की रचनाएँ

मौलिक रचनाएँ

1.	आधुनिक काव्य; रचना और विचार	साथी प्रकाशन, सागर, 1961
2.	आधुनिक साहित्य	भारती भंडार, इलाहाबाद, संवत् 2022
3.	आधुनिक साहित्य सृजन और समीक्षा	दि मैकमिलन कंपनी आफ इण्डिया लिमिटेड, 1978
4.	कवि निराला	वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, 1965
5.	कवि सुमित्रानंदन पंत	दि मैकमिलन कंपनी आफ इण्डिया लिमिटेड, 1976
6.	जयशंकर प्रसाद	भारती भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, संवत् 2023
7.	नया साहित्य : नए प्रश्न	विद्यामंदिर, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1959
8.	नयी कविता	दि मैकमिलन कंपनी आॅफ इण्डिया लिमिटेड, 1976

9.	प्रकीर्णिका	अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, 1965
10.	प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन	हिन्दी भवन, जालन्धर
11.	महाकवि सूरदास	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1956
12.	रस सिद्धांत : नए सन्दर्भ	दि मैकमिलन कंपनी आफ इण्डिया लिमिटेड, 1977
13.	राष्ट्रभाषा की कुछ समस्यायें	राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली, 1962
14.	राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध	विद्या मंदिर, वाराणसी, 1965
15.	रीति और शैली	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1979
16.	हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1979
17.	हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	साथी प्रकाशन, सागर, 1968
18.	हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	लोकभारती, इलाहाबाद, 1970

संपादित रचनाएँ

19.	रामचरितमानस	गीता प्रेस, गोरखपुर
20.	सूरसागर	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

संग्रह

21.	निबन्ध-निचय	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
22.	साहित्य - सुषमा	
23.	सूर-सन्दर्भ	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1951
24.	सूर-सुषमा	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
25.	सूर-सन्दर्भ	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1951

25. हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ — विद्या मंदिर, वाराणसी

अन्य आलोचनात्मक ग्रन्थ (हिन्दी)

26. अज्ञेय की कविता : एक मूल्यांकन — चन्द्रकांत महादेव बांदिवडेकर
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1971

27. अध्ययन - [illegible] — भागीरथ मिश्र
लखनऊ विश्वविद्यालय, संवत् 2008

28. अशोक के फूल — आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली,
1948

29. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : एक अध्ययन - कुमारी प्रतिभा विल्यम्स
प्रतिमा प्रकाशन, जबलपुर, 1953

30. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य - (सं) डॉ. रामधारशर्मा
अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, 1965

31. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — शिवनाथ
सरस्वती मंदिर, बनारस,
संवत् 2008

32. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना - रामविलास शर्मा
पुस्तक मंदिर, आगरा, संवत् 2012

33· आचार्य शुक्ल-विचारकोश — अनितकुमार
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली, 1971

34· आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य
डॉ· गणपतिचंद्रगुप्त

35· आधुनिकता और आधुनिकीकरण — रमेश कुंतलमेघ
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1969

36· आधुनिक समीक्षा : कुछ समस्यायें — डॉ, देवराज
राजकमल, दिल्ली, 1954

37· आधुनिक साहित्य और साहित्यकार — डॉ· गणपतिचंद्र गुप्त
भारतेंदु भवन, चण्डीगढ, 1966

38· आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ — नामवरसिंह
लोक भारती, इलाहाबाद, 1971

39, आधुनिक हिन्दी आलोचना — हरिमोहन मिश्र
ग्रंथ भारती, कानपुर, 1967

40· आधुनिक हिन्दी आलोचना : एक अध्ययन - मानलाल शर्मा
साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1968

41· आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डॉ· नगेन्द्र
गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1951

42· आधुनिक हिन्दी काव्य — डॉ· राजेन्द्र मिश्र

43. आधुनिक हिन्दी गद्य-शैली का विकास डॉ. श्यामवर्मा
ग्रंथम, कानपुर, 1971

44. आधुनिक हिन्दी समीक्षा : प्रकीर्णक से पद्धति तक - यदुनाथसिंह
आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, 1980

45. आधुनिक हिन्दी साहित्य लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय,
1941

46. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास - डॉ. वेंकट शर्मा
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1962

47. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास - राजकिशोर कक्कड
एस.चन्द एण्ड कंपनी, नई दिल्ली, 1968

48. आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि - डॉ. रामदरश मिश्र
अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, 1975

49. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय विद्यानिवास मिश्र
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1981

50. आलोचक और आलोचना बच्चनसिंह
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,
1970

51. आलोचक की आस्था डॉ. नगेन्द्र
नाशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 196

52. आलोचक रामचंद्र शुक्ल — विजयेंद्र स्नातक और गुलाबराय
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1962.

53. आलोचक रामचंद्र शुक्ल — डॉ. नगेन्द्र

54. आलोचना : इतिहास एवं सिद्धांत — डॉ. हरीशचंद्र जायसवाल
वीना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977

55. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत — एस.पी. खत्री
राजकमल, दिल्ली ।

56. आलोचना और आलोचक — मोहनलाल और सुरेशचन्द्र गुप्त

57. आलोचना और आलोचना — देवीशंकर अवस्थी
प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर, 1961

58. आलोचना और आलोचना (कृति की राह से) — इन्द्रनाथ मदान
लोकभारती, इलाहाबाद, 1971

59. आलोचना और साहित्य — इन्द्र नाथ मदान
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1964

60. आलोचना की रचना-यात्रा — धनंजय वर्मा
विद्याप्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली, 1981

61. आलोचना के नए मान — कर्णसिंह चौहान
दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया
लिमिटेड, 1978

62. आलोचना के प्रगतिशील आयाम — शिवकुमार मिश्र
पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987

53. आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य - डॉ.शिवकरण सिंह
किताब महल, इलाहाबाद, 1967

54. आलोचना के सिद्धांत — शिवदानसिंह चौहान
राजकमल, दिल्ली, 1960

55. आलोचनादर्श — रामशंकर शुक्ल
इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद

56. इतिहास और आलोचना — नामवरसिंह
नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद
1962

57. कबीर — हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय,
बंबई, 1942

58. कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ - विनयमोहन शर्मा
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,
1966

59. कहानीकार प्रेमचंद — डॉ. कुमारी नूरजहाँ
हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ,
1975

60. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध — जयशंकर प्रसाद
भारती भंडार, प्रयाग, संवत् 2012

71. काव्य चिंतन — नगेन्द्र
नव भारती प्रकाशन, मेरठ, 1951

72. काव्य में रहस्यवाद — रामचंद्र शुक्ल
साहित्य भूषण कार्यालय, काशी,
संवत् 1986

73. काव्य में शैली और कौशल — सीताराम चतुर्वेदी
हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी

74. कुछ चंदन की: कुछ कपूर की — विष्णुकांत शास्त्री
हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, H
1973

75. क्षणदा — महादेवी वर्मा
भारती भंडार, इलाहाबाद, सं.201

76. गद्य-पथ — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, 195

77. गोस्वामी तुलसीदास — श्यामसुन्दरदास
हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, 1931

78. गोस्वामी तुलसीदास — रामचंद्र शुक्ल
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी,
संवत् 2014

79. चयन — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
बिहार ग्रंथमाला कुटीर, पटना, सं.201

80· चाबुक — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
कलामंदिर, प्रयाग

81· चिंतामणि भाग 1 — रामचंद्र शुक्ल
इण्डियन प्रेस लिमिटेड, 1948

82· चिंतामणि भाग 2 — रामचंद्र शुक्ल
सरस्वती मंदिर, काशी, संवत् 2010

83· छायावाद — नामवरसिंह
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1955

84· छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन — राजकमल, दिल्ली, 1970
कुमार विमल

85· छायावाद युग : — शंभूनाथ सिंह
सरस्वती मंदिर, बनारस, 1952

86· जायसी ग्रंथावली की भूमिका — रामचंद्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,
संवत् 2003

87· ज्योति विहग — शांतिप्रिय द्विवेदी
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग,
संवत् 2008

88· तीसरा सप्तक — (सं·) अज्ञेय
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1967

· नंददुलारे वाजपेयी — प्रेमशंकर
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1983

· नयी कविता के प्रतिमान — लक्ष्मीकांत वर्मा
भारतीय प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1957

· नयी कविता स्वरूप और संभावनाएँ — जगदीश गुप्त
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1969

· नयी समीक्षा के प्रतिमान — (सं॰) निर्मला जैन
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977

· नयी समीक्षा : नए सन्दर्भ — डॉ॰ नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1970

· नये प्रतिमान : पुराने निकष — लक्ष्मीकांत वर्मा
भारतीय ज्ञानपीठ, 1966

· नव्य हिन्दी समीक्षा — कृष्णवल्लभ जोशी
ग्रंथम, कानपुर, 1966

, निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल — कृष्णदेव झारी
साहित्यिक प्रकाशन, अंबाला छावनी, 1958

· निराला — रामविलास शर्मा
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी लिमिटेड, आगरा, 1962

98· निराला काव्य : पुनर्मूल्यांकन — धनंजय वर्मा
विद्याप्रकाशन मंदिर, दिल्ली, 1973

99· निराला की साहित्य-साधना तृतीय खंड - रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976

00· पंत का काव्यशिल्प — डॉ· शिवपाल सिंह
साहित्य रत्नालय, कानपुर, 1987

01· पंत जी और पल्लव — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, 1949

102· पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत — लीलाधर गुप्त
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1952

103· प्रगतिवाद — शिवकुमार मिश्र
राजकमल, दिल्ली, 1966

104· प्रतिक्रियाएँ — डॉ· देवराज
राजकमल, दिल्ली, 1966

105· प्रबन्ध-पद्म — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
गंगापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, संवत् 1991

106· प्रबन्ध प्रतिमा — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
भारती भंडार, इलाहाबाद, 1970

07· प्रसाद का काव्य — प्रेमशंकर
भारती भंडार, इलाहाबाद, 1970

08· प्रसाद के नाटक: सर्जनात्मक धरातल और भविष्य चेतना - गोविंद चातक — आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

09· प्रेमचंद और उनकी रंगभूमि — शांतिस्वरूप गुप्त
रीगल बुक डिपो, दिल्ली

10· प्रेमचंद की विरासत — राजेंद्र यादव
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1978

11· बदलते परिप्रेक्ष्य — नेमिचंद्र जैन
राजकमल, दिल्ली, 1968

12· बृहत् साहित्यिक निबन्ध — डॉ· शांतिस्वरूप गुप्त और रामसागर त्रिपाठी
अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1972

13· भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचना : नव आकलन - डॉ·गोपीवल्लभ नेमा
भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, 1982

14· भारतेंदु हरिश्चन्द्र — (सं·) ब्रजरत्नदास
हिन्दुस्तानी एकेदमी, प्रयाग, 1948

15· महादेवी का विवेचनात्मक गद्य — गंगाप्रसाद पाण्डेय
इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1944

6· महादेवी की कविता:संशय और समाधान - व्रजलाल गोस्वामी
भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1971

7· महादेवी की रहस्यसाधना — विश्वंभर मानव
लोकभारती, इलाहाबाद, 1969

8· महाप्राण निराला — गंगा प्रसाद पाण्डेय
साहित्यकार संसंद, प्रयाग
संवत् 2006

9· युग और साहित्य — शांतिप्रिय द्विवेदी
इण्डियन प्रेस, प्रयाग, 1941

0· युगद्रष्टा प्रेमचंद — ललित शुक्ल
कादंबरी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983

1 रचना और आलोचना — कमलाकांत पाठक
कमल प्रकाशन, उज्जैन, 1968

2· रचना और आलोचना — देवी शंकर अवस्थी
दि मैकमिलन, दिल्ली, 1979

3· रवीन्द्र कविता - कानन — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
हिन्दी पुस्तक, बनारस, 1954

4· रस पद्धति — नामवर सिंह
अर्चना प्रकाशन, आगरा

5· रस-मीमांसा — (सं·) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

126. रस सिद्धांत — डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1964

127. विचार और अनुभूति — डॉ. नगेंद्र, प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, संवत् 1991

128. विचार और वितर्क — हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1969

129. विचार और विवेचन — डॉ नगेंद्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1949

130. विचार और विश्लेषण — डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1966

131. विचार-प्रवाह — हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी-ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, 1963

132. शृंखलोत्तर समीक्षा — वासुदेव नंदन प्रसाद, अनुपम प्रकाशन, 1978

133. शैली — करुणापति त्रिपाठी, साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी

134. समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती — बच्चनसिंह, हिन्दी प्रचारक प्रकाशन, वाराणसी,

135.	समीक्षा के नए प्रतिमान	सुवीर सिंह तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, 1977
136.	समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ	- प्रताप नारायण टंडन विवेक प्रकाशन, लखनऊ, 1965
137.	समीक्षा शास्त्र	दशरथ ओझा राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, संवत् 2010
138.	सामयिकी	शांतिप्रिय द्विवेदी ज्ञानमंडल लिमिटेड, काशी, संवत् 2001
139.	साहित्य का साथी	हज़ारी प्रसाद द्विवेदी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, 1949
140.	साहित्य का मर्म	हज़ारीप्रसाद द्विवेदी विश्वविद्यालय, लखनऊ, 1952
41.	साहित्य-शैली के सिद्धांत	डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1971
42.	साहित्य समालोचना	डॉ. रामकुमार वर्मा साहित्य मंदिर, प्रयाग, संवत् 1987
	[illegible]	[illegible]

144· साहित्य सर्जना — इलाचन्द्र जोशी
छात्र हितकारी पुस्तकमाला,
प्रयाग, 1940

145· साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन - रामविलास शर्मा
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1968

146· साहित्यालोचन — श्यामसुन्दर दास
दण्डियन प्रेस, प्रयाग संवत् 2029

147· सिद्धांत और अध्ययन — गुलाबराय
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली,
1965

148· सुमित्रानन्दन पंत — डॉ· नगेंद्र
साहित्य रत्न भंडार, आगरा,
संवत् 1995

149· सुमित्रानन्दन पंत : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ· रामजी पाण्डेय
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,
1982

150· सूरदास — रामचंद्र शुक्ल
सरस्वती मंदिर,
काशी ।

151· सूरदास — ब्रजेश्वर वर्मा
नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1969

152. सूरसागर - सार — धीरेन्द्र वर्मा
साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1970

153. सूर-साहित्य — हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर,
संवत् 1993

154. सृजन के आयाम — ज्वालाप्रसाद खेतान

155. हमारी साहित्यिक समस्यायें — हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
हरेंद्र प्रकाशन, भागलपुर, 1944

156. हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास- डॉ. भगवत् स्वरूप मिश्र
साहित्य सदन, देहरादून, 1972

157. हिन्दी आलोचना का विकास — नंदकिशोर नवल
राजकमल, नई दिल्ली, 1981

158. हिन्दी आलोचना के आधार-स्तंभ — श्याम मिश्र
अशोक प्रकाशन, 1970

159. हिन्दी आलोचना पहचान और परख — इन्द्रनाथ मदान
लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1977

160. हिन्दी आलोचना : सिद्धांत और विवेचन - [सं.] महेन्द्र,
माखनलाल शर्मा,
साहित्य रत्न भंडार, आगरा, 1962

161. हिन्दी का सामयिक साहित्य — विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
सरस्वती मंदिर, काशी, संवत् 2002

162. हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा — डॉ. रामाधार शर्मा
अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, 1962

163. हिन्दी के आलोचक — शचीरानी गुर्टू
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1955

164. हिन्दी के विशिष्ट आलोचक — डॉ. नंदकुमार राय
वसुमती, इलाहाबाद, 1969

165. हिन्दी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन - पुस्तक संस्थान, कानपुर, 1973
डॉ. मु.व. शंहा

66. हिन्दी समीक्षा : सीमाएँ और संभावनाएँ - रामविनोद सिंह
अनुपम प्रकाशन, पटना, 1981

167. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप एवं संदर्भ — रामदरश मिश्र
दि मैकमिलन कंपनी आफ इण्डिया लिमिटेड, 1974

168. हिन्दी साहित्य — हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
अत्तरचंद कपूर एण्ड संस, दिल्ली, 1952

69. हिन्दी साहित्य : प्रमुखवाद एवं प्रवृत्तियाँ - डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त
लोकभारती, इलाहाबाद, 1971

70. हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचंद्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,
संवत् 2009

हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	शिवदानसिंह चौहान राजकमल, दिल्ली, 1961
हिन्दी साहित्य में हास्य रस	डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1963

काव्य-संकलन

गीतिका	सूर्यकांत त्रिपाठी निराला भारती भण्डार, इलाहाबाद
ज्योत्स्ना	सुमित्रानंदन पंत भारती भंडार, इलाहाबाद
बुनी हुई रस्सी	भवानी प्रसाद मिश्र सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971

उपन्यास

कंकाल	जयशंकर प्रसाद भारती भंडार, इलाहाबाद, संवत् 2022

नाटक

स्कंदगुप्त	जयशंकर प्रसाद प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, संवत् 1993

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ

काव्य-प्रकाश	मम्मट झलकीकर द्वारा व्याख्यात, 1921
काव्यादर्श	[illegible]

आलोचनात्मक ग्रंथ (अंग्रेज़ी)

1. Aesthetic — Benedetto Croce, 2nd Edition, Mac millan, London, 1922.

2. A History of modern Criticism The Romantic Age — Rene'Wellek, Jonathan Cape, London, 1955

3. An introduction to the principles of Criticism — Abercrombie

4. An introduction to the study of Literature — W.H. Hudson

5. Collected essays in Literary criticism — Herbert Reed

6. Essays in criticism — Mathew Arnold, Macmillan & Co., London, 1951

7. Practical Criticism — I.A. Richards, Routledge and Kegan Paul, London, 1929

8. Ptinciples of Literary Criticism — I.A Richards. Routledge and Kegan Paul, London, 1924

9. Problem of style — Middleton Murrey, Oxford University Press, London, 1961

10. Twentieth Century Literature — A.C. Ward.

पत्र - पत्रिकाएँ

1. आजकल
2. आलोचना
3. धर्म युग
4. भारत
5. माधुरी
6. विशाल भारत
7. संकेतना
8. समन्वय

--0--